दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

स्व–शिक्षण सामग्री
एम. ए. हिन्दी
2025

सत्रक–प्रथम इकाई–एक से चार तक	हिन्दी साहित्य का इतिहास (रीतिकाल तक) कोर्स क्रेडिट – 6	कोर्स कोडः **HIN-102** अध्याय संख्याः 1 से 21

प्रो. अंजु शर्मा
समन्वयक, एम.ए. हिन्दी

डॉ. पूजा शर्मा
प्रभारी शिक्षक, एम.ए. हिन्दी

इस स्व–शिक्षण सामग्री का रचना स्वत्व/प्रकाशनाधिकार दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू–180006 के पास सुरक्षित है।

http:/www.distanceeducation.in

Printed and published on behalf of the Centre for Distance & Online Education, University of Jammu, Jammu by the Director, CDOE, University of Jammu, Jammu

अध्याय लेखक

- **डॉ. बाबू राम**
  प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
  कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
  (पाठ संख्या 1-4)

- **प्रों अंजु शर्मा**
  प्रोफेसर
  दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र
  जम्मू विश्वविद्यालय
  (पाठ संख्या 7)

- **डॉ. ओम प्रकाश द्विवेदी**
  सह आचार्य
  हिन्दी विभाग
  जम्मू विश्वविद्यालय
  (पाठ संख्या–5,6,8,9,10,11)

- **डॉ. राज जम्वाल**
  सहायक आचार्य
  हिन्दी विभाग
  राजकीय महाविद्यालय, आर.एस पुरा

  पाठ संख्या 12 – 21

कार्यक्रम समन्वयक
प्रो. अंजू शर्मा
दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

प्रभारी शिक्षक
डॉ. पूजा शर्मा
दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

प्रो. अंजू शर्मा
सामग्री समीक्षा, सम्पादन एवं मुद्रित शोधन
प्रो. अंजु शर्मा
कार्यक्रम समन्वयक

* All rights reserve. No Part of this work may be reproduced in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from the CDOE, University of Jammu.
* The Script writer shall be responsible for the lesson / script submitted to the CDOE and any plagiarism shall be his/her entire responsbility.

संदेश

पहले सत्रक में आपका स्वागत है !

एम.ए हिंदी के पहले सत्रक में आपका स्वागत करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। एम.ए हिंदी कोर्स के लिए नामांकन करने के उपरांत आपकी यात्रा हमारे साथ प्रारंभ होती है। एम.ए हिंदी में अच्छे अंक लाने के लिए कड़ी मेहनत करें और आंतरिक मूल्यांकन अर्थात असाइनमेंट तैयार करने के लिए थोड़ा अतिरिक्त प्रयास करें। असाइनमेंट बनाते हुए यह ध्यान में रखे कि यह अंक आपके हाथ में हैं जितनी मेहनत बाहरी परीक्षा के लिए करनी है उतनी ही मेहनत आंतरिक मूल्यांकन अर्थात असाइनमेंट बनाने में करें।

आपको सलाह दी जाती है कि आप नियमित रूप से दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केंद्र की लाइब्रेरी जाएँ और नोट्स बनाने के लिए उपलब्ध पुस्तकों का अधिक से अधिक अध्ययन करें। आप अपनी NET/JRF/SET/SLET या हिंदी से संबधित किसी भी प्रतियोगी परीक्षा के लिए भी एक साथ तैयारी कर सकते हैं और कोर्स कोड HIN-102 की अध्ययन सामग्री आपके पाठ्यक्रम और NET/SET परीक्षा की तैयारी को ध्यान में रखते हुए तैयार की गई है। कड़ी मेहनत करें।

शुभकामना सहित

प्रोफेसर अंजू शर्मा

पाठयक्रम समन्वयक

Syllabus of Master Degree Programme in Hindi under Non CBCS

Semester- 1st

Course Code: HIN-102 | **Title: Hindi Sahitya Ka Itihas (upto Reetikaal)**

Credits: 6 | **Maximum Marks: 100**

Duration of Examination: 3 Hrs. | **a) Internal = 30**

b) External = 70

Syllabus for the Examination to be held in Dec. 2025, 2026 & 2027

हिंदी साहित्य का इतिहास (रीतिकाल तक)

इकाई–एक

इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास।

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा ।

साहित्येतिहास पुनर्लेखन की समस्या ।

हिन्दी साहित्य का इतिहासः कालविभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण।

इकाई–दो

आदिकाल का काल–विभाजन और नामकरण।

आदिकालः परिस्थितियाँ।

आदिकालः प्रवृत्तियाँ।

आदिकालीन साहित्यःसिद्ध, नाथ, जैन, रासो काव्य का सामान्य परिचय।

इकाई–तीन

भक्तिकालः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं सांस्कृतिक चेतना।

भक्तिकाल की विविध धाराएँः निर्गुण और सगुण काव्य धारा

निर्गुणकाव्यः ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी काव्य धारा की विशेषताएँ एवं प्रमुख कवि (कबीर, जायसी)। सगुण काव्यः कृष्ण और रामकाव्य धारा की विशेषताएँ एवं प्रमुख कवि (सूरदास और तुलसीदास)।

इकाई–चार

रीतिकालः ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि।

रीतिकालः नामकरण।

रीतिकालः प्रवृत्तियाँ।

रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएँः प्रवृत्तियाँ एवं प्रमुख कवि (केशवदास, बिहारी, घनानंद)।

Syllabus of Master Degree Programme in Hindi under Non CBCS

Semester- 1st

Course Code: HIN-102 | **Title: Hindi Sahitya Ka Itihas (upto Reetikaal)**

Credits: 6 | **Maximum Marks: 100**

Duration of Examination: 3 Hrs. | **a) Internal = 30**

b) External = 70

Syllabus for the Examination to be held in Dec. 2025, 2026 & 2027

प्रश्न पत्र का प्रारूप

कोर्स कोड HIN-102 के प्रश्नपत्र का प्रारूप इस प्रकार होगा

आंतरिक मूल्यांकन **कुल अंक : 30**

(Internal Assessment Assignment)

(क)	शत–प्रतिशत विकल्प के साथ एक दीर्घ उत्तरापेक्षी प्रश्न।	10 x 1 = 10
(ख)	शत–प्रतिशत विकल्प के साथ दो लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न।	5 x 2 = 10
(ग)	विकल्प रहित चार अति लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न।	2½ x 4 = 10

मुख्य परीक्षा (External Exam) **कुल अंक : 70**

समय : तीन घण्टा

(क)	प्रत्येक इकाई में से शत–प्रतिशत विकल्प के साथ एक–एक दीर्घ उत्तरापेक्षी प्रश्न पूछा जाएगा।	12 x 4 = 48
(ख)	प्रत्येक इकाई में से शत–प्रतिशत विकल्प के साथ एक–एक लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न पूछा जाएगा।	4 x 4 = 16
(ग)	सम्पूर्ण पाठ्यक्रम पर आधारित छः वस्तुनिष्ठ विकल्प रहित प्रश्न पूछे जायेंगे।	1 x 6 = 6

संस्तुत पुस्तकें

हिन्दी साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास–हजारीप्रसाद द्विवेदी।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास–रामकुमार वर्मा।

हिन्दी साहित्य का इतिहास–डॉ. नगेन्द्र।

हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास–डॉ. बच्चनसिंह।

हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास–गणपतिचन्द्र गुप्त।

साहित्यिक निबन्ध–गणपतिचन्द्र गुप्त।

विषय सूची

संख्या	अध्याय शीर्षक	पृष्ठ संख्या
1	इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास	1–9
2.	हिन्दी साहित्य के इतिहास–लेखन की परम्परा	10–19
3.	साहित्येतिहासः पुनर्लेखन की समस्या	20–33
4.	हिन्दी साहित्य का इतिहासः काल–विभाजन, सीमा–निर्धारण और नामकरण	34–45
5.	आदिकाल का नामकरण	46–51
6.	आदिकाल की पृष्ठभूमि परिस्थितियाँ	52–59
7.	आदिकाल का काल विभाजन	60–66
8	आदिकाल की प्रवृत्तियाँ	67–76
9.	आदिकालीन हिन्दी का सिद्ध और नाथ साहित्य	77–92
10.	आदिकाल का रासो काव्य	93–103
11.	आदिकाल का जैन साहित्य	104–112
12.	भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक चेतना एवं भक्ति आंदोलन	113–131
13.	निर्गुण काव्य की विशेषताएँ	132–138
14.	ज्ञानमार्गी शाखा अथवा सन्त काव्य की विशेषताएँ एवं प्रमुख कवियों का योगदान	139–156
15.	प्रेममार्गी शाखा अथवा सूफी काव्य की विशेषताएँ एवं प्रमुख कवियों का योगदान	157–169
16.	सगुण काव्य की विशेषताएँ	170–176
17.	रामकाव्य की विशेषताएँ एवं प्रमुख कवियों का योगदान	177–188
18.	कृष्ण काव्य की विशेषताएँ एवं प्रमुख कवियों का योगदान	189–204
19.	रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	205–217
20.	रीतिकाल का नामकरण	218–225
21.	रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएं रीतिबद्ध, रीति सिद्ध और रीतिमुक्त	226–247

इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास

रूपरेखा

1.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
1.2. प्रस्तावना
1.3. इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास
1.3.1. इतिहास का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप
1.3.1.1. इतिहास दर्शन
1.3.1.2. भारतीय दृष्टिकोण
1.3.1.3. पाश्चात्य दृष्टिकोण
1.3.1.4. स्व–मूल्यांकन
1.3.2. साहित्येतिहास की परिभाषा और स्वरूप
1.3.2.1. स्व–मूल्यांकन
1.3.3. साहित्येतिहास दर्शन के प्रमुख तत्त्व
1.3.3.1. प्राकृतिक सृजन शक्ति
1.3.3.2. परंपरा
1.3.3.3. स्व–मूल्यांकन
1.4. निष्कर्ष
1.5. कठिन शब्द
1.6. अभ्यासार्थ प्रश्न
1.7. उत्तर कुंजी
1.8. पठनीय पुस्तकें

1.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणामः

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको–

- इतिहास को समझना।
- दर्शन से परिचित करवाना।
- इतिहास दर्शन की जानकारी देना।
- हिन्दी साहित्येतिहास का ज्ञान देना।

इस अध्याय का विस्तृत से अध्ययन करने के उपरान्त आप हिन्दी इतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्येतिहास को पूर्ण रूप से समझने में सक्षम होंगे।

1.2. प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थी! जैसा कि आप सुपरिचित हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन इतिहासकारों ने प्रमुखतयः चार कालों में किया है– आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल। प्रस्तुत अध्याय में इतिहास दर्शन का विवेचन करके हिन्दी साहित्येतिहास का वर्णन प्रस्तुत है।

1.3. इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास

1.3.1. इतिहास का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

'इतिहास' शब्द संस्कृत के 'इति'+'ह'+'आस' शब्दों के मेल से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है– 'ऐसा ही था' या ऐसा ही हुआ। इस व्युत्पत्तिगत अर्थ से दो बातें उभरकर सामने आती हैं – 1. इतिहास का संबंध अतीत से है। 2. इतिहास का सम्बंध यथार्थ घटनाओं से है। इस प्रकार अतीत की घटनाओं के काल क्रम में संयोजित इतिवृत्त को इतिहास कहा जाता है, परन्तु अतीत में तो असंख्य यथार्थ घटनाएँ घटित हो चुकी हैं। उन सब को इतिहास में समाविष्ट कर पाना इतिहासकार के वश की बात नहीं है। इसीलिए इतिहासकार अपनी रूचि अनुसार उनमें से कुछ घटनाओं को चुनकर अपनी दृष्टि से उन्हें प्रस्तुत करता है। भारतीय संस्कृति में सामयिक तत्वों की अपेक्षा शाश्वत तत्वों का अधिक महत्त्व रहा है। यही कारण है कि भारत में प्राचीन काल में पुराण–लेखन परंपरा मिलती है। भारतीय इतिहास के पाश्चात्य इतिहासकार 'पार्जिटर' ने भी यह स्वीकार किया है कि पुराण आदि ग्रन्थों में परंपरा–प्राप्त विपुल इतिहास सामग्री संकलित है। वे पुराणों को इतिहास–ग्रन्थ नहीं अपितु उनमें इतिहास के अंश तो अवश्य ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि 'पार्जिटर' और 'मैकडानेल' के सिद्धान्त कि भारतीयों ने इतिहास ग्रन्थ नहीं लिखे हैं के खण्डन के लिए 'कल्हण' की 'राजतरंगिणी' ही पर्याप्त है।

इतिहास में इतिहासकार के व्यक्तित्व का प्रभाव किसी–न–किसी रूप में पड़ ही जाता है, लेकिन यह भी सत्य है कि इतिहासकार इतिहास का निर्माता नहीं, बल्कि उसका प्रस्तोता होता है। वह इतिहास की मनमानी व्याख्या नहीं कर सकता। उसे अपने दृष्टिकोण को ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर प्रमाणित करना होता है। इसीलिए तटस्थता और निस्संगता किसी भी साहित्यकार का सबसे बड़ा गुण माना जाता है। डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा ने ऐतिहासिक अध्ययन के लिए तीन बातें आवश्यक मानी हैं । 1. इतिहासकार की दृष्टि का स्वच्छ होना 2. तथ्यों को बिना तोड़े–मरोड़े सही रूप में ग्रहण करना और अज्ञात या अल्पज्ञात तथ्यों की खोज करना 3. दृष्टि को तथ्यों पर लागू करने में तर्कसंगत कारण–कार्यमूलक विवेचन–पद्धति का सहारा लेकर सही निष्कर्षों तक पहुँचना।

इतिहास विज्ञान है या कला इस पर विद्वान एक मत नहीं हैं। डॉ. नगेन्द्र ने इस पर अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए लिखा है – ''जबकि वास्तविकता यह है कि कला या विज्ञान का निर्णय विषयवस्तु के आधार पर नहीं, अपितु उसकी अध्ययन–पद्धति या रचना–पद्धति पर निर्भर है। इतिहास हमें अतीत का इतिवृत्त प्रदान करता है, किन्तु यह हम पर निर्भर है कि उस इतिवृत्त का उपयोग हम किस प्रकार करते हैं। यदि अतीत के इतिवृत्त को हम आत्मपरक दृष्टिकोण, वैयक्तिक अनुभूति एवं ललित शैली में प्रस्तुत करते हैं, तो वह 'कला' की संज्ञा से विभूषित हो सकता है, जबकि वस्तुपरक दृष्टिकोण, तर्कपूर्ण शैली एवं गवेषणात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया है। अतीत का विवरण 'विज्ञान' की विशेषताओं से युक्त माना जा सकता है ...फिर भी आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है। इतिहास को भी हम उसी श्रेणी के विज्ञान में स्थान दे सकते हैं, जिस श्रेणी में भाषाविज्ञान व समाजविज्ञान को देते हैं।''

इतिहास मानवीय विकास की एक जीवंत प्रक्रिया है, क्योंकि उसमें अतीत से वर्तमान युग तक की विकास परंपरा होती है। ई. एच. कार के अनुसार ''अतीत की घटनाओं को क्रमबद्धता देकर कारण और प्रभाव के प्रभाव से रखना ही इतिहास है।'' यहीं पर इतिहास का प्रयोजन भी स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः अतीत का अध्ययन इसीलिए किया जाता है कि वह वर्तमान के लिए उपयोगी हो। इस संदर्भ में डॉ. नलिन विलोचन शर्मा के विचार हैं ''ऐतिहासिक अन्वेषण का लक्ष्य क्या है? उत्तर संकेतित हो चुका है। वर्तमान का समाधान और व्याख्या। जिस सामग्री का भी विवेचन इतिहास में होता है, वह वर्तमान सामग्री ही होती है। जो नितांत गत और अतीत है, वह इतिहास के लिए विचारणीय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी है कि ऐतिहासिक अन्वेषण जिस युग में होता है, उसके भाव और रुचि के अनुरूप ही यह हो सकता है। कोई इतिहासकार अपने को अपने वातावरण से अलग नहीं कर सकता। ऐसा करने का प्रयास उचित भी नहीं है। अपना तथा अपने वातावरण का ज्ञान प्राप्त करना ही उसका ध्येय होता है।'' इसी प्रकार क्रोचे ने भी कहा है – ''समस्त इतिहास समकालीन इतिहास होता है।'' इतिहास के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए प्रोफेसर हरमहेन्द्र सिंह बेदी ने लिखा है– ''इतिहास की एक उपयोगिता यह भी है कि यह हमारे ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि करता है तथा वर्तमानिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता देता है। इतिहास हमें शिक्षा भी देता है कि अतीत की भूलों को हम वर्तमान तथा भविष्य में न करें।''

इस प्रकार इतिहास का प्रयोजन मानव के अनुभव एवं विवेक में वृद्धि है। प्राचीन परंपरा, प्रवृत्ति एवं उत्थान–पतन के अध्ययन से मानव अपने वर्तमान जीवन के लिए अनेक शिक्षाएं ग्रहण करता है।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने भारत के इतिहास संबंधी परम्परागत दृष्टिकोण की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं

1. भारतीय इतिहासकारों ने इतिहास लेखन में सामयिक तत्वों की प्रायः उपेक्षा की है, इसीलिए उन्होंने काल, तिथि, सम्वतों को महत्त्व नहीं दिया।
2. उनका लक्ष्य घटनाओं एवं क्रियाकलापों की व्याख्या भौतिक दृष्टि से न करके धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से करने को कहा।
3. व्यक्तियों का मूल्यांकन उन्होंने लौकिक सफलताओं के आधार पर न करके चारित्रिक महत्ता के आधार पर किया।
4. उनकी शैली विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक न रहकर संश्लेषणात्मक एवं भावात्मक रही।
5. उन्होंने इतिहास को विज्ञान के रूप में नहीं, कला के रूप में ग्रहण किया।

1.3.1.1. इतिहास–दर्शनः

'इतिहास–दर्शन' अंग्रेजी शब्द 'फिलॉसफी ऑफ हिस्टरी' का पर्याय है। सर्वप्रथम वाल्टेर ने इस शब्द का प्रयोग किया और उसके अर्थ को 'आलोचनात्मक या वैज्ञानिक इतिहास' तक सीमित रखने का प्रयास किया। बाद में आने वाले विचारकों में 'हीगल' ने इसका प्रयोग विश्व इतिहास के अर्थ में किया। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में ''इतिहास – दर्शन को हमें उसी व्यापक एवं समन्वित अर्थ में ग्रहण करना होगा, जिसके अनुसार 'इतिहास–दर्शन' उन दृष्टि कोणों, विचारों एवं अध्ययन पद्धतियों के समूह का सूचक है, जिनका प्रयोग इतिहास के अध्ययन में संभव है।'' इस विषय पर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की धारणाएँ इस प्रकार हैं।

1.3.1.2. भारतीय दृष्टिकोण

इतिहास शब्द का सर्वप्रथम, उल्लेख 'अथर्ववेद' में मिलता है। 'शतपथ ब्राह्मण', 'जैमिनीय वृहदारण्यक' तथा 'छान्दोग्योपनिषद्' में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। भारतीय संस्कृति में सामयिक तत्वों की अपेक्षा चिरंतन तत्वों का अधिक महत्त्व रहा है। इसीलिए भारतीय इतिहासकारों का इतिहास के प्रति आदर्शात्मक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण रहा है। 'महाभारत' के रचयिता व्यास ने –

धर्मार्थकामोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।

इतिहास को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश देने का माध्यम माना और 'विष्णुपुराण' के रचयिता ने ऋषियों एवं महापुरुषों के चरित–गान को 'इतिहास' के रूप में करते हुए उसका विषय बताया है –

आर्ष्यादि बहुव्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भूत धर्मयुक।।

वास्तव में प्राचीनकाल से ही भारत में पुराण–लेखन की परंपरा मिलती है और उसमें इतिहास के अंश अवश्य ही सन्निविष्ट हैं। डॉ. नलिन विलोचन शर्मा ने इतिहास दर्शन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण अभिव्यक्त करते हुए लिखा है– ''वस्तुतः प्राचीन भारतीयों के द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक सामग्री का अभाव नहीं है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्यों की क्रांति का कारण है, भारतीयों का इतिहास विषयक विभाजन। 19वीं शताब्दी में इतिहास लेखन की जो प्रणाली पश्चिम में प्रचलित थी, उससे भारतीय प्रणाली सर्वथा भिन्न थी। पश्चिम के तत्कालीन स्वीकृत प्रतिमानों के सहारे पाश्चात्य विद्वान् न तो भारतीय साहित्य और कलाओं के साथ न्याय कर सके, न यहाँ की प्राचीन इतिहास लेखन–प्रणाली की विशेषता ही समझ पाए।''

1.3.1.3. पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य इतिहासकारों ने इतिहास–लेखन में वस्तुपरक दृष्टिकोण को महत्त्व दिया है। इतिहास के पहले व्याख्याता यूनानी विद्वान हिरोदोतस (पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व) ने इतिहास को खोज, गवेषणा या अनुसंधान के अर्थ में ग्रहण करते हुए, इसके चार लक्षण निर्धारित किए। 1. इतिहास वैज्ञानिक विद्या है, अतः इसकी पद्धति आलोचनात्मक होती है। 2. यह मानव जाति से सम्बन्धित होने के कारण मानवीय विद्या है। 3. यह तर्क संगत विद्या है, क्योंकि इसमें तथ्य और निष्कर्ष प्रमाणों पर आधारित होते हैं। 4. यह शिक्षा प्रद विद्या है, क्योंकि यह अतीत के आलोक में भविष्य पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार हिरोदोतस ने इतिहास को वैज्ञानिक विधा मानते हुए इसमें तर्क संगति एवं प्रामाणिकता पर बल दिया है। इटली के विद्वान विको (1668–1774 ई.) ने इतिहास को केवल अतीत से संबन्धित न मानकर वर्तमान से भी संबन्धित माना है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कान्त (1724–1804 ई.) ने प्राकृतिक नियमों की उपस्थिति को स्वीकार किया। हीगल (1750–1831 ई.) ने इसी परंपरा में इतिहास की घटनाओं में कारण–कार्य शृंखला को खोलने की बात कही है। 20वीं शताब्दी के स्पेंगलर, टायनबी और टर्नर जैसे विद्वानों ने भी इतिहास का अत्यन्त व्यापक एवं सूक्ष्म अध्ययन किया।

वस्तुतः भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के इतिहास–दर्शन संबंधी धारणाओं के आलोक में स्पष्ट है कि इतिहास की आधारभूत सामग्री तो अतीत की वास्तविक घटनाएं ही हैं, परन्तु अध्ययन–पद्धति एवं दृष्टिकोण के भेद के कारण इसके कलात्मक, पौराणिक और वैज्ञानिक आदि अनेक रूप हो जाते हैं। इनमें से इतिहास का वैज्ञानिक रूप ही अध्ययन के लिए आदर्श माना जा सकता है।

1.3.1.4. स्व–मूल्यांकनः

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

रिक्त स्थान भरें:

1. भारतीय संस्कृति में सामयिक तत्वों की अपेक्षा................तत्वों का अधिक महत्त्व रहा है।
2. इतिहास ....विकास की एक जीवंत प्रक्रिया है।
3. 'इतिहास–दर्शन' अंग्रेजी शब्द..का पर्याय है।
4. इतिहास शब्द का सर्वप्रथम, उल्लेख................ में मिलता है।
5. प्राचीनकाल से ही भारत में ....की परंपरा मिलती है।
6. पाश्चात्य इतिहासकारों ने इतिहास–लेखन में .... को महत्त्व दिया है।
7. ....ने इतिहास को केवल अतीत से संबन्धित न मानकर वर्तमान से भी संबन्धित माना है।
8. कान्त ने .... की उपस्थिति को स्वीकार किया।

1.3.2. साहित्येतिहास की परिभाषा और स्वरूपः

'साहित्येतिहास' शब्द साहित्य, इतिहास दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है– साहित्य का इतिहास। इतिहास में बीती हुई घटनाओं के लेखे–जोखे को काल–क्रमानुसार प्रस्तुत किया जाता है, साथ ही इतिहास में घटित होने वाली घटनाओं के कारणों की तलाश भी की जाती है। अतीत से सम्बद्ध होते हुए भी इतिहास वर्तमान से जुड़ा रहता है। साहित्येतिहास किसी भाषा के साहित्य के आरंभिक काल से लेकर आज तक के विकास की झांकी प्रस्तुत करता है। इसलिए साहित्येतिहास को इतिहास से अलग करके नहीं समझा जा सकता। विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से साहित्येतिहास को परिभाषित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं – ''जब प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चलता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत–कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल साहित्य के विकासक्रम के मूल में जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन को तथा जनता की चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के मूल में युगीन संदर्भ को मानते हैं। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार ''साहित्येतिहास की विकासवादी व्याख्या के लिए उन सभी तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है, जो साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं उससे सम्बन्धित पूर्व परंपरा, युगीन वातावरण, द्वन्द्व के स्तोत्र, अभीष्ट लक्ष्य आदि पर प्रकाश डालते हैं।'' डॉ. सुमनराजे साहित्येतिहास के सन्दर्भ में लिखते हैं–''साहित्येतिहास युग–विशेष की समूहगत कृतियों का समन्वित अध्ययन है। इसमें एक सुनिश्चित ऐतिहासिक बोध होता है।'' साहित्येतिहास के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए डॉ. मैनेजर पाण्डेय का कथन है–''साहित्य के इतिहास का आधार है, साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा।'' साहित्य की प्रगति, निरंतरता और विकासशीलता में आस्था के बिना साहित्य का इतिहास असंभव है।'' साहित्येतिहास के विषय में डॉ. हरमहेन्द्र सिंह बेदी लिखते हैं ''साहित्य के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विकासात्मक एवं तर्कसंगत अध्ययन, अनुशीलन ही साहित्य का इतिहास है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में डॉ. लालचन्द गुप्त 'मंगल' ने साहित्येतिहास की निम्नलिखित विशेषताएँ गिनाई हैं 1. साहित्येतिहास में केवल विशिष्ट लेखकों और उनकी कृतियों का अध्ययन न होकर युग–विशेष की समूहगत कृतियों का समन्वित अध्ययन होता है। 2.साहित्येतिहास में एक सुनिश्चित ऐतिहासिक बोध होता है। 3. साहित्येतिहास में कारण कार्यमूलक संबंध का निर्धारण किया जाता है। 4. साहित्येतिहास में युग तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास की चेतना का अनुसंधान होता है। 5. साहित्येतिहास में निहित अनेकता में एकता के सूत्र की खोज की जाती है। 6. साहित्येतिहास में साहित्य के परिवर्तित रूप–तत्वों और भाषायी विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है।

1.3.2.1. स्व–मूल्यांकनः

प्रिय विद्यार्थियों! निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर आप अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन कर सकते हैं।

सही उत्तर का कोष्ठ (✓ / X) में दिए गए चिन्ह द्वारा चयन करें।

1. इतिहास में बीती हुई घटनाओं के लेखे–जोखे को काल–क्रमानुसार प्रस्तुत किया जाता है। ( )
2. इतिहास में घटित होने वाली घटनाओं के कारणों की तलाश नहीं की जाती है। ( )
3. आचार्य शुक्ल जनता की चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के मूल में युगीन संदर्भ को मानते हैं। ( )
4. डॉ. लालचन्द गुप्त 'मंगल' के अनुसार साहित्येतिहास में एक सुनिश्चित ऐतिहासिक बोध नहीं होता है। ( )
5. डॉ. लालचन्द गुप्त 'मंगल' के अनुसार साहित्येतिहास में निहित अनेकता में एकता के सूत्र की खोज की जाती है। ( )

1.3.3. साहित्येतिहास–दर्शन के प्रमुख तत्त्वः

साहित्येतिहास दर्शन के संबंध में 'आचार्य शुक्ल' ने गंभीरता से विचार कर साहित्य के विकासक्रम के मूल में जनता की चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के मूल में युगीन संदर्भ को माना है। यदि कोई साहित्यकार युगीन सन्दर्भों की उपेक्षा करता है, तो उसका साहित्य स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पाता, जैसे युगीन सन्दर्भ ऐतिहासिक परंपरा के अविच्छिन्न अंग होते हैं, वैसे ही साहित्यिक कृति अपनी साहित्यिक परंपरा का अविच्छिन्न अंग होती है। परंपरा साहित्य के रूपगत विकास में सहायक होती है। इस संदर्भ में डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा का मत है ''परंपरा का यह तत्त्व जहाँ सामाजिक–सांस्कृतिक विकास में निहित रहता है, वहाँ साथ ही भाषा और अभिव्यक्ति के विविध साहित्य रूपों का विधाओं तथा छंद, अलंकार–योजना आदि भाषिक व्यवस्थाओं को भी निरंतर क्रियाशील रखता है। युग परिवर्तन के साथ भाषा, काव्यरूपों, छन्दों, अलंकारों और प्रतीकों आदि में भी परिवर्तन घटित होता चलता है।' साहित्य की विकास–प्रक्रिया एवं साहित्येतिहास–दर्शन पर विचार करते हुए डॉ. नगेन्द्र के विचार हैं– ''आज साहित्य का अध्ययन विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रहकर नहीं किया जा सकता, उसकी विषयगत प्रवृत्तियाँ व शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उसे सम्बन्धित राष्ट्रीय परम्पराओं, सामाजिक वातावरण, आर्थिक परिस्थितियाँ, युगीन चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण–विवेचन आवश्यक है।''

फ्रेंच इतिहासकार 'तेन' ने अपने साहित्येतिहास में प्रतिपादित किया कि साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल में मुख्यतः तीन प्रकार के तत्त्व सक्रिय रहते हैं। (क) जाति (Race) (ख) वातावरण (Milien) (ग) क्षण विशेष (Moment) 'तेन' ने स्पष्ट किया है कि ''साहित्येतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परंपराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामाजिक, परिस्थितियों का अध्ययन–विश्लेषण आवश्यक है।''

जर्मन चिन्तक 'ए. एच. काफे' ने साहित्येतिहास–दर्शन के लिए युग–चेतना नामक सिद्धान्त दिया है। इनके अनुसार साहित्य के इतिहास की व्याख्या तद्युगीन चेतना के आधार पर की जानी चाहिए, परन्तु तद्युगीन चेतना के साथ–साथ पूर्ववर्ती परंपराओं का भी कुछ–न–कुछ योगदान होता है।

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने साहित्येतिहास–दर्शन व साहित्य की विकास–प्रक्रिया के निम्नलिखित पांच सामान्य सूत्र निश्चित किए हैं 1. प्राकृतिक सृजन–शक्ति 2. परंपरा 3. वातावरण 4. द्वन्द्व या आकर्षण–विकर्षण 5. सन्तुलन।

1.3.3.1. प्राकृतिक सृजन–शक्तिः

साहित्य–क्षेत्र में यदि सृजन–शक्ति युक्त लेखक न होते, तो साहित्य शायद ही हमें पढ़ने को मिल पाता। इस प्रकार साहित्येतिहास की मूल शक्ति साहित्य की सृजन–शक्ति ही है। इतिहास की व्याख्या में सर्वप्रथम साहित्यकारों के व्यक्तित्व के उन पक्षों का अध्ययन होना चाहिए, जिनका उनकी सृजना से सम्बन्ध है। कई बार एक ही युग में रहने वाले, एक ही प्रकार की परिस्थितियों का सामना करते हुए भी दो साहित्यकारों की रचनाओं में बहुत अधिक अन्तर देखने को मिल जाया करता है। सृजन–शक्ति साहित्यकार की प्रतिभा से जुड़ी होती है। प्रतिभा व उसके व्यक्तित्व को जाने बिना साहित्यकार की सृजन–शक्ति को पूर्ण नहीं माना जा सकता। इसीलिए साहित्येतिहास–दर्शन व साहित्य की विकास प्रक्रिया में साहित्यकार की सृजन–शक्ति, उसकी प्रतिभा और व्यक्तित्व की भूमिका महत्त्व पूर्ण हुआ करती है।

1.3.3.2. परंपराः

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार जिस प्रकार जीवों की उत्पत्ति एवं विकास में उनकी पूर्व वंश–परम्परा का आधार होता है, उसी प्रकार साहित्य की रचनाओं, धाराओं एवं कृतियों के विकास में साहित्य की सम्यक व्याख्या उससे सम्बन्धित पूर्ववर्ती परंपराओं के अध्ययन के बिना संभव नहीं। साहित्य की धाराओं का उद्गम स्रोत खोजने के लिए इतिहासकार को केवल तत्कालीन परिस्थितियों पर ही नहीं पूर्ववर्ती परंपराओं पर भी विचार करना चाहिए। यदि हम भक्तिकाल में बहने वाली भक्ति की निर्गुण–सगुण भक्ति का उत्स खोजने का प्रयास करें, तो उसके सूत्र 7वीं–8वीं शताब्दी के दक्षिण में शंकराचार्य के अद्वैतवाद से जुड़े मिलते हैं। अतः साहित्येतिहास–दर्शन के विकास में परंपरा के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

जहाँ तक द्वन्द्व या आकर्षण–विकर्षण और संतुलन सूत्रों का प्रश्न है, इन्हें स्वतंत्र सूत्र नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये रचनाकार की सर्जनशील मानसिकता के ही अंग होते हैं। 'द्वन्द्व' में यदि कवि–मानव का युगीन परिवेश से विकर्षण, विद्रोह या टकराव होता है तो 'संतुलन' में शाश्वत जीवन–मूल्यों की खोज होती है। फिर भी, यदि आवश्यक हो, तो इन दोनों तत्वों को मूल चेतना का नाम दिया जा सकता है। इस प्रकार आज साहित्येतिहास–दर्शन के चार सूत्र–प्रतिभा, परंपरा, युगीन परिवेश और मूल्य चेतना माने जाते हैं, जिनके आधार पर साहित्य का मानक इतिहास लिखा जा सकता है।

1.3.3.3. स्व–मूल्यांकनः

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय से आपको इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास का जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका स्व–मूल्यांकन आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा करें।

1. **फ्रेंच इतिहासकार 'तेन' के अनुसार साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल में मुख्यतः कितने प्रकार के तत्त्व सक्रिय रहते हैं!**

   (क) चार (ख) तीन (ग) दो (घ) पाँच

2. **डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने साहित्येतिहास–दर्शन व साहित्य की विकास–प्रक्रिया के कितने सूत्र निश्चित किए हैं!**

   (क) तीन (ख) दो (ग) पाँच (घ) चार

3. **साहित्येतिहास–दर्शन के लिए युग–चेतना नामक सिद्धान्त किसने दिया है!**

   (क) तेन (ख) डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा (ग) डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त (घ) ए. एच. काफे

1.4. निष्कर्ष:

वस्तुतः कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास–लेखन एक जटिल क्रिया है। साहित्यिक–कृतियाँ तथा अन्य तथ्य तो साहित्येतिहास–लेखन के लिए उपकरण मात्र हैं। इन उपकरणों की सहायता से साहित्येतिहास–लेखक अपने साहित्येतिहास को एक व्यवस्थित ढांचा प्रदान करता है। वह ऊपर से एवं दूसरे से भिन्न एवं असंबद्ध लगने वाली एक युग की विभिन्न रचनाओं के मध्य एकसूत्रता की तलाश करता है। इस तलाश के लिए वह साहित्येतिहास के विकास के विभिन्न सूत्रों की सहायता करता है। यही साहित्येतिहास–दर्शन है।

1.5 कठिन शब्द

1. समाविष्ट – समाहित
2. शाश्वत – सदा रहने वाला
3. तटस्थता – निष्पक्षता
4. निस्संगता – एकांतता
5. इतिवृत्त – पुरानी कथा
6. आधारभूत – मूलभूत
7. तद्युगीन – समकालीन
8. असंबद्ध – संबंधहीन

1.6. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. इतिहास दर्शन को स्पष्ट कीजिए।

2. हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन पर प्रकाश डालिए।

1.7. उत्तर कुंजी

1.3.1.4. 1. शाश्वत 2. मानवीय 3. 'फिलॉसफी ऑफ हिस्टरी' 4. 'अथर्ववेद' 5. पुराण–लेखन 6. वस्तुपरक दृष्टिकोण 7. विको 8. प्राकृतिक नियमों.

1.3.2.1. 1. सही 2.गलत 3. सही 4. गलत 5. सही

1.3.3.3. 1. तीन 2. पाँच 3. ए. एच. काफे

1.8. पठनीय पुस्तकें

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

हिन्दी साहित्य के इतिहास–लेखन की परम्परा

रूपरेखा

2.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

2.2. प्रस्तावना

2.3. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा

- गार्सा द तॉसी
- श्री महेशदत्त शुक्ल
- शिवसिंह सेंगर
- जार्ज ग्रियर्सन
- बाबू श्यामसुन्दर दास

* स्व–मूल्यांकन (क)

- मिश्रबंधु
- एडविन ग्रीव्स
- एफ. ई. के.
- आचार्य रामचन्द शुक्ल
- अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

* स्व–मूल्यांकन (ख)

- सूर्यकान्त शास्त्री
- पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'
- श्री कृष्ण शंकर शुक्ल
- डॉ. रामकुमार वर्मा
- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
- नागरी प्रचारिणी सभा काशी
- डॉ. गणपति चन्द्रगुप्त
- डॉ. रामखेलावन पाण्डेय
- डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा और रामनिवास गुप्त
- डॉ. बच्चन सिंह

* स्व–मूल्यांकन (ग)

2.4. निष्कर्ष

2.5. कठिन शब्द

2.6. अभ्यासार्थ प्रश्न

2.7. उत्तर कुंजी

2.8. पठनीय पुस्तकें

2.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको–

- इतिहास का ज्ञान देना।
- हिन्दी साहित्य के इतिहास से परिचित करवाना।
- प्रमुख हिन्दी साहित्येतिहासकारों और उनके इतिहास ग्रन्थों से परिचित करवाना।
- हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा को हृदयंगम करना।

इस अध्याय का विस्तार से अध्ययन करने के उपरान्त आप हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा को पूर्ण रुप से समझने में सक्षम होंगे।

2.2. प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थी ! हिंदी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा–संबंधी प्रश्न पर कितना मतभेद और ऊहापोह रहा है? इसे समझने के लिए आज तक लिखे गए साहित्येतिहास ग्रंथों का मूल्यांकन आवश्यक है। समय के साथ–साथ हिंदी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा भी उत्तरोत्तर विकसित होती चली गई। इस परंपरा में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का स्थान महत्त्वपूर्ण है। शुक्ल पूर्व परंपरा में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने प्रारंभिक उपलब्ध साहित्य पर हिंदी साहित्येतिहास लिखने के प्रयास किए। इन प्रारंभिक ग्रंथों से पहले भक्तमाल, चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, परिचयी साहित्य, बीजक साहित्य, आदिग्रंथ (गुरुग्रंथ साहिब), मूलगोसाई चरित, कविमाला, कालिदास हजारा, काव्यनिर्णय, अलंकार–रत्नाकर, सारसंग्रह आदि लिखित ग्रंथों में कवियों के नाम, उनकी रचनाओं के नाम और उनके जीवनवृत्त का विवरण स्त्रोत–सामग्री के रूप में मिलता है। हिंदी साहित्येतिहास लेखन की यह परंपरा गार्सा द् तासी से प्रारंभ होकर भारतीय विद्वानों तक अद्यतन प्रचलित है। इसके अन्तर्गत विद्यार्थी निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त कर सकेंगे।

2.3. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा

• गार्सा द् तॉसी

नवीनतम जानकारी के अनुसार स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परंपरा की शुरूआत एक फ्रैंच विद्वान गार्सा द् तॉसी ने की थी। इन्होंने फ्रैंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर एंदुई ए ऐंदुस्तानी' नामक इतिहास लिखा था। इसका प्रथम भाग सन् 1839 ई. में तथा दूसरा भाग सन् 1847 ई. में प्रकाशित हुआ। सन् 1871 ई. में इसका दूसरा संस्करण भी छपा। इसमें मुख्य रूप से उर्दू के कवियों का परिचय है, परन्तु साथ में हिन्दी के 72 कवियों की सूची दी गई है। कवियों का परिचय अंग्रेजी के वर्णानुक्रम से दिया गया है। प्रवृत्तियाँ और भाषा गत आधार के संबंध में लेखक मौन है। इसीलिए इसे इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सामग्री संकलन एवं पहला इतिहास ग्रन्थ लिखने की दृष्टि से तॉसी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

• श्री महेशदत्त शुक्ल

श्री महेशदत्त शुक्ल द्वारा लिखित भाषा काव्य संग्रह द्वितीय हिन्दी साहित्य का इतिहास ग्रंथ है। इसका प्रणयन श्री महेशदत्त शुक्ल द्वारा हिन्दी भाषा में ही किया गया है। इसका प्रकाशन संवत् 1930 में 'नवलकिशोर प्रेस', लखनऊ

से हुआ है। इसमें संग्रहकर्ता ने कतिपय प्रमुख प्राचीन कवियों की कविताओं को संग्रहित किया है तत्पश्चात् उन्हीं कवियों का जीवन परिचय आदि संक्षेप में प्रस्तुत किया है तथा अन्त में कलिष्ट शब्दों का एक कोष भी दे दिया है।

- **शिवसिंह सेंगर**

हिन्दी साहित्य के इतिहास–लेखन की परंम्परा में दूसरा नाम ठाकुर शिवसिंह सेंगर का लिया जा सकता है, जिन्होंने सन् 1878 ई. में 'शिवसिंह सरोज' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें हिन्दी के लगभग एक हजार कवियों का जीवन चरित्र और उनकी कविताओं के उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। कवियों के जन्म एवं उनकी कृतियों के रचनाकाल अनुमान के आधार पर दिए गए हैं, जो अधिक विश्वसनीय नहीं है। उपलब्ध हिन्दी कविता संबंधी ज्ञान का संकलन करने के कारण इसकी अपनी उपयोगिता है। इसे भी हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें कवियों का परिचय कालक्रमानुसार नहीं दिया गया है।

- **जार्ज ग्रियर्सन**

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा लिखित 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान' नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इससे पहले यह ग्रन्थ 'रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' की पत्रिका के विशेषांक के रूप में प्रकाशित हो चुका था। इस ग्रन्थ का अनुवाद डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' नाम से किया था, जिसका प्रथम संस्करण सन् 1958 ई. में छपा था। डॉ. ग्रियर्सन के इतिहास में पहली बार कवियों एवं लेखकों का काल–क्रमानुसार वर्गीकरण किया गया है। यह वह पहला इतिहास ग्रन्थ है, जिसमें काल–विभाजन और नामकरण किया गया है। युगीन प्रवृत्तियों को उजागर करने की चेष्टा की गई है। इस ग्रन्थ के आधार तॉसी और सेंगर तो हैं ही, साथ ही 'भक्तमाल', 'कालिदासहजारा' का भी आधार ग्रन्थ के रूप में उल्लेख मिलता है। ग्रियर्सन ने हिन्दी का आरंभ 700 ई. से मानकर भाषा की दृष्टि से क्षेत्र निर्धारित करते हुए संस्कृत, प्राकृत और उर्दू की रचनाओं को अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया। उन्होंने हिन्दी साहित्य को चारण काव्य, धार्मिक काव्य, प्रेम काव्य, दरबारी काव्य आदि में विभाजित किया है। वस्तुतः डॉ. ग्रियर्सन के इतिहास में अनेक कमियों के होते हुए, इसे हिन्दी–साहित्य का प्रथम इतिहास माना जा सकता है।

- **बाबू श्यामसुन्दर दास**

बाबू श्यामसुन्दर दास ने लगभग 80 आधुनिक लेखकों के जीवन परिचय एवं कृतियों के विषय में 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' का परिचय प्रस्तुत किया है। यह रत्नमाला संवत् 1966 एवं 1971 में दो भागों में प्रकाशित हुई है। आगे चलकर उन्होंने संवत् 1987 में बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'हिन्दी भाषा साहित्य' नामक ग्रंथ का प्रकाशन कराया। 'भाषा' भाग में तो आप द्वारा विरचित 'भाषा–विज्ञान' नामक कृति को ही परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया गया है किन्तु, 'साहित्य' भाग में हिन्दी की प्रमुख धाराओं, उनके विकास और विस्तार का विवरण दिया गया है।

- **स्व–मूल्यांकनः (क)**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1 फ्रैंच विद्वान गार्सा द् तॉसी ने..............................में 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर एंदुई ए ऐंदुस्तानी' नामक इतिहास लिखा था।

2 ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने 1878 ई. में..............................नामक ग्रन्थ की रचना की।

3 जार्ज ग्रियर्सन द्वारा लिखित... अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

4 बाबू श्यामसुन्दर दास ने लगभग 80 आधुनिक लेखकों के जीवन परिचय एवं कृतियों के विषय में................ ....है।

5 संवत् 1987 में बाबू श्यामसुन्दर दास ने ....नामक ग्रंथ का प्रकाशन कराया।

- **मिश्रबंधु**

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा को आगे बढ़ाने में मिश्र बन्धुओं (गणेशबिहारी मिश्र, श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र) का अपना योगदान है। इनका इतिहास–ग्रंथ 'मिश्रबन्धु विनोद' शीर्षक चार भागों में प्रकाशित हुआ, जिसके पहले तीन भाग 1913 ई. में प्रकाशित हुए और चौथा भाग 1934 ई. में छपा। इस ग्रन्थ में चार हजार पांच सौ इक्यानवें कवियों और लेखकों का विवरण मिलता है। कवियों के वर्णन के साथ ही साहित्य के विविध अंगों पर भी प्रकाश डाला गया है और कुछ अज्ञात कवियों का भी उल्लेख हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ को आठ काल–खण्डों में विभाजित करके, सर्वप्रथम आदिकाल का नाम प्रारंभिक काल देकर मिश्र बंधुओं ने काल–विभाजन और नामकरण की ओर भी ध्यान दिया। यद्यपि इनका काल–विभाजन ग्रियर्सन के अनुकरण पर हुआ है। आचार्य शुक्ल ने इस ग्रन्थ की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है। ''कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः 'मिश्रबंधु विनोद' से ही लिए हैं।''

- **एडविन ग्रीब्स**

श्री एडविन ग्रीब्स महोदय ने संवत् 1975 में 'ए स्केच ऑव हिन्दी लिटरेचर' नामक हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। श्री ग्रीब्स ने अपने से पूर्व प्रकाशित लगभग सभी कृतियों से सहायता लेकर इस ग्रंथ का प्रणयन किया है। यह ग्रंथ केवल 122 पृष्ठों में छपा है इस कृति में लेखक ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को पांच भागों में विभक्त किया है।

- **एफ० ई० के**

आगे चलकर श्री एफ. ई. के. द्वारा लिखित इतिहास 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर' शीर्षक से सन् 1920 में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ को ग्रियर्सन से प्रभावित मानकर अधिक लोकप्रियता नहीं मिली, जबकि के. महोदय ने पहली बार साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर अपने ग्रन्थ को चार काल खण्डों में बांटकर, अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य से अलग करने का प्रयास किया और हिंदी साहित्य की आरंभिक सीमा 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वीकार की। वास्तव में के. महोदय का काल–विभाजन और सीमा–निर्धारण जार्ज ग्रियर्सन और आचार्य शुक्ल के काल–विभाजन के मध्य की कड़ी है। इस ग्रन्थ की अपनी ही उपयोगिता है।

- **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का योगदान उल्लेखनीय है। उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1929 में प्रकाशित हुआ, जो अपने मूल रूप में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था। इन्होंने इस इतिहास–ग्रन्थ में इतिहास का विकासवादी, वैज्ञानिक और विवेकसंगत दृष्टिकोण अपनाया है। आचार्य शुक्ल ने पहली बार साहित्येतिहास को स्पष्ट कर उसे क्रियान्वित करने का प्रयास करते हुए कहा ''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता

चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।'' इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने युगीन परिवेश को और जनता की चित्तवृत्तियों को तत्कालीन साहित्य का स्रोत मानकर, वैज्ञानिक दृष्टि को अपने साहित्येतिहास लेखन का आधार बनाया। इन्होंने अपने इतिहास को आदिकाल (वीरगाथा काल), भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिक काल (गद्यकाल) चार कालखण्डों में विभक्त किया। आदिकाल को वीरगाथा काल का नाम देकर इसकी सीमा संवत् 1050–1375 तक निर्धारित कर दी। भक्तिकाल सं. 1375 से 1700 तक मानकर उसे निर्गुण और सगुण में बांटकर फिर निर्गुण को ज्ञानाश्रयी व प्रेमाश्रयी नाम दिया और सगुण काव्य धारा को रामभक्ति और कृष्ण भक्ति शाखाओं में बांटकर उनका साहित्यिक एवं दार्शनिक विवेचन भी किया। उन्होंने कवियों और लेखकों का केवल इतिवृत्त ही नहीं दिया, बल्कि उनकी रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन भी किया। संवत् 1700 से 1900 तक के समय को रीतिकाल कहकर रीतियुगीन कवियों का आचार्यत्व और कवित्व दोनों दृष्टियों से विश्लेषण किया। संवत् 1900 से अब तक के साहित्य को आधुनिक काल (गद्यकाल) की संज्ञा से अभिहित किया।

आज नवीन शोध और उपलब्ध सामग्री के आधार पर भले ही हम शुक्ल जी के इतिहास में अनेक कमियाँ निकालें, लेकिन आने वाले साहित्येतिहास लेखकों को यह अवश्य प्रभावित करता है। इस इतिहास की अपनी सीमाएं हैं। सन् 1929 में जब यह इतिहास लिखा गया था, बहुत कम प्राचीन साहित्य प्रकाश में आया था। शोध–प्रबन्धों की गिनती तो केवल दो या तीन तक सीमित थी। हिन्दी साहित्य का बहुत बड़ा अंश मठों, गांवों और नगरों में हस्तलिखित रूप में अज्ञात रूप से दबा पड़ा था। डॉ. सुमन राजे के शब्दों में ''उन्होंने अपने आधार स्वयं खोजे हैं, अपनी पद्धति स्वयं निर्मित की है। यह उनकी सबसे बड़ी मौलिकता है। काल का जो विभाजन उन्होंने प्रस्तुत किया था, उसमें भी दो एक वर्ष या तो घटा दिए गए हैं या बढ़ा दिए गए हैं, परन्तु मूल ढांचा ज्यों–का–त्यों है।''

- **पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय**

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने पटना विश्वविद्यालय में बाबू रामदीन सिंह रीडरशिप व्याख्यानमाला के अन्तर्गत 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' शीर्षक से व्याख्यान दिये हैं। ये व्याख्यान ही 791 पृष्ठों में पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किये गये हैं। इन व्याख्यानों में हिन्दी साहित्य के इतिहास के विकास को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रंथ का प्रकाशन सं० 1987 में हुआ है।

*** स्व–मूल्यांकनः (ख)**

प्रिय विद्यार्थीयों ! निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर आप अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन कर सकते हैं।

सही उत्तर का कोष्ठ (✓ / X) में दिए गए चिन्ह द्वारा चयन करें।

1 'मिश्रबन्धु विनोद' ग्रंथ शीर्षक चार भागों में प्रकाशित हुआ । ( )

2 श्री एडविन ग्रीब्स महोदय ने संवत् 1975 में 'ए स्केच ऑव हिन्दी लिटरेचर' नामक हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। ( )

3 एफ. ई. के. द्वारा लिखित इतिहास 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर' शीर्षक से सन् 1975 में प्रकाशित हुआ। ( )

4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का योगदान उल्लेखनीय है। उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1920 में प्रकाशित हुआ। ( )

5 पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने पटना विश्वविद्यालय में बाबू रामदीन सिंह रीडरशिप व्याख्यानमाला के अन्तर्गत 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' शीर्षक से व्याख्यान दिये हैं। ये व्याख्यान ही 791 पृष्ठों में पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किये गये हैं। ( )

- **सूर्यकान्त शास्त्री**

श्री सूर्यकान्त शास्त्री ने संवत् 1987 में लाहौर से 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' नाम से ग्रंथ का प्रकाशन कराया है। इस इतिहास के लेखन के मूल में श्री एफ० ई० कृत 'ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर' नामक रचना रही है। इस इतिहास में लेखक ने अंग्रेजी साहित्य के भावों का प्रमाण देते हुए हिन्दी साहित्य को समझाने की चेष्टा की है।

- **पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'**

शुक्लोत्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा में सन् 1931 में प्रकाशित पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' द्वारा वृह्द आकार में लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'रसाल' जी ने नए ढंग से विभाजन और नामकरण का प्रयास किया। उन्होंने आदिकाल को संवत् 1000 से 1400 तक मानते हुए उसे 'बाल्यावस्था' नाम दिया है। इसी प्रकार उन्होंने मध्यकाल को किशोरावस्था (सं. 1400–1800) और आधुनिक काल को 'युवावस्था' (सं. 1800 से 1980) नाम देकर जीवनशास्त्रीय पद्धति पर विभिन्न कालों का नामकरण करके साहित्य के विकासक्रम को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वस्तुतः यह नवीन होते हुए भी ग्राह्य नहीं लगता।

- **श्री कृष्ण शंकर शुक्ल**

श्री कृष्ण शंकर शुक्ल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ का प्रणयन संवत् 1991 में किया है। इस ग्रंथ में भारतेन्दु के पूर्व का इतिहास अति संक्षेप में दिया गया है पर आधुनिक इतिहास का विवेचन विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथकार ने प्रत्येक छवि के विषय में विस्तार से ज्ञातव्य बातों की जानकारी प्रस्तुत कर दी है।

- **डॉ० रामकुमार वर्मा**

शुक्लोत्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा में सन् 1938 में प्रकाशित डॉ. रामकुमार वर्मा, द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' ग्रन्थ आता है। इस इतिहास ग्रन्थ में मुख्यतः शुक्लजी की मान्यताओं का ही अनुकरण है। डॉ. वर्मा ने आदिकाल को संधिकाल (सं. 750–1000) और चारणकाल (1000–1375) नामक दो शीर्षकों में विभक्त किया है। पूरे ग्रन्थ को सात खण्डों में विभाजित करके कुछ काव्यधाराओं के सरल और संक्षिप्त नामकरण दिए हैं, जैसे निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा को सन्तकाव्य और प्रेमाश्रयी शाखा को प्रेमकाव्य। इस इतिहास की विशेषता यह है कि वर्मा जी ने अपभ्रंश रचनाओं को हिन्दी में स्थान दिया है। इन्होंने अपभ्रंश के प्रमुख कवि स्वयं को हिन्दी का प्रथम कवि मानकर, हिन्दी साहित्य का संवत् 750 से स्वीकार किया है। कवि हृदय होने के कारण डॉ. वर्मा की इस ग्रंथ में प्रयुक्त विवेचन पद्धति में काव्य की कोमलता और सुकुमारता अधिक है।

- **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी**

शुक्लोत्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा में आचार्य हजारीप्रसाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके साहित्येतिहास संबंधी तीन ग्रन्थ हैं 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य व उसका उद्‌भव और विकास' तथा

'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'। आचार्य द्विवेदी ने अपने इतिहास ग्रन्थों में नए दृष्टिकोण का परिचय देकर आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं का खण्डन किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि हिन्दी साहित्य में भक्ति आन्दोलन इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया से नहीं उपजा है बल्कि इसकी जड़ें तो दक्षिण भारत के 7वीं–8वीं शताब्दी में चल रहे वैष्णव भक्ति आन्दोलन में विद्यमान थी। इसी प्रकार हिन्दी प्रेमाख्यानों को उन्होंने कथावस्तु, काव्य रूढ़ियों और शैली आदि योजना के तहत संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का ही अगला बढ़ा हुआ कदम बताया है न कि अरबी–फारसी का। संतकाव्य धारा का विकास भी उन्होंने सिद्धों और नाथों की साधना–पद्धति और परंपरा में सिद्ध किया है। वस्तुतः आचार्य द्विवेदी जी की दृष्टि मानवतावादी रही है।

- **नागरी प्रचारिणी सभा काशी**

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा का उपक्रम कुछ संस्थाओं द्वारा भी हुआ है, जिसमें नागरी प्रचारिणी सभा काशी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सन् 1953 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' 16 खण्डों में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया था, जिसके सभी खण्ड अब प्रकाशित हो चुके हैं। इसके प्रत्येक खण्ड का एक विद्वान् सम्पादक है, जिसने सहयोगी लेखकों से कार्य सम्पन्न कराया है। इस योजना का सबसे अधिक लाभ यह हुआ कि हिन्दी की समस्त बिखरी हुई सामग्री का संकलन हो गया, परन्तु सहयोगी लेखन परम्परा में प्रत्येक खण्ड के लेखक का अपना दृष्टिकोण और अपनी शैली रहती है तथा समुचित संयोजन एवं समन्वय का अभाव खटकता है। इस योजना का कालविभाजन भी आचार्य शुक्ल के वर्गीकरण पर आधारित है। अन्तर केवल इतना है कि 'रीतिकाल' को श्रृंगार काल नाम देकर, आधुनिक काल में शुक्ल जी ने विभिन्न युगों का परिष्कार करके, वर्तमान काल में रचित साहित्य को उचित स्थान दे दिया गया है।

हिन्दी साहित्येतिहास सहयोगी लेखन–परंपरा में इसी ढंग का प्रयास डॉ. धीरेन्द्र वर्मा और डॉ. नगेन्द्र के सम्पादन में हुआ है। डॉ. वर्मा के 'हिन्दी साहित्य' ग्रन्थ को आदिकाल, मध्यकाल आधुनिक काल में विभक्त किया गया है। इसी प्रकार डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1974 में प्रकाशित सहयोगी लेखन परम्परा का इतिहास ग्रन्थ है। डॉ. नगेन्द्र ने हिन्दी साहित्य का आरंभ 10 वीं शताब्दी से न मानकर 7वीं शताब्दी स्वीकार किया है। सरहपा को हिन्दी का पहला कवि माना है। अनेक लेखकों के कारण इन दोनों ग्रंथों में एकरूपता और अन्विति का अभाव दृष्टि गोचर होता है।

- **डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त**

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त द्वारा रचित 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' सन् 1965 में प्रकाशित हुआ। इन्होंने अपने इतिहास–ग्रन्थ को तीन खण्डों में विभक्त किया है। प्रारंभिक काल (सन् 1184–1350) मध्यकाल (सन् 1350–1857) और आधुनिक काल (सन् 1857–1965) डॉ० गुप्त ने अपने इतिहास में साहित्येतिहास लेखन सम्बन्धी सिद्धांतों का विवेचन करके पाश्चात्य विचारकों और इतिहासकारों के चिन्तन का मंथन करके इतिहास की विकास प्रक्रिया का वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने नए शोध के आधार पर काल–विभाजन में मौलिक परिवर्तन प्रस्तुत किए हैं। डॉ. गुप्त द्वारा किया गया काल–विभाजन और नामकरण न तो वैज्ञानिक लगता है और न ही युगीन प्रवृत्तियों का सूचक। प्रारंभिक काल नामकरण तो मिश्रबन्धुओं ने आरंभिक काल नाम से पहले ही दे दिया था। इन्होंने शालिभद्रसूरि को हिन्दी का प्रथम कवि और उसके ग्रंथ 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' को हिन्दी की पहली रचना मानकर, हिन्दी साहित्य का अविर्भाव सन् 1184 से स्वीकार किया है। इससे पहले की रचनाओं को इन्होंने अपभ्रंश भाषा की रचनाएँ मानकर छोड़ दिया है।

• **डॉ० रामखेलावन पाण्डेय**

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा में डॉ. रामखेलावन पाण्डेय द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास' सन् 1969 में प्रकाशित हुआ। इन्होंने अपने इतिहास ग्रन्थ को छः काल–खण्डों में बांटकर, उनका नामकरण इस प्रकार किया। 1. संक्रमण काल (सन् 1000–1400 ई.) 2. संयोजन काल (सन् 1401–1600 ई.) 3. संवर्धन काल (सन् 1601–1800 ई.) 4. संचयन काल (सन् 1801–1900 ई.) 5. संबोधि काल (सन् 1901–1947 ई.) 6. संचरण काल (सन् 1947 – आज तक) पाण्डेय जी के विभिन्न काल–खण्ड नवीन तो लगते हैं, परन्तु सार्थक नहीं। इनका काल–विभाजन तो डॉ. 'रसाल' जैसा ही प्रतीत होता है। वास्तव में इनके इतिहास–ग्रन्थ में अनुप्रसंगकिता अधिक लगती है, साहित्यिक प्रवृत्ति, अन्तरंग स्थिति, अन्वेषण और सांस्कृतिक चेतना कम दिखाई पड़ती है।

• **डॉ० हरिश्चंद्र वर्मा और डॉ० रामनिवास गुप्त**

शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परंपरा के अनेक इतिहास ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा एवं डॉ. रामनिवास गुप्त द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1982 में प्रकाशित हुआ। डॉ. वर्मा ने अपने इतिहास ग्रन्थ को पांचकाल–खण्डों में विभक्त कर सर्वप्रथम परंपरागत विभाजन एवं नामकरण करने का प्रयास किया है। इन्होंने इस ग्रन्थ में युगगत विभाजन एवं प्रवृत्तिगत विभाजन करके समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। डॉ. वर्मा ने ब्रजसेन सूरिभकृत 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' को हिन्दी की पहली रचना मानकर, हिन्दी साहित्य का आविर्भाव सन् 1168 ई. स्वीकार किया है। भक्तिकाल और रीतिकाल नाम आचार्य शुक्ल के आधार पर ज्यों–के–त्यों स्वीकार किये हैं। आधुनिक काल को इन्होंने 'राष्ट्रीय जागरण' काल कहा है।

• **डॉ० बच्चन सिंह**

शताब्दी के अन्तिम दशक में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा में डॉ. बच्चन सिंह द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' सन् 1996 में प्रकाशित हुआ। संभवतः दूसरा इतिहास कहकर डॉ. बच्चन सिंह यह कहना चाहते हैं कि ''पहला इतिहास तो आचार्य शुक्ल ने लिखा था और दूसरा इतिहास मेरा है।'' वे अपने ग्रंथ की भूमिका से स्पष्ट कर देते हैं कि न तो आचार्य शुक्ल के इतिहास को लेकर नया इतिहास लिखा जा सकता है और न ही उसे छोड़कर। साहित्येतिहास के अध्येताओं और शोध को इस बात को खुले मन से स्पष्ट किया है कि डॉ. सिंह का इतिहास एक विशेष विचारधारा को पुष्ट करते हुए, आधुनिक काल की विपुल सामग्री संजोए हुए है। इन्होंने आदिकाल को अपभ्रंश काल कहा है। हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारों और साहित्यिक कृतियों का मौलिक दृष्टि से मूल्यांकन प्रस्तुत करने से डॉ. सिंह के ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ गया है।

*** स्व–मूल्यांकनः (ग)**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय से आपने विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए हिन्दी साहित्येतिहास की लेखन–परंपरा का अध्ययन कर लिया है। अब आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक कर सकते हैं।

1. श्री सूर्यकान्त शास्त्री ने लाहौर से 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' नाम से ग्रंथ का प्रकाशन कब कराया है?

(क) 1998 (ख) 1997 (ग) 1999 (घ) 1987

2. डॉ. बच्चन सिंह द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' प्रकाशित हुआ।

(क) सन् 1996 में (ख) सन् 1997 में (ग) सन् 1998 में (घ) सन् 1999 में

3. डॉ. रामखेलावन पाण्डेय द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास' प्रकाशित हुआ।

(क) सन् 1969 में (ख) सन् 1997 में (ग) सन् 1997 में (घ) सन् 1996 में

4. 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' किसके द्वारा लिखित है।

(क डॉ. बच्चन सिंह (ख) श्री सूर्यकान्त शास्त्र (ग) डॉ० हरिश्चंद्र वर्मा (घ) डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त

5. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' ग्रन्थ' किसके द्वारा लिखित है।

(क डॉ. बच्चन सिंह (ख) डॉ० रामकुमार वर्मा (ग) डॉ० हरिश्चंद्र वर्मा (घ) डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त

6. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा साहित्येतिहास संबंधी लिखित ग्रन्थ हैं।

(क) हिन्दी साहित्य का आदिकाल'

(ख) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

(ग) ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर'

(घ) हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास

2.4. निष्कर्ष

इस अध्याय के अध्ययनोपरान्त आपने जाना कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन–परंपरा में 20 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों और 21 वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में अद्यतन प्रयासों के अन्तर्गत डॉ. विजयेन्द्र स्नातक कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सन् 1996), डॉ. हुकुमचन्द राजपाल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सन् 1997), डॉ. रामप्रसाद मिश्र कृत 'हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक इतिहास' (दो खण्डों में सन् 1998), डॉ. लालचन्द गुप्त 'मंगल' कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सन् 1999) और डॉ. बहादुर सिंह कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सन् 2002) अपनी नवीन उपयोगी सामग्री वाले चर्चित इतिहास ग्रंथ हैं। वस्तुतः हिन्दी साहित्य के इतिहास की लेखन–परंपरा गार्सा द तॉसी से प्रारंभ होकर डेढ सौ (150) वर्षों से अधिक की यात्रा करती हुई, आज तक जारी है।

2.5 कठिन शब्द

1. परंपरा – प्रथा, प्रणाली
2. विश्वसनीय – विश्वास के योग्य
3. विश्लेषण –छानबीन करना
4. विवेचन – अनुसंधान
5. मौलिक – वास्तविक

2.6. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा को स्पष्ट कीजिए।

____

____

____

____

2. हिन्दी साहित्येतिहास के प्रमुख इतिहासकारों और उनके ग्रन्थों पर प्रकाश डालिए।

____

____

____

____

____

2.7. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. फ्रैंच भाषा 2. 'शिवसिंह सरोज' 3. 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान' 4. 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' 5. 'हिन्दी भाषा साहित्य

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. सही 2. सही 3. गलत 4. गलत 5. सही

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. 1987 2. सन् 1996 में 3. सन् 1969 में 4. डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त 5. डॉ० रामकुमार वर्मा 6. हिन्दी साहित्य का आदिकाल

2.8. पठनीय पुस्तकें

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण,– 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

साहित्येतिहास पुनर्लेखन की समस्या

रूपरेखा

3.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
3.2. प्रस्तावना
3.3. साहित्येतिहास पुनर्लेखन की समस्या
- गार्सा द तॉसी

* स्व–मूल्यांकन : (क)
- नामकरण और पुनर्लेखन
- कालविभाजन और पुनर्लेखन
- अज्ञात, अल्पचर्चित साहित्य सामग्री और पुनर्लेखन

* स्व–मूल्यांकन : (ख)
- इक्कीसवीं शताब्दी में विकसित विधाएं और पुनर्लेखन
- भाषाओं का संदर्भ और पुनर्लेखन
- दक्षिण की भाषाओं का साहित्य और पुनर्लेखन
- साहित्यकारों के जीवनवृत्त और पुनर्लेखन
- आधुनिक युगबोध और पुनर्लेखन
- प्रवासी साहित्य और पुनर्लेखन

* स्व–मूल्यांकनः (ग)

3.4. निष्कर्ष
3.5. कठिन शब्द
3.6. अभ्यासार्थ प्रश्न
3.7. उत्तर कुंजी
3.8. पठनीय पुस्तकें

3.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणामः

- साहित्येतिहास लेखन की जानकारी प्राप्त करवाना।
- साहित्येतिहास के पुनर्लेखन से सुपरिचित करवाना।
- साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याओं को समझाना।
- साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याओं के समाधान का ज्ञान प्राप्त करवाना।

इस अध्याय का विस्तार से अध्ययन करने के उपरान्त आप हिन्दी साहित्येतिहास पुनर्लेखन की समस्याओं से अवगत होंगे।

3.2. प्रस्तावनाः

प्रिय विद्यार्थी ! साहित्येतिहास लेखन का एक प्रमुख आधार वैज्ञानिक और वस्तुपरक पद्धति है, जिसे लेखकों, साहित्यकारों व कवियों पर कालक्रमानुसार आलेखों की माला तैयार करके सूत्रबद्ध किया जा सकता है। इसमें ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत मूल्यांकन, पुनर्मूल्यांकन, पुनर्लेखन और युगबोध सम्बन्धी समस्याएं अन्तर्निहित हैं। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर विद्यार्थी निम्नलिखित उद्देश्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

3.3. साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याः

साहित्य और इतिहास की पुनर्लेखन की समस्या के विषय में सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि किसी साहित्य का इतिहास कैसे लिखा जाए? इस प्रसंग में विद्वानों के अनेक मत हैं और कोई भी मत सर्वथा निर्भ्रांत अथवा सर्वमान्य नहीं। यह स्पष्ट है कि अभी तक किसी भी भाषा के साहित्य का इतिहास ऐसा नहीं है, जिसकी पद्धति को सर्वथा प्रामाणिक मानकर दूसरे इतिहासों के लिए आदर्श मान लिया जाए। इसके कई कारण हैं–साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन, पुनर्मूल्यांकन की बदलती हुई दृष्टि, विभिन्न आलोचना पद्धतियां, मूल्यांकन के नवीन मापदण्ड, विकास के उपक्रम की वैज्ञानिक प्रवृत्यात्मक अथवा संरचनात्मक व्याख्याएं तथा कालक्रम या सम्प्रदायों के अनुसार अध्ययन करने और आधुनिक भाव बोध जैसी समस्याएं उपस्थित होती हैं।

साहित्य और इतिहास लेखन का एक आधार वैज्ञानिक पद्धति है। इसके अन्तर्गत वस्तुनिष्ठता, निर्वैयक्तिकता, निश्चितता, वैज्ञानिक आदर्शों के समक्ष निरपेक्ष तथ्यों के संकलन, कार्यकरण परम्परा एवं मूल स्रोत के अध्ययन के प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों का अनुसरण करने का प्रयास किया जाता है। जीव वैज्ञानिक संकल्पनाओं के प्रयोग की पद्धति भी साहित्य और इतिहास के लेखन के लिए सार्थक नहीं मानी जाती।

साहित्य और इतिहास लेखन की दूसरी पद्धति में अलग–अलग लेखकों पर लेखों की एक माला तैयार करके एक सूत्र में पिरोने की चेष्टा की जाती है। साहित्य और इतिहास का सर्वाधिक आधार ऐतिहासिक विकास क्रम की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। आज हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है। साहित्य चेतना का विकास और नवीन शोध इसके स्पष्ट कारण हैं। डॉ. नगेन्द्र ने साहित्य और इतिहास के पुनर्लेखन के संदर्भ में दो मौलिक प्रश्न गिनाए हैं–हिन्दी का स्वरूप विस्तार कहां तक है? साहित्य की सीमा क्या है ? हिन्दी के स्वरूप–विस्तार का प्रश्न कुछ राजनीतिक कारणों से उलझ गया है। हिन्दी के विद्वान और अन्य भाषाविद् आरम्भ से ही यह स्वीकार करते आये हैं कि भारतवर्ष के जितने भू भाग में वर्तमान हिन्दी या खड़ी बोली हिन्दी सामाजिक व्यवहार अर्थात् पत्राचार, शिक्षा–दीक्षा, सार्वजनिक आयोजन, विचार–विनिमय तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति आदि की माध्यम भाषा है, वह सब का सब हिन्दी प्रदेश है और उसके अन्तर्गत बोली जाने वाली सभी भाषाएं हिन्दी की उपभाषाएं हैं। इस दृष्टि से वर्तमान बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश व दिल्ली का इलाका हिन्दी क्षेत्र में आते हैं और मैथिली, मगधी, भोजपुरी, पूर्वी अवधी, पश्चिमी अवधी, ब्रज कन्नौजी, बुन्देलखण्डी, राजस्थानी के विभिन्न रूप, कुमाऊंनी आदि पहाड़ी बोलियां हिन्दी की शाखा–प्रशाखाएं हैं। यह परिभाषा नयी नहीं हैं, इसका स्वरूप उस समय निर्धारित हो गया था जब भाषायी राज्यों और उनके प्रलोभनों की कल्पना भी किसी को नहीं थी। हिन्दी का यह 'बृहत्तर' या 'विशाल'–यानि राजनीतिक उद्देश्यों से विस्तारित रूप नहीं है, स्वाभाविक तर्कसम्मत रूप है, जिसके विषय में अभी कुछ समय पूर्व तक कोई विवाद नहीं था। लेकिन अब लगभग पांच–छह वर्षों से यह विवाद जोर पकड़ रहा है। एक मत यह है कि हिन्दी का अर्थ वर्तमान हिन्दी या खड़ीबोली हिन्दी ही है। मैथिली और राजस्थानी तो स्वतन्त्र भाषाएं हैं ही–भाषाविज्ञान के आधार पर उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति हिन्दी से अत्यन्त भिन्न हैं अवधी और ब्रज का भी अपना पृथक् अस्तित्व है–ये दोनों एक दूसरे से भी भिन्न हैं और वर्तमान हिन्दी से भी। यह नारा हिन्दी–विरोधी शिविर से

उठाया गया है और हिन्दी के भी कुछ एक अधिक प्रगतिशील लेखक इसमें शामिल हो गये हैं। मैथिली को तो साहित्य अकादमी जैसी संस्था ने मान्यता दे ही दी है और उनके साहित्य के स्वतन्त्र प्रकाशन तथा अध्ययन–अध्यापन का क्रम चलने लगा है। उधर राजस्थानी का आन्दोलन भी जारी है और उसके लिए भी इस प्रकार के प्रयास आरम्भ हो गए हैं। ब्रज तथा अवधी जिनका साहित्य कहीं अधिक समृद्ध है और भी औचित्यपूर्वक यह दावा कर सकती है। दूसरा मत विस्तारवादी है, जिसके अनुसार उर्दू भी हिन्दी की ही उपभाषा है और ब्रजभाषा आदि की तरह उर्दू का साहित्य भी हिन्दी–साहित्य का ही अंग है। नागरी प्रचारिणी सभा तथा भारतीय हिन्दी–परिषद् के इतिहासों में उर्दू साहित्य के विकास का भी निरूपण किया गया है।

इस विषय में हमें सन्तुलित दृष्टि से विचार करना चाहिए। एक बात तो यह साफ है कि उर्दू का हिन्दी–साहित्य के इतिहास में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है–प्रसाद और इकबाल को एक ही भाषा के कवि मानना संगत नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों में कुछ तत्व समान हैं, परन्तु असमान तत्व कहीं अधिक है। अतः हिन्दी साहित्य के इतिहास में उर्दू के समावेश का बरबस प्रयास करना व्यर्थ है, मैथिली और राजस्थानी साहित्य का इतिहास आदिकाल से ही हिन्दी–साहित्य के साथ सम्बद्ध रहा है और विद्यापति, चन्द, नरपति नाल्ह, पृथ्वीराज आदि कवियों को हिन्दी–साहित्य के इतिहास में निरन्तर महत्त्व पूर्ण स्थान प्राप्त होता रहा है। परन्तु भाषा की कठिनाई के कारण, साथ ही पर्याप्त शोध –सामग्री का प्रकाश ना होने से, इन भाषाओं के कवि–लेखकों तथा उनकी कृतियों के साथ उचित न्याय नहीं हुआ। परवर्ती शोध के परिणामस्वरूप इन दोनों भाषाओं का समृद्ध साहित्य प्रकाश में आया है। राजस्थानी में रासो, मुक्तक वीरकाव्य तथा नीतिकाव्य की समृद्ध परम्परा तथा गद्य के विविध रूपों के पुष्ट उदाहरण मिलते हैं और उधर मैथिली के गीतिकाव्य का माधुर्य भी अपूर्व है। इसी प्रकार गुरुमुखी के लिपिबद्ध, हिन्दी गद्य–पद्य के प्रचुर साहित्य आज उपलब्ध है, जिससे हिन्दी साहित्य का इतिहासकार या तो अनभिज्ञ रहा है या पंजाबी की रचनाएं समझकर उनकी उपेक्षा करता रहा है। इस सम्पूर्ण वाङमय का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विवेकपूर्वक उपयोग करना चाहिए क्योंकि हिन्दी की सही परिभाषा के अनुसार यह हिन्दी साहित्य का ही अंग है।

कुछ ऐसी ही शंका आदिकाल की हिन्दी के विषय में भी उठती है। उस समय की हिन्दी का स्वरूप अपभ्रंश, डिंगल–पिंगल और सीमावर्ती क्षेत्रों में गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं के साथ इस प्रकार उलझा हुआ है कि इतिहासकार भ्रम में पड़ जाता है। वह वस्तुतः भारतीय भाषाओं का उद्‌भव काल है, जिसमें प्रायः सभी के स्वरूप अनिश्चित और अस्थिर हैं। इसीलिए हिन्दी में भी कुछेक पूर्ववर्ती और निकटवर्ती भाषा–रूपों का अन्तर्भाव हो जाना स्वाभाविक है। अतः इस विषय में अधिक शुद्धतावादी दृष्टिकोण अपनाना ठीक नहीं होगा। व्यावहारिक दृष्टिकोण यही है कि ऐसी सभी रचनाओं को, जिनके अधिकांश भाषिक रूप हिन्दी की उपभाषाओं के भाषिक रूपों से अभिन्न है, हिन्दी के अन्तर्गत मान लेना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि इतिहास के सन्दर्भ में साहित्य की सीमा कहां तक मानी जाये। सत्य तो यह है कि इस विषय में भी हमारा दृष्टिकोण व्यापक ही होना चाहिए और रस के साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान के साहित्य का भी अन्तर्भाव करना चाहिए। यह ठीक है कि साहित्य का अर्थ मूलतः यहां भी सृजनात्मक साहित्य ही है और एक सीमा से आगे सम्पूर्ण वाङ्मय को उसके साथ समेटना सम्भव नहीं है। मध्ययुग में आयुर्वेद, ज्योतिष आदि शास्त्र तथा साम्प्रदायिक साहित्य आदि सभी कुछ पद्य में भी लिखित हैं और गद्य में भी अनेक कच्ची–पक्की टीकाएं, वचनिकाएं, वार्ताएं, ख्यातें और बातें मिलती हैं। इधर आधुनिक युग में ज्ञान–विज्ञान के असंख्य ग्रन्थों की रचना निरन्तर हो रही है। यह सब साहित्य के अन्तर्गत तो नहीं आ सकता, लेकिन इस प्रकार के समस्त वाङ्मय का नियमतः त्याग करना भी उचित नहीं है। उदाहरण के लिए, आदिकाल में रचित गोरखनाथ आदि की बानी या परवर्ती युग का वार्ता–साहित्य शुद्ध साहित्य की परिधि में नहीं आता किन्तु क्या इतिहासकार उनकी उपेक्षा कर सकता है? उनके अभाव में विकास–परम्परा

की कुछ आवश्यक कड़ियां लुप्त हो जायेंगी। आधुनिक काल के आरम्भ में रचित स्वामी दयानन्द का 'सत्यार्थप्रकाश' निश्चय ही ललित साहित्य का अंग नहीं है, परन्तु क्या आलोचना की भाषा के विकास का अध्ययन उसके बिना सम्भव है? इसी प्रकार वर्तमान युग में भी ज्ञान के साहित्य के ऐसे अनेक गौरव–ग्रन्थ हैं, जिनका उल्लेख इतिहास में करना अनिवार्य है। एक ओर भाषाविज्ञान, अध्याय विज्ञान, कोष विज्ञान, पत्रकारिता आदि और दूसरी ओर दर्शन, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र आदि के क्षेत्रों की उपलब्धियाँ कथ्य की दृष्टि से साहित्य के अन्तर्गत भले ही नहीं आतीं, किन्तु वे प्रकारान्तर से गद्य–शैली के विकास में योगदान करती है इसका निषेद नहीं किया जा सकता। अतः इतिहासकार को यहां भी विवेकपूर्वक, प्रमुख और गौण का भेद करते हुए, वाङ्मय के दोनों रूपों को स्वीकार करके चलना चाहिए।

*** स्व–मूल्यांकनः (क)**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थकता देगा।

रिक्त स्थान भरेंः

1 डॉ. नगेन्द्र ने साहित्य और इतिहास के पुनर्लेखन के संदर्भ में दो मौलिक प्रश्न गिनाए हैं.......................................।

2 साहित्य और इतिहास लेखन का एक आधार..।

3 प्रसाद और इकबाल को एक ही ....।

4 डां. रमेश चन्द ने साहित्येतिहास के नामकरण में तीन बातों को प्रमुख बताया है ....।

साहित्य और इतिहास की पुनर्लेखन की समस्याओं एवं उनके समाधान को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है।

• नामकरण और पुनर्लेखन :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर आज तक अनेक विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालों का नामकरण करने का प्रयास किया है और सामान्यतः शुक्ल जी की परम्परा का अनुसरण किया है। नए ढंग से हिन्दी साहित्येतिहास के नामकरण करने और पुनर्लेखन में तीन साहित्येतिहासकारों के प्रयास प्रशंसनीय हैं, जिनमें डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त द्वारा किया गया नामकरण, डॉ. बच्चन सिंह द्वारा किया गया नामकरण और डॉ. रमेश चन्द के नवीनतम शोध में नई बातों का खुलासा किया गया है। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने अपने इतिहास में परम्परागत नामकरण पर पुनर्विचार करने के पश्चात यह निष्कर्ष दिया है कि विभिन्न युगों में अनेक धाराएं तथा अनेक प्रवृत्तियां साथ–साथ विकसित होती रही हैं, जिनका परिचय परम्परागत नामकरण में नहीं मिलता। उन्होंने नए अनुसंधान एवं नई रचनाओं को भी साहित्येतिहास में स्थान देना आवश्यक माना है। डॉ. बच्चन सिंह ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि न तो आचार्य शुक्ल के इतिहास को लेकर नया इतिहास लिखा जा सकता है और न ही उसे छोड़कर। उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रथमकाल को अपभ्रंश नाम दिया है, जो स्वीकार्य नहीं हुआ। शेषकालों के नाम शुक्ल जी के नामकरण पर आधारित हैं। डॉ. रमेश चन्द ने साहित्येतिहास के नामकरण में तीन बातों को प्रमुख बताया है युगगत नामकरण, धारागत नामकरण और विधागत नामकरण। उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का नामकरण साहित्यिक चेतना अथवा प्रवृत्ति के आधार पर स्वीकार किया है। प्रत्येक युग के अन्तर्गत आने वाली काव्यधाराओं एवं गद्य धाराओं को स्थान देना भी समुचित माना है। वास्तव में इनके द्वारा किया गया नामकरण सराहनीय है।

- **कालविभाजन और पुनर्लेखन :**

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभाजित किया। उनके द्वारा दिया गया वीरगाथा काल नाम अनुचित ठहराया जा चुका है और अभी तक इसे प्रवृत्तिमूलक कोई नया नाम सर्वस्वीकृत नहीं दिया जा सका है। ऐसी स्थिति में आदिकाल को ही स्वीकार किया गया है। भक्तिकाल प्रवृत्ति सूचक नाम है। यह नाम आज तक चल रहा है। कृष्ण भक्ति काव्य में अनेक सम्प्रदाय हैं। वल्लभ सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय, रसिक सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय आदि। इन सम्प्रदायों का विपुल साहित्य उपलब्ध है। इस पर आज विचार करना अपेक्षित है। हिन्दी में भक्तिकाव्य का मूल कारण क्या है? इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के विचारों का खण्डन हो चुका है और दक्षिण से भक्ति आंदोलन के आने की बात भी बहुज्ञात है। जहाँ मुसलमानों का प्रवेश उस समय तक हो ही नहीं सका था। इस पक्ष पर स्पष्ट विवेचन आवश्यक है। रीतिकाल बहुत प्रचलित नाम है। परन्तु श्रृंगार काल उससे भी अधिक व्यापक नाम है। रीतिकाल का विवेचन जिस ढंग से शुक्ल जी ने किया था उसी परम्परा पर आज के साहित्येतिहासकार भी चल रहे हैं। रसवादी आचार्य, अलंकारवादी, आचार्य, छन्दवादी आचार्य, सर्वांनिरूपक आचार्य आदि भेद कृत्रिम हैं, जो एक–एक कवि को अलग–अलग ढंग से देखने के लिए प्रेरित करते हैं। वास्तव में कवि या साहित्यकार समग्र होता है, अलग–अलग नहीं। इस प्रकार हिन्दी का विपुल साहित्य विवेचित होने से वंचित हो जाता है। आचार्य शुक्ल के साथ–साथ डॉ. नगेन्द्र, डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हरिश्चंद्र वर्मा और रमेश चन्द ने भी काल विभाजन करने के प्रयास किए हैं। रमेश चन्द द्वारा किया गया काल विभाजन युग रूप में, धारा रूप में और विधा रूप में होने से निम्न रूप में सामने आता है

1. **रासोकाल** (1150 से 1400 ई. तक)
   - (क) धार्मिक रासो काव्यधारा
   - (ख) पौराणिक रासो काव्यधारा
   - (ग) प्रेममूलक रासो काव्यधारा
   - (घ) ऐतिहासिक रासो काव्यधारा
2. **भक्तिकाल** (1400 से 1600 ई. तक)
   - (क) संत काव्यधारा
   - (ख) प्रेमकथा काव्यधारा
   - (ग) राम भक्ति काव्यधारा
   - (घ) कृष्ण भक्ति काव्यधारा
3. **रीतिकाल** (1600 से 1857 ई. तक)
   - (क) रीतिबद्ध काव्यधारा
   - (ख) रीतिसिद्ध काव्यधारा
   - (ग) रीतिमुक्त श्रृंगारी काव्यधारा
   - (घ) प्रेमकथा काव्यधारा

(ङ) भक्ति काव्यधारा

(च) ऐतिहासिक काव्यधारा

4. **राष्ट्रीय जागरण काल** (1857 से 1947 ई.)

(अ) कविता खण्ड

(क) सुधारवादी काव्यधारा

(ख) छायावादी काव्यधारा

(ग) प्रगतिवादी काव्यधारा

(घ) प्रयोगवादी काव्यधारा

(आ) गद्य विधाएँ

नाटक, एकांकी, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि।

5. **नवीन युगबोध काल** (1947 से 2000 ई.)

(अ) कविता खण्ड

(क) नयी कविता की मुक्तक काव्यधारा

(ख) नवगीत धारा

(ग) लम्बी कविता की धारा

(घ) नाट्य काव्य एवं प्रबंध काव्यधारा

(ङ) नवप्रगतिवादी (जनवादी) काव्यधारा

(आ) गद्य–विधाएँ

नाटक, एकांकी, कहानी, उपन्यास, निबंध, आलोचना, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज आदि।

- **अज्ञात, अल्पचर्चित, अचर्चित साहित्य सामग्री और पुनर्लेखन**

हिन्दी साहित्य इतिहास के पुनर्लेखन में अज्ञात, अल्पचर्चित और अचर्चित रचनाओं का समावेश आवश्यक है। आदिकालीन रचनाओं की पूरी जानकारी हमारे सामने आज तक नहीं है। स्वयंभू और पुष्पदन्त की रचनाओं की खोज की जानी चाहिए और उसे इतिहास लेखन का अंग मानना चाहिए। इसी प्रकार भक्तिकाल की भी अनेक रचनाएं प्रकाश के गर्त में डूबी पड़ी हैं, उनको खोजने की आवश्यकता है, जिससे इतिहास लेखन को एक नई दिशा मिलने की संभावना है। रीतिकाल में भी इस प्रकार की अनेक रचनाएं हैं, जिनका उपयोग साहित्येतिहास लेखन में किया जा सकता है। डॉ. जयभगवान गोयल ने रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन में ऐसी अनेक रचनाओं का उल्लेख किया है। रीतिकाल के ऐसे सैंकड़ों कवि हैं, जिनका इतिहास में उल्लेख भी नहीं हुआ है। ऐसे कवियों और उनकी रचनाओं को प्रस्तुत करने से साहित्येतिहास के पुनर्लेखन में नवीन संभावनाएं हो सकती हैं। डॉ. रामपत यादव ने रीतिकाल की अज्ञात, अल्पचर्चित रचनाओं की सूची इस प्रकार दी है

क्र.	रचना	रचनाकार	संवत्
1.	बखत विलास	भोगीलाल	1856
2.	साहित्य सुधाकर	भोगीलाल	1862
3.	वाणी–भूषण	उम्मेदराम बारेठ	1861
4.	कृष्ण साहित्य सिन्धु	मनीराम	1891
5.	भूषण साहित्य रस	हरिनाथ	1892
6.	रस आवाज विनोद	दुख भंजन	1821
7.	काव्य–कुतुहल	चतुरसाल राठौर	1686
8.	छन्द–सुधा	चन्द	अज्ञात
9.	पिंगल–शास्त्र	सुखदेव मिश्र	1896
10.	रस–चन्द्रोय	उदयनाथ	1804
11.	रस–तरंगिणी	शम्भुनाथ मिश्र	1886
12.	रस दर्पण	नागर	1821
13.	रस शिरोमणि	रामसिंह	1912
14.	रसिक–रंजनी	चतुरसाल	1877
15.	वृत्त–बोधिनी	चतुरसाल	1889
16.	व्यंग्यार्थ कौमुदी	प्रताप साहि	1882
17.	शिवदान चन्द्रिका	मान	1900
18.	अलंकार–मंजरी	रामलाल	1897
19.	छन्द–सार	रामलाल	1882–1909
20.	बजेन्द्र विनोद	मोतीराम	1885
21.	शृंगार–तिलक	ब्रजचन्द	1895

*** स्व–मूल्यांकन : (ख)**

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन करें।

बहुविकल्पीय प्रश्न :

1 बखत विलास के रचनाकार हैं।

(क) भोगीलाल (ख) मोतीराम (ग) ब्रजचन्द (घ) रामलाल

2 अलंकार–मंजरी के रचनाकार हैं।

(क) रामलाल (ख) शम्भुनाथ मिश्र (ग) मोतीराम (घ) ब्रजचन्द

3 रस–तरंगिणी के रचनाकार हैं।

(क) शम्भुनाथ मिश्र (ख) शम्भुनाथ मिश्र (ग) मोतीराम (घ) ब्रजचन्द

4 पिंगल–शास्त्र के रचनाकार हैं।

(क) सुखदेव मिश्र (ख) शम्भुनाथ मिश्र (ग) मोतीराम (घ) ब्रजचन्द

• इक्कीसवीं शताब्दीः विकसित विधाएं और पुनर्लेखन

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में पद्य के साथ–साथ गद्य का बहुमुखी प्रचार और प्रसार हुआ। बीसवीं शताब्दी में गद्य के रूप में संस्मरण, रेखाचित्र, साक्षात्कार, डायरी, यात्रावृत, लघुकथा, बाल साहित्य, दलित साहित्य प्रकाश में आया है, जिसको साहित्येतिहास लेखन में समुचित महत्त्व नहीं मिला है। इस दृष्टि से भी विचार करने की आवश्यकता है। इसके साथ–साथ बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में काव्य की नवीन विधाएं हाईकू, नवगीत, दलित काव्य का विकास भी खूब हुआ है। कविता के अनेक आन्दोलन भी सामने आए हैं। इन पर भी विचार करना जरूरी है। यदि इनको साहित्य में उचित स्थान दे दिया जाए, तो साहित्येतिहास के पुनर्लेखन में कुछ ना कुछ मदद जरूर मिलेगी।

• भाषाओं का संदर्भ और पुनर्लेखन

हिन्दी साहित्य के इतिहास के आदिकाल में हमारे लेखकों ने विद्यापति को बड़े गौरव का स्थान दिया है। विद्यापति का समय 1380–1460 ई. (सं० 1437–1517 वि.) है। आदिकाल को सं. 1050–1375 तक माना गया है। आदिकाल की समाप्ति के 62 वर्ष बाद कवि उत्पन्न हुआ, फिर भी उसे आदिकाल के अन्दर अभी तक घसीटा जा रहा है। इसका औचित्य क्या है, इसे इतिहासकार ही जानें। विद्यापति की ख्याति कीर्तिलता और पदावली पर निर्भर है। कीर्तिलता अवहट्ट में विरचित है। अवहट्ट अपभ्रंश का पिछला रूप है, उसी का प्ररोह है। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल के अन्तर्गत अपभ्रंश काल प्रकरण में 'कीर्तिलता' का विवेचन करते हुए विद्यापति को जो आदिकाल में ढकेल दिया, सो आज तक उनका उस आदि–कूप से उद्धार नहीं हो सका। शुक्ल जी इस तथ्य से अवगत थे कि विद्यापति ने आदिकाल के पचास–साठ वर्ष पीछे (सम्वत् 1460 में वर्तमान) अपनी अवहट्ट कृतियों की रचना की पर वे अपभ्रंश –धारा के बहाव में बह गए और उन्होंने विद्यापति–पदावली को 'फुटकर रचनाएँ' के अन्तर्गत प्रकरण चार में स्थान दिया।

यहाँ विद्यापति पर कुछ विस्तार से कहा गया है। यह इसलिए नहीं कहा गया है कि इन्हें आदिकाल में 'क्यों' रखा गया। यह कथन तो प्रसंगतः आ गया। मुख्य विषय है मैथिली का। हिन्दी के इतिहासों में मैथिली कवियों में एकमात्र विद्यापति का विवेचन हुआ है। क्या विद्यापति से लेकर आज तक मैथिली के उच्च कोटि के कवि और साहित्यकार हुए ही नहीं। ग्रियर्सन हिन्दी के प्रथम साहित्यकार हैं। वे मिथिला में बहुत दिनों तक सरकारी सेवा में रहे। उन्होंने अपने 'द मार्डर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' में विद्यापति के अतिरिक्त अन्य अनेक मैथिली कवियों को समाविष्ट किया है। मिश्रबंधुओं ने भी ग्रियर्सन की पद्धति पर चलकर इन मैथिली कवियों को अपने विनोद में स्थान दिया पर जब आचार्य शुक्ल ने एक बार इनकी छँटनी कर दी तब इनका समावेश पुनः नहीं हो सका। अब यदि मैथिली लोग कहें कि जब हिन्दी वाले अत्यन्त रंक और विपन्न थे तब उन्होंने अपने को सम्पन्न बनाने के लिए मैथिली के कवि विद्यापति को अपने यहाँ परम आदर के साथ ऊंचा आसन दिया, जब वे साहित्य की दृष्टि से सुसम्पन्न हो गए, तब उन्होंने मैथिली साहित्य की अवहेलना कर दी, तो उनका यह कहना अनुचित कैसे कहा जा सकता है। विद्यापति को

हिन्दी में लाने का श्रेय न तो मिश्रबंधुओं को है, न आचार्य शुक्ल को। वे हिन्दी की विपन्नता के कारण ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वीकृत हुए। इन्हें हिन्दी का कवि समझकर हिन्दी में लिया गया और इन्हें हिन्दी में लाने का श्रेय एक विदेशी—सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन को है, एक ऐसे व्यक्ति को है, जिसने सभी भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण किया था, जो भाषा—वैज्ञानिक भी था। शुक्ल जी एवं बाद के इतिहासकारों से भूल यह हुई कि उन्होंने विद्यापति को तो स्वीकार किया, उनकी परम्परा में आने वाले अन्य कवियों—गोबिन्ददास, चंदा झा आदि को अस्वीकार कर दिया। इस भूल का परिमार्जन होना चाहिए।

जो बात मैथिली के साथ हुई, वही राजस्थानी के साथ भी हुई। हिन्दी साहित्य का आदिकाल विपन्न था, अतः हमने चंदबरदाई के साथ—साथ अन्य अनेक कवियों को वीरगाथा का रचयिता मानकर आदिकाल के इतिहास को पुष्ट करने का प्रयास किया और यह भी ध्यान नहीं दिया कि इनकी प्राप्त कृतियाँ कितनी प्रामाणिक हैं और इस युग की हैं या नहीं। जब हम सम्पन्न हो गए, तब जैसे राजस्थान के पिंगल और डिंगल के कवियों के काव्य—वै व की हमें अपेक्षा ही नहीं रह गई। हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास में राजस्थान में निर्मित डिंगल पिंगल के साहित्य को समाविष्ट होना ही है। हमारी इसी अनभिज्ञ उपेक्षा के कारण साहित्य—अकादमी में मैथिली अलग मान्यता प्राप्त भाषा हो गई है और राजस्थानी भी हिन्दी से अपने को अलग करने के प्रयास में संलग्न है।

मैथिली के साथ—साथ ब्रजबोली पर भी किंचित विचार अपेक्षित है। चैतन्य महाप्रभु के समय में नदियां (नवद्वीप) में काशी के ही समान संस्कृत का बहुत बड़ा विद्यापीठ था। मैथिल ब्राह्मण भी वहां संस्कृत के अध्ययन के लिए जाते थे। वे अपने साथ विद्यापति के ललित गीत भी ले गए। इन गीतों को सुनकर महाप्रभु चैतन्य देव रस—विपलित हो गए। वे इनका उपयोग कीर्तन रूप में करने लगे और विद्यापति के शृंगारी गीत भक्ति के पद बन गए। विद्यापति के अनुकरण पर कुछ बंगाली कृष्ण—भक्त कवियों ने विद्यापति की भाषा (मैथिली) में पद—रचना की। ऐसे कवि मूलतः बंगला के ही कवि हैं, पर उन्होंने शोकिया रूप से कुछ पद मैथिली में भी रच दिए हैं। इन बंगाली कवियों की मैथिली रचना में यत्र—तत्र बंगला भाषा का भी प्रभाव पड़ गया, फिर भी ये रचनाएं बंगला से भिन्न किसी अन्य भाषा की हैं, जिसे बहुत बाद में अज्ञानवश 'ब्रजबुलि' की संज्ञा दी गई। 'ब्रजबुलि' न तो ब्रज की बोली है, न साहित्य की ब्रज—भाषा ही। विद्यापति की मैथिली के अनुकरण में बंगाली भक्त कवियों द्वारा शोकिया विरचित इन पदों में राधाकृष्ण का विलास वर्णित था। बंगाली आलोचकों ने समझा कि यह राधाकृष्ण की भाषा में, ब्रज की भाषा में विरचित है, अतः उन्होंने इसे 'ब्रजबुलि' नाम दे दिया। 'ब्रजबुलि', का साहित्य केवल बंगाल तक सीमित नहीं रहा है। इसके कर्ता कवि नेपाल, असम एवं उड़ीसा में भी हुए हैं। चैतन्य के बाद तो हुए ही, आधुनिक युग में भी इस भाषा के आकर्षण ने बड़े—बड़ों को मोहित किया और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे विश्व कवि ने छद्म नाम से 'भानु सिंह पदावली' की रचना की। भानुसिंह—रवीन्द्रनाथ—की यह पदावली ब्रजबुलि काव्य का गौरव है। रवीन्द्रनाथ को हिन्दी कवियों में बैठाकर क्या हम गौरवान्वित नहीं हो सकते ? 'ब्रजबुलि' काव्य की उपेक्षा हमारे अज्ञान के कारण हुई है। हिन्दी में समस्त 'ब्रजबुलि' काव्य के एक सुसम्पादित एवं पूर्ण संकलन की नितांत आवश्यकता है। इस ओर आगरा विश्वविद्यालय की कन्हैयालाल माणिकलाल हिन्दी विद्यापीठ दत्तावधान है। असम के महाकवि शंकर देव की रचनाओं को हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने प्रकाशित भी कर दिया है। इस दिशा में हिन्दी में तीन ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, जिनमें से दो शोध—प्रबंध हैं। अब हम लोग ब्रज पुरी साहित्य से परिचित हो चुके हैं और इसका समावेश हिन्दी साहित्य के इतिहास में होना चाहिए। इस सन्निवेशन से हिन्दी साहित्य का इतिहास श्री—सम्पन्न होगा।

इधर गुरुमुखी लिपि में रचित साहित्य भी प्रकाश में आया है। इस साहित्य का उपयोग भी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन में करना चाहिए। इसके साथ—साथ प्रादेशिक स्तर पर लिखे गए साहित्य को पुनर्लेखन में स्थान देना बहुत आवश्यक है। अधिक नहीं तो प्रमुख रचनाओं और रचनाकारों को स्थान दिया ही जा सकता है। इससे इतिहास की

गरिमा बढ़ेगी और कई समस्याओं का निदान भी हो जाएगा और साहित्य के प्रति रुचि भी बढ़गी। यहां यह भी उल्लेखनीय है जनपदीय साहित्य हिन्दी का ही अंग है। जनपदीय भाषाओं और उपभाषाओं में साहित्य भरपूर मात्रा में उपलब्ध है। इसका उपयोग भी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन में आवश्यक है।

- **दक्षिण भाषाओं का साहित्य और पुनर्लेखन**

दिल्ली से जो मुसलमान दक्षिण राज्यों में चले गए। वे अपने साथ दिल्ली की भाषा और संस्कृति भी ले गए। दक्षिण में जाकर उन्होंने दिल्ली की बोलचाल की भाषा में साहित्य की रचना करनी प्रारम्भ कर दी, जिस पर फारसी का प्रभाव भी छाया रहा। आज दक्षिण में अनेक साहित्यकार साहित्यसर्जन में लगे हुए हैं। इस दिशा में डॉ. बाबूराम सक्सेना का ध्यान प्रशंसनीय है। दक्षिण के साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का समावेश भी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन में यदि हो जाए तो सोने में सुहागा हो सकता है।

उर्दू हिन्दी का ही फारसी लिपि में लिखित अरबी फारसी शब्दों से समन्वित रूप है। यह कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है। भाषा की पहचान क्रिया, कारक चिन्ह, सर्वनाम एवं अव्यय से होती है। संज्ञाएं उसमें देशी विदेशी सभी हो सकती हैं। उर्दू में मुख्यतया संज्ञाएं ही विदेशी हैं। अपादान एवं अधिकरण कारकों के फारसी रूप 'अज' और 'दर' भी यदा–कदा मिल जाते हैं। कुछ विशेषण भी फारसी के मिल जाते हैं। अन्यथा सारी पदावली हिन्दी की है। 'मैं गया' हिन्दी है। इसका उर्दू रूप भी यही होगा। बिना हिन्दी की सहायता के उर्दू का एक भी वाक्य नहीं बन सकता। उर्दू की सृष्टि फारसी के ह्रस–काल में अपना विशेष बिलगाव बनाए रखने के लिए दिल्ली के लालकिले–उर्दू–ए–मुअल्ला–में रईसों, अमीरों द्वारा मुहम्मदशाह रंगीले के जमाने में की गई। बिलगाव का सबसे बड़ा सहारा फारसी लिपि हुई। कालांतर में राजनीति ने भी इस बिलगाव की आग को विरोध की हवा दी। यदि उर्दू भी भारत की देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती और उस पर राजनीति का कुप्रभाव न पड़ता, तो हिन्दी और उर्दू में आज यह अन्तर न रहता। हिन्दुस्तानी हिन्दी और उर्दू दोनों के समन्वय के लिए ही निकाली गई, पर चूंकि हमारे दिल साफ नहीं थे, अतः यह सफल नहीं हो सकी। भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर अब हिन्दी वाले उर्दू को हिन्दी की एक विभाषा कहने लगे हैं। पर केवल कहने से काम नहीं चलेगा। उर्दू को हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान देना होगा और पाठ्यक्रम में भी इसका समावेश करना होगा। उर्दू काव्य का नागरी लिपि में प्रकाश न धड़ल्ले से हो रहा है और हिन्दी वालों ने इसका हार्दिक स्वागत किया है। इस दिशा में प्रथम विराट कार्य पं. राम नरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' भाग 4 के द्वारा किया था। इसमें 34 प्रमुख उर्दू कवियों का परिचय एवं उनकी कविता के विषद उदाहरण संकलित हैं। अलग–अलग कवियों के तो बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी में उर्दू के कईं इतिहास भी लिखे जा चुके हैं।

इस प्रकार मैथिली, ब्रजबुली, राजस्थानी, दक्खिनी और उर्दू का हिन्दी के बृहत् इतिहास में उचित समावेश होना चाहिए। अवधी, ब्रजभाषा और खड़ीबोली के साहित्य का तो पूर्ण विवेचन उसमें मिलता ही है।

भाषा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदिकाल कुछ उलझा हुआ है। यहां अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी पर कुछ विचार अपेक्षित हैं। 'पुरानी हिन्दी' शब्द चंद्रधर शर्मा गुलेरी का दिया हुआ है। हिन्दी अपभ्रंश से निकाली है, स्वयं अपभ्रंश हिन्दी नहीं है। प्रारम्भिक विकासमान हिन्दी पर अपभ्रंश का पूरा प्रभाव है। हिन्दी इस प्रभाव से धीरे–धीरे मुक्त होती गई है। इस विकासमान भाषा को अपभ्रंश का उत्तर कालीन एवं हिन्दी का पूर्वकालीन रूप कहा जा सकता है। 'कीर्तिलता' की अवहट्ट यही बीच की भाषा है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'गंगा' के 'पुरातत्त्वांक' में सिद्धों की कविता को हिन्दी का प्राचीनतम काव्य कहा था और उनके अनुसार मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' में पूर्ण रूप से एवं आचार्य शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास में किंचित हिचक–कास नास–के साथ इन सिद्धों को स्थान दिया है। राहुल जी ने बाद में 'हिन्दी काव्य धारा' प्रथम

भाग का संकलन संपादन किया, इसमें अपभ्रंश के कवियों का परिचय और उनके काव्य के उद्धरण दिए गए हैं। अत्यन्त उत्साह में आकर राहुल जी ने इन्हें हिन्दी की प्राचीनतम निधि कहा है। पर जब उनका उत्साह कुछ ढीला पड़ा, तब उन्होंने इस पोथी का नया नाम 'अपभ्रंश काव्य–धारा' रखना पसन्द किया। मूल प्रस्तावक ही अपने प्रस्ताव को वापस लेने के लिए तैयार हो गया। पर प्रस्ताव साहित्य–सदन में आ गया है और प्रस्ताव प्रस्तावक की मरजी पर नहीं छोड़ा जा सकता। इस पर पर्याप्त विचार–मंथन भी हो चुका है। हम संपूर्ण अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास में समाविष्ट नहीं कर सकते। साथ ही उस युग में लिखित समस्त साहित्य को छोड़ भी नहीं सकते। आचार्य शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास में अपभ्रंश और देशी भाषा के साहित्य की विवेचना एक साथ की है। एक ही समय में कुछ कवि उस समय की साहित्यिक–परिनिष्ठित– अपभ्रंश में रचना कर रहे थे, कुछ कवि उस समय की बोलचाल की भाषा में, जिस पर अपभ्रंश का हलका–सा प्रभाव बना हुआ था। इस विभेद को ध्यान में रखते हुए हमें आदिकाल में पुरानी हिन्दी का समावेश करना होगा। हमें जहां सारे अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी में समाविष्ट करने के लोभ की अति से बचना होगा, वहीं उस युग की देशी भाषा में विरचित साहित्य को भी साहित्यिक अपभ्रंश समझकर उसे पूर्णतया परित्यक्त कर देने की अति से भी। हम न तो सरहपा आदि सिद्धों को परित्याग सकते हैं, न पुष्पदन्त और स्वयंभू आदि को परिग्रहण ही कर सकते हैं। यहां हमें थोड़ा सयंमशील एवं विवेक–सम्पन्न होने की आवश्यकता है।

- **साहित्यकारों के जीवनवृत्त और पुनर्लेखन**

मिश्रबंधुओं ने अपने 'मिश्रबंधु–विनोद' में अधिक से अधिक कवियों को समाविष्ट करने का प्रयास किया है शुक्ल जी ने केवल प्रमुख कवियों को स्थान दिया है। शुक्ल जी के इतिहास की विशेषता उनकी कवियों विषयक आलोचना है। मिश्रबन्धुओं के विनोद की विशेषता है अधिकाधिक कवियों का इतिवृत्त संग्रह। हिन्दी के संक्षिप्त इतिहास के लिए शुक्ल जी की पद्धति उपादेय है, पर विशाल एवं बृहत् इतिहास के लिए आवश्यक है कि उसमें समस्त प्राप्त सामग्री का आकलन हो, कोई कवि छोटा हो या बड़ा, इसमें आने से न छूटे। कवि का परिचय, उसके साहित्य का परिचय एवं मूल्यांकन तथा यदि वह प्रकाशित है तो इसकी भी सूचना संकलित होनी चाहिए। इस दृष्टि में हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज रिपोर्टें अक्षय भंडार हैं। मिश्रबंधुओं ने विनोद के प्रणयन में तब तक की प्रकाशित खोज रिपोर्टों का उपयोग किया था। आज विद्वान लोग इन रिपोर्टों के मंथन का कष्ट नहीं उठाना चाहते। इसका परिणाम यह हो रहा है कि गौण कवि तो दूर रहे, अच्छे–अच्छे अनेक कवि इतिहास–ग्रन्थों में समाविष्ट होने से वंचित रह गए हैं और ज्ञात कवियों के सम्बन्ध में जो नवीन सामग्री प्रकाश में आई है, उसका उपयोग नहीं हो पा रहा है। खोज रिपोर्टों का सम्यक् सदुपयोग किया ही जाना चाहिए। हिन्दी के बृहत् इतिहास में मिश्रबन्धुओं की तथ्य–संकलनी प्रतिभा एवं आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक प्रतिभा का सम्यक् योग होना चाहिए।

'मिश्रबन्धु विनोद' की तर्ज पर डॉ. रामप्रसाद मिश्र का हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक इतिहास (दो खण्डों में) उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में लेखक ने हिन्दी साहित्येतिहास के अन्तर्गत उसकी विभिन्न विभाषाओं के साहित्य को, कवियों और लेखकों के जीवनवृत पर पूर्ण रूप से विस्तार डाल कर समाविष्ट करने का प्रयास किया है। इस प्रकार के ग्रन्थों का उपयोग भी साहित्येतिहास लेखन के लिए लाभप्रद है।

- **आधुनिक युग बोध और पुनर्लेखन :**

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत विकसित काव्य धाराओं में नयी कविता के पश्चात कविता अर्थात् काव्य परम्परा को विभिन्न नाम देने का प्रयास गति पकड़ने लगा। इन्हीं नामों की पंक्ति में अकविता, साठोत्तरी कविता, सहज कविता, शुद्ध कविता, बीट कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, ठोस कविता आदि सैंकड़ों नाम दनादन साहित्यिक पत्रिकाओं में दिखाई पड़ने लगे। अकविता अथवा साठोत्तरी कविता को नयी कविता के बाद 1960 से 1970 की समयावधि में बांधने

का प्रयास करते हुए कई इतिहासों में प्रवृतिगत विश्लेषण भी कर दिया गया। बदलते युग की परिस्थितियों को संजोये हुए यह एक दशक की काव्य धारा कमोबेश आज भी अकविता के रूप में जानी जाती है। लेकिन साहित्य में समय किसके रोकने पर रुक पाया है। सन् 2000 तक के साहित्य को वैचारिक साहित्य आधुनिकता बोध का साहित्य और उत्तर आधुनिकता बोध आदि के नाम से प्रचलित किया जा रहा है। इस प्रकार वर्तमान साहित्य को लेकर विद्वानों–समीक्षकों में जोरदार बहस छिड़ी हुई है। इसीलिए आधुनिक साहित्य में संशयबोध, महानगरीय बोध, अजनबी बोध, आपाधापी बोध, वैश्वीकरण, उदारीकरण, अलगाव बोध आदि बोध विकसित हो रहे हैं।

- **प्रवासी साहित्य और पुनर्लेखन :**

सैंकड़ों वर्षों से भारतीय मूल के लोग विदेशों में बसे हुए हैं और वहाँ रहकर अपने स्तर पर हिन्दी साहित्य का सर्जन कर रहे हैं। कुछ देशों में तो हिन्दी की स्थिति बहुत अच्छी है और प्रभूत मात्रा में हिन्दी साहित्य लिखा जा रहा है। इस प्रकार के विद्वानों द्वारा सृजित साहित्य को भी हिन्दी साहित्य और इतिहास के पुनर्लेखन का अंग स्वीकारना चाहिए, जिससे हिन्दी साहित्य के इतिहास में वृद्धि होगी।

*** स्व–मूल्यांकनः (ग)**

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय से प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

बहुविकल्पीय प्रश्न :

1 रमेश चन्द द्वारा भक्तिकाल की समय सीमा क्या है।

(क) 1400 से 1600 ई. (ख) 1857 से 1947 ई (ग) 1947 से 2000 ई (घ) 1150 से 1400 ई 7.

2 'काव्य–कुतुहल' के रचनाकार हैं।

(क) चतुरसाल राठौर (ख) चन्द (ग) उदयनाथ (घ) सुखदेव मिश्र

3 'रस आवाज विनोद' के रचनाकार कौन हैं।

(क) दुख भंजन (ख) चन्द (ग) उदयनाथ (घ) सुखदेव मिश्र

4 विद्यापति को हिन्दी में लाने का श्रेय किसे जाता है

(क) मिश्रबंधुओं को (ख) महापंडित राहुल सांकृत्यायन को

(ग) डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त (घ) डॉ. नगेन्द्र

3.4. निष्कर्षः

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हिन्दी साहित्य और इतिहास के पुनर्लेखन की समस्याओं को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है

1. काल विभाजन और नामकरण
2. नवीन सामग्री
3. साहित्य चेतना का विकास
4. रूप विधाएं

5. दृष्टिकोण की समस्या
6. भाषा की समस्या
7. अप्रकाशित ग्रंथ और अप्राप्य सामग्री
8. जनपदीय साहित्य
9. दक्षिणी हिन्दी के साहित्य का समावेश
10. उर्दू को स्थान देना
11. पृष्ठभूमि कम करके लिखा जाए
12. सामूहिक ग्रंथों में वृहद् इतिहास सम्पादन में परस्पर विरोधी बातें न हों।
13. विदेशों में रचित हिन्दी साहित्य का समावेश ।
14. साहित्यकारों के जीवनवृत्त को सम्मिलित करना।
15. आधुनिकभाव बोध और उत्तर आधुनिकता पर विचार।
16. मानवतावाद
17. केवल मध्य देश को ही हिन्दी साहित्य का आधार न मानना, बल्कि प्रादेशिक स्तर के साहित्य को महत्त्व देना।

3.5 कठीन शब्द

1. अन्तर्निहित – समाविष्ट, जो भीतर स्थित हो
2. शिविर – खेमा, किसी विषय पर आयोजित होने वाला अधिवेशन
3. अवहेलना – उपेक्षा,तिरस्कार
4. प्रस्तावक – प्रस्ताव को प्रस्तुत करने वाला
5. कमोबेश – थोड़ा–बहुत

3.6. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याओं पर प्रकाश डालिए।

2. हिन्दी साहत्येतिहास पुनर्लेखन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कीजिए।

3.7 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. हिन्दी का स्वरूप विस्तार कहां तक है? तथा साहित्य की सीमा क्या है ? 2. वैज्ञानिक पद्धति है। 3. भाषा के कवि मानना संगत नहीं है। 4. युगगत नामकरण, धारागत नामकरण और विधागत नामकरण।

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. भोगीलाल 2. रामलाल 3. शम्भुनाथ मिश्र 4. सुखदेव मिश्र

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. 1400 से 1600 ई. 2. चतुरसाल राठौर 3. दुख भंजन 4. मिश्रबंधुओं को

3.8. पठनीय पुस्तकें:

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल–विभाजन, सीमा–निर्धारण और नामकरण

रूपरेखा
4.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
4.2 प्रस्तावना
4.3 हिन्दी साहित्य का इतिहास रू काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण
- ग्रियर्सन द्वारा किया गया काल–विभाजन
- मिश्रबधुओं द्वारा किया गया काल–विभाजन
- एफ. ई. के. द्वारा किया गया काल–विभाजन
- रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया गया काल–विभाजन
* स्व–मूल्यांकन : क
- पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' द्वारा किया गया काल–विभाजन
- डॉ० रामकुमार वर्मा द्वारा किया गया काल–विभाजन
- नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किया गया काल–विभाजन
* स्व–मूल्यांकन : ख
- डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त द्वारा किया गया काल–विभाजन
- डॉ० रामखेलावन पाण्डेय द्वारा किया गया काल–विभाजन
- डॉ० नगेन्द्र द्वारा किया गया काल–विभाजन
- डॉ० हरिश्चंद्र वर्मा द्वारा किया गया काल–विभाजन
- डॉ० बच्चन सिंह द्वारा किया गया काल–विभाजन
* स्व–मूल्यांकन : ग
4.4 निष्कर्ष
4.5 कठिन शब्द
4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
4.7 उत्तर कुंजी
4.8 पठनीय पुस्तकें

4.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणामः

- हिन्दी साहित्य के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करवाना।
- हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल–विभाजन से परिचित करवाना।
- हिन्दी साहित्येतिहास की सीमा निर्धारण को समझाना।
- हिन्दी साहित्येतिहास के नामकरण के औचित्य का ज्ञान देना।

इस अध्याय का विस्तार से अध्ययन करने के उपरान्त आप हिन्दी साहित्येतिहास के काल विभाजन, सीमा निर्धारण व नामकरण का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

4.2. प्रस्तावनाः

प्रिय विद्यार्थी ! हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा दीर्घकालीन है। विभिन्न विद्वानों ने हिन्दी साहित्येतिहास का काल–विभाजन अपने–अपने मतानुसार भिन्न–भिन्न रूपों में किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्येतिहास का काल–विभाजन विभिन्न इतिहासकारों द्वारा मान्य है। हिन्दी साहित्येतिहास की सीमा निर्धारण पर भी विद्वान एक मत नहीं है। हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने नामकरण भी अपने–अपने मतानुसार किया है। प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर विद्यार्थी निम्नलिखित उद्देश्यों का ज्ञानार्जन करेंगे।

4.3. हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन, सीमा–निर्धारण और नामकरण

हिन्दी साहित्य के इतिहास में काल–विभाजन और नामकरण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और जटिल समस्या है। साहित्य चेतना के क्रमिक विकास, प्रवृत्ति–बोध और प्रेरक तत्वों को समझने के लिए साहित्येतिहास काल–विभाजन आवश्यक है। साहित्येतिहास में काल–विभाजन की आवश्यकता पर डॉ. नगेन्द्र के विचारों ''वस्तु के समग्र रूप का दर्शन करने के लिए उसके अंगों का भी निरीक्षण करना पड़ता है'' से स्पष्ट हो जाता है कि काल–विभाजन आवश्यक तो है, परन्तु उसकी सार्थकता साहित्य के ऐतिहासिक विकासक्रम को जानने में ही है। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार ''साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, उसकी परंपराओं के उत्थान–पतन एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के दिशा–परिवर्तन आदि के कालक्रम को स्पष्ट करना ही काल–विभाजन का लक्ष्य है, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।'' वस्तुतः साहित्येतिहास में काल–विभाजन साध्य न होकर साधन है। डॉ. सुमन राजे ने साहित्येतिहास में काल–विभाजन को दुष्कर एवं अवैज्ञानिक मानते हुए उसकी अनिवार्यता को स्वीकार किया है। साहित्य में युगानुरूप प्रवृत्तियों की अधिकता को देखते हुए कभी–कभी उसी प्रधान प्रवृत्ति के आधार पर काल–विभाजन करके उसका नामकरण भी कर दिया जाता है। सामान्यतः साहित्येतिहास का काल–विभाजन–कृति, कर्त्ता, पद्धति और विषय की दृष्टि से कर लिया जाता है। कभी–कभी उस युग के प्रतिभाशाली कवि के नाम से भी युग का नामकरण और काल–विभाजन करने में सुविधा रहती है जैसे भारतेन्दु–युग, द्विवेदी–युग, गाँधी–युग आदि। रचना–शैली को आधार बनाकर भी काल–विभाजन किया जाता है जैसे छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद। इस प्रकार कालखण्डों के उपयुक्त और तर्कसंगत नामकरण से युगीन साहित्य का पूरा बिम्ब सामने आ जाता है।

- **ग्रियर्सन द्वारा किया गया काल–विभाजन :**

हिन्दी साहित्येतिहास के प्रारम्भिक लेखकों गार्सा द तॉसी तथा शिवसिंह 'सेंगर' ने काल–विभाजन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। हिन्दी साहित्येतिहास के काल–विभाजन और नामकरण का प्रयास सर्वप्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने सन् 1888 ई. में 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' ग्रन्थ लिखकर किया। उनका यह ग्रन्थ ग्यारह अध्यायों में विभाजित है –

1. चारण काल (700 – 1300 ई.)
2. पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण
3. मलिक मुहम्मद जायसी की प्रेम कविता
4. ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय

5. मुगल दरबार

6. तुलसीदास

7. रीतिकाव्य

8. तुलसी के अन्य परवर्ती

9. अठारहवीं शताब्दी

10. कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान

11. महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान

जॉर्ज ग्रियर्सन के उपर्युक्त काल–विभाजन में अनेक कमियां हैं। सबसे पहले तो उन्होंने हिन्दी साहित्य का आरम्भ 700 ई० से मानकर अपभ्रंश साहित्य की गणना हिन्दी साहित्य के इतिहास में कर दी। दूसरे–उनके काल–विभाजन में चौदहवीं शताब्दी पूरी तरह से गायब है। तीसरे–कालों के विभाजन और नामकरण के मूल में कोई निश्चित आधार नहीं है। अतः ग्रियर्सन द्वारा किया गया काल–विभाजन और नामकरण स्पष्ट न होते हुए भी अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

- मिश्र बन्धुओं द्वारा किया गया काल–विभाजन :–

आगे चलकर सन् 1913 में मिश्र बन्धुओं ने अपने इतिहास ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु–विनोद' द्वारा काल–विभाजन और नामकरण को स्पष्ट करने का प्रयास किया। मिश्र बन्धुओं का काल–विभाजन इस प्रकार है

1. आरंभिक काल	1. पूर्वारंभिक काल (700–1343 वि०)
	2. उत्तरारंभिक काल (1344–1444 वि०)
2. माध्यमिक काल	1. पूर्व माध्यमिक काल (1445–1560 वि०)
	2. प्रौढ माध्यमिक काल (1561–1680 वि०)
3. अलंकृत काल	1. पूर्वालंकृत काल (1681–1790 वि०)
	2. उत्तरालंकृत काल (1791–1889 वि०)
4. परिवर्तन काल	(1890–1925 वि०)
5. वर्तमान काल	(1926 वि० से आज तक)

निःसंदेह मिश्र बन्धुओं का काल–विभाजन एवं नामकरण जार्ज ग्रियर्सन की अपेक्षा प्रौढ़ एवं वैज्ञानिक है परन्तु इसमें भी अनेक त्रुटियां हैं। इस विभाजन में ग्रियर्सन का अनुकरण करते हुए, संवत् 700 से हिन्दी साहित्य का आरंभ मानकर, अपभ्रंश भाषा के साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास में गड़मड़ कर दिया गया है। दूसरे–यह विभाजन साहित्य पर आधारित न होकर भाषा पर आधारित है। तीसरे–युगों के नामकरण का कोई उचित आधार ग्रहण नहीं किया। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल–विभाजन पर व्यंग्य करते हुए लिखा है ''सारे रचना–काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर आदि खण्डों में आँख मूंद कर बांट देना–यह भी न देखना कि किस काल–खण्ड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं किसी वृत्त संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।''

• **एफ. ई. के. द्वारा किया गया काल–विभाजन :**

साहित्येतिहास के काल–विभाजन की दृष्टि से सन् 1920 में प्रकाशित श्री एफ. ई. के. द्वारा लिखित 'ए हिस्ट्री ऑव हिन्दी लिटरेचर' ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका काल–विभाजन इस प्रकार है

1. प्रारंभिक चारणकाल (1150 से 1400 ई.)
2. प्रारंभिक भक्तिकाल (1400 से 1550 ई.)
3. नव–कलात्मक काल (1550 से 1800 ई.)
   (क) मुगल दरबार की कविता
   (ख) तुलसी और रामभक्ति शाखा
   (ग) कबीर के उत्तराधिकारी
   (घ) कृष्ण भक्ति शाखा
   (ङ) चारणी और अन्य साहित्य
4. आधुनिक काल (1800 से 1920 ई.)

एफ. ई. के. महोदय के उपर्युक्त काल–विभाजन को अधिक लोकप्रियता नहीं मिली, फिर भी यह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें पहली बार अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी साहित्य से अलग रखने का प्रयास किया गया और हिन्दी साहित्य की आरंभिक सीमा 12 वीं शताब्दी स्वीकार की गई। इन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को पहली बार प्रवृत्तियों के आधार पर विभाजित करके, चार कालखण्डों में बांटा।

• **रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया गया काल–विभाजन :**

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1929 में प्रकाशित हुआ। शुक्ल जी द्वारा किया काल–विभाजन अधिक परिष्कृत है तथा कुछ परिवर्तनों के साथ आज भी विद्वानों द्वारा स्वीकृत है, जो इस प्रकार है।

1. आदिकाल (वीरगाथा काल संवत् 1050–1375)
2. पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल – संवत् 1375–1700)
3. उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल–संवत् 1700–1900)
4. आधुनिक काल (गद्य काल–संवत् 1900 – आज तक)

शुक्ल जी द्वारा किया गया काल–विभाजन एवं नामकरण दुहरा है। एक तो काल सापेक्ष, दूसरा प्रवृत्ति के आधार पर। काल के आधार पर उन्होंने हिन्दी साहित्य को आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल में विभक्त किया और प्रवृत्ति के आधार पर वीरगाथाओं की प्रमुखता को देखते हुए इसे वीरगाथा काल के नाम से पुकारा। इसी प्रकार पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल में भक्ति और रीति की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर उन्हें क्रमशः भक्तिकाल तथा रीतिकाल के नाम से अभिहित किया है। आधुनिक काल में गद्य की प्रमुखता को देखते हुए उसे गद्यकाल नाम दिया है। निःसंदेह आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया काल विभाजन अपनी संक्षिप्तता, सरलता और स्पष्टता के कारण आज तक हिन्दी जगत् में लोकप्रिय है, परन्तु उनका यह काल–विभाजन और नामकरण पूर्णतः निर्देश नहीं माना जा सकता। कारण उस समय तक बहुत कम प्राचीन साहित्य प्रकाश में आया था। शोध –प्रबन्ध बहुत कम छपे थे। हिन्दी साहित्य का

बहुत बड़ा अंश विभिन्न भण्डारों, मन्दिरों, गाँवों एवं नगरों में हस्तलिखित रूप में अज्ञात रूप से दबा पड़ा था। उनको जो थोड़े ग्रन्थ मिले उनका भी सम्यक विवेचन नहीं हो सका। पिछले पचास वर्षों में हिन्दी साहित्य जगत् में पर्याप्त अनुसंधान और नवीन दृष्टिकोण से चिन्तन हुआ है। इसे देखते हुए शुक्ल जी के काल–विभाजन और नामकरण में अनेक कमियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

(क) आचार्य शुक्ल ने वीरगाथा काल का समय संवत् 1050–1375 माना है। सबसे पहले तो उक्त काल का सीमा निर्धारण ही ठीक नहीं है। उनके अनुसार संवत् 1050 से पूर्व जो सिद्धों और योगियों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं, वे 'साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र' हैं और 'जीवन की स्वाभाविक सारणियों, अनुभूतियों और दशाओं' से उनका कोई सम्बन्ध न होने के कारण उन्हें शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। दूसरे–भाषाविज्ञान के अनुसार हिन्दी भाषा का विकास 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। तीसरे–वीरगाथा काल की ऊपरी सीमा सं. 1375 भी तथ्यों पर आधारित न होकर अनुमान पर आधारित है। चौथे–जिन 12 रचनाओं के आधार पर शुक्ल ने वीरगाथा काल नामकरण दिया है, वे रचनाएँ विवाद के घेरे में जा चुकी हैं और आगे–पीछे के समय की सिद्ध हो चुकी हैं। पांचवें–डॉ. रामकुमार वर्मा द्वारा चारण काल, राहुल सांकृत्यायन द्वारा–सिद्ध सामंत काल तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा बीजवपन काल दिए गए नामकरण भी एकांगी प्रतीत होते हैं।

(ख) आचार्य शुक्ल ने भक्ति काल का सीमा–निर्धारण संवत् 1375–1700 तक किया है। डॉ. ग्रियर्सन के 'पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनरुत्थान' को ही शुक्ल ने भक्तिकाल के रूप में वर्णित किया है और कबीर को भक्तिकाल का सबसे पहला कवि मानकर कबीर का जन्म संवत् 1456 स्वीकार किया है। इस आधार पर भक्तिकाल का आरंभ संवत् 1375 मानना समझ से बाहर है। इसी प्रकार भक्तिकाल की अन्तिम सीमा संवत् 1700 पर भी यदि विचार किया जाए, तो हम देखते हैं कि 'रामचरितमानस' का रचना–काल संवत् 1632–33 रहा है। इसके बाद की रचनाओं 'रसिकप्रिया' और 'रामचन्द्रिका' पर रीतिकालीन प्रभाव साफ–साफ दिखाई पड़ता है। भक्ति की प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर शुक्ल ने इस युग को भक्तिकाल कहकर मुख्य रूप से सगुण एवं निर्गुण नामक दो काव्यधाराओं में विभक्त किया है और पुनः उन्हें दो–दो उपकाव्य धाराओं–निर्गुण को ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी तथा सगुण को रामकाव्य और कृष्ण काव्य में बांट दिया है। सगुण काव्यधारा के कवि तुलसीदास ने 'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा' कहकर सगुण और निर्गुण की एकता को स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार निर्गुण की ज्ञानमार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीरदास का ब्रह्म भी कण–कण में व्याप्त है। वास्तव में सन्त और भक्त में अन्तर करना उचित नहीं लगता। शुक्ल जी ने ज्ञानमार्गी संतों और प्रेममार्गी सूफियों को एक ही धारा निर्गुण में रखकर सूफियों में प्रेम भावना अन्य संतों और भक्तों से ज्यादा मानी है, जबकि शुक्ल जी श्रद्धा और प्रेम के योग को भक्ति कहते हैं। उपर्युक्त चार काव्यधाराओं के अतिरिक्त भक्तिकाल में धर्माश्रय, राजाश्रय और लोकाश्रय की काव्यधाराएँ भी चलती रहीं।

(ग) आचार्य शुक्ल ने संवत् 1700–1900 तक के मध्यकाल को रीतिकाल की संज्ञा से विभूषित करके इसकी सीमा बांधी है, जिसका आधार रीति की प्रमुख प्रवृत्ति रहा है। रीतिकाल को अन्य विद्वानों ने शृंगार काल, कला काल और अलंकृत काल नाम भी दिए हैं, जो एकांगी सिद्ध हो चुके हैं। शुक्ल के रीतिकाल नामकरण से रीतिमुक्त कवियों घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर की अनदेखी अवश्य लगती है। रीतिकाल में अन्य काव्य धाराओं के प्रकाश में आए साहित्य को भी उचित स्थान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

(घ) आचार्य शुक्ल ने संवत् 1900 से 1984 तक के समय को आधुनिक काल मानकर, इसे गद्यकाल की संज्ञा से

अभिहित किया है। सबसे पहले तो शुक्ल जी द्वारा आधुनिक काल की अन्तिम सीमा 1984 को बीते बहुत समय हो चुका है। इसे स्थिर करने की महती आवश्यकता है। दूसरे आधुनिक काल में गद्य की नई–नई विधाओं का विकास हुआ है। इस आधार पर इसे गद्यकाल कहना अनुचित लगता है, क्योंकि आधुनिक काल में गद्य के साथ पद्य भी अधिक मात्रा में लिखा गया है।

शुक्लोत्तर युग में अनेक हिन्दी साहित्येतिहास ग्रन्थ लिखे गए, परन्तु काल–विभाजन, सीमा–निर्धारण और नामकरण की दृष्टि से डॉ. रमाशंकर शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' डॉ. रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास', डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त का 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', रामखेलावन पाण्डेय का 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास', डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और डॉ. बच्चन सिंह का 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' उल्लेखनीय है।

*** स्व–मूल्यांकन : (क)**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

रिक्त स्थान भरें :

1 जार्ज ग्रियर्सन ने .... में 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' ग्रन्थ लिखा है।

2 .... मिश्र बन्धुओं ने अपने इतिहास ग्रन्थ .... द्वारा काल–विभाजन और नामकरण को स्पष्ट करने का प्रयास किया।

3 .... में प्रकाशित श्री एफ. ई. के. द्वारा लिखित .... ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

• पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' द्वारा किया गया काल–विभाजन :

पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1931 में प्रकाशित ग्रन्थ में नए ढंग से काल–विभाजन, सीमा–निर्धारण और नामकरण करने का प्रयास किया है। इन्होंने आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल को क्रमशः बाल्यावस्था, किशोरावस्था और युवावस्था का नाम देकर संवत् 1000 से प्रारंभ करके संवत् 1900 तक सीमा निर्धारित की है। इनका काल–विभाजन साहित्य को वैयक्तिक मानकर विशुद्ध कालक्रम पर आधारित है। नामकरण की दृष्टि से भी बाल्य, किशोरा और युवा के बाद मृत्यु की कल्पना की जा सकती है। 'रसाल' जी ने आदिकाल को जयकाव्य भी कहा है। वस्तुतः यह नवीन होते हुए भी ग्राह्य नहीं लगता।

• डॉ. रामकुमार वर्मा द्वारा किया गया काल–विभाजनः

डॉ. रामकुमार वर्मा द्वारा सन् 1938 में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में वीरगाथा काल को सन्धिकाल नाम देकर इसकी सीमा संवत् 750–1000 तक निर्धारित कर दी और संवत् 1000 से 1375 तक की सीमा को चारण की संज्ञा दे दी। भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल को शुक्ल जी की तरह ज्यों–का–त्यों स्वीकार कर लिया। इनके इतिहास–ग्रन्थ का काल–विभाजन एवं नामकरण इस प्रकार है :

1. सन्धिकाल – संवत् 750 – 1000

2. चारणकाल – संवत् 1000 – 1375

3. भक्तिकाल – संवत् 1375 – 1700

4. रीतिकाल – संवत् 1700 – 1900

5. आधुनिक काल – संवत् 1900 से अब तक।

नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा किया गया काल–विभाजन :

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा 16 खण्डों में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' शुक्ल के काल–विभाजन पर ही आधारित है। इसमें हिन्दी साहित्य का उदय और विकास संवत् 1400 की सीमा में निर्धारित है। रीतिकाल को श्रृंगार की संज्ञा से अभिहित किया गया है और वर्तमान काल में रचित साहित्य को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस साहित्येतिहास की योजना एवं काल–विभाजन इस प्रकार है

हिन्दी साहित्य का उदय और विकास 1400 वि. तक

भक्तिकाल 1400 से 1700 वि.

(क) निर्गुण भक्ति (ख) सगुण भक्ति

श्रृंगारकाल 1700 से 1900 वि.

(क) रीतिबद्ध (ख) रीतिमुक्त

हिन्दी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेन्दु काल) 1900 से 1950 वि.

हिन्दी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदी काल) 1950 से 1975 वि.

हिन्दी साहित्य का उत्कर्ष काल 1975 से 1995 वि.

(क) काव्य (ख) नाटक (ग) उपन्यास, कथा, आख्यायिका (घ) समालोचना

हिन्दी साहित्य का अद्यतन काल 1995 से 2015 वि.

*** स्व–मूल्यांकन : (ख)**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक आपने विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए हिन्दी साहित्येतिहास के काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण का जितना अध्ययन किया है उसका निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप निरीक्षण करें।

बहुविकल्पीय प्रश्न :

1 पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1931 में प्रकाशित ग्रन्थ में आदिकाल को क्या कहा है?

(क) जयकाव्य (ख) आदिकाल (ग) उत्कर्ष काल (ध) सन्धिकाल

2 डॉ. रामकुमार वर्मा द्वारा सन् 1938 में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में वीरगाथा काल

को क्या नाम दिया है ?

(क) सन्धिकाल (ख) आदिकाल (ग) उत्कर्ष काल (ध) पूर्व मध्यकाल

3 स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' कितने खण्डों में प्रकाशित' है ?

(क) 16 (ख) 20 (ग) 17 (ध) 25

- **डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त द्वारा किया गया काल–विभाजनः**

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त द्वारा सन् 1965 में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' को तीन खण्डों में बांटा गया है प्रारम्भिक काल (सन् 1184 – 1350) मध्यकाल (1350–1857) और आधुनिक काल (1857–1965)। डॉ. गुप्त का यह काल–विभाजन, सीमा–निर्धारण और नामकरण न तो वैज्ञानिक लगता है और न ही युगीन प्रवृत्तियों का सूचक। 'प्रारंभिक का ल नामकरण' तो मिश्र बन्धुओं ने 'आरंभिक काल' नाम उसे पहले ही दे दिया था। गुप्त जी ने शालिभद्र सूरि को हिन्दी का पहला कवि और उनकी रचना 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' को हिन्दी की पहली रचना मानकर हिन्दी साहित्य का आविर्भाव सन् 1184 से माना है। इससे पहले की रचनाओं को उन्होंने अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ मानकर छोड़ दिया है। डॉ. गुप्त के काल–विभाजन एवं नामकरण का प्रारूप इस प्रकार है :

1. आदिकाल (सन् 1184 – 1350)
2. पूर्व मध्यकाल (सन् 1350 – 1600)
3. उत्तर मध्यकाल (सन् 1600 – 1857)
4. आधुनिक काल (सन् 1857 – अब तक)

- **डॉ. रामखेलावन पाण्डेय द्वारा किया गया काल–विभाजनः**

डॉ. रामखेलावन पाण्डेय द्वारा सन् 1969 में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास' काल–विभाजन, सीमा–निर्धारण और नामकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार ''ऐसे नामकरण की अपेक्षा है, जो निर्दिष्ट अवधि के समस्त साहित्य में अंगीभूत, अर्न्वृत्त, बोध अथवा, स्थिति का संकेतक हो।'' अन्तरंगता का अन्वेषण अनिवार्य विशेषता हो। इनका काल–विभाजन और नामकरण इस प्रकार है–

1. संक्रमण–काल (सन् 1000–1400)
2. संयोजन काल (1401–1600)
3. संवर्धन काल (1601–1800)
4. संचयन काल (1801–1900)
5. सम्बोधित काल (1901–1947)
6. संचरण काल (1947 – आज तक)

पाण्डेय जी के विभिन्न काल खण्डों में नवीनता तो लगती है परन्तु वास्तव में सार्थकता नहीं है। यह तो डॉ. 'रसाल' जैसा ही काल–विभाजन प्रतीत होता है। डॉ. सुमन राजे के अनुसार इन नामों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि यह किस वस्तु का संक्रमण, संयोजन, संवर्धन, संचयन, सम्बोधन एवं संचरण है। 'साहित्य अथवा चेतना का' वस्तुतः

इसमें अनुप्रासंगिकता अधिक लगती है। साहित्यिक प्रवृत्ति, अन्तरंग स्थिति अन्वेषण और सांस्कृतिक चेतना कम दिखाई पड़ती है।

- **डॉ. नगेन्द्र द्वारा किया गया काल–विभाजन :**

सन् 1974 में डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ। इन्होंने काल–विभाजन और नामकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है

आदिकाल – 7वीं शती के मध्य से 14वीं शती के मध्य तक।

भक्तिकाल – 14वीं शती के मध्य से 17वीं शती के मध्य तक।

रीतिकाल – 17वीं शती के मध्य से 19वीं शती के मध्य तक।

आधुनिक काल – 19वीं शती के मध्य से अब तक।

1. पुनर्जागरण–काल (भारतेन्दु–काल) 1857–1900 ई.
2. जागरण–सुधार–काल (द्विवेदी–काल) 1900–1918 ई.
3. छायावाद–काल 1918–1938 ई.
4. छायावादोत्तर–काल

   (क) प्रगति–प्रयोग–काल 1938–1953 ई.

   (ख) नवलेखन–काल 1953 ई. से अब तक

डॉ. नगेन्द्र का उपर्युक्त काल–विभाजन आचार्य शुक्ल के काल–विभाजन पर ही आधारित है। इन्होंने हिन्दी साहित्य का आरंभ 10वीं शताब्दी से न मानकर 7वीं शताब्दी से माना है और विभिन्न युगों की सीमा–निर्धारण निश्चित सन् – संवतों से नहीं की है।

- **डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा द्वारा किया गया काल–विभाजन :**

डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा एवं डॉ. रामनिवास 'गुप्त' द्वारा सन् 1982 में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' काल–विभाजन और नामकरण की दृष्टि से उल्लेखनीय ग्रन्थ है, जो इस प्रकार है

1. संक्रमणकाल (12वीं शती के उत्तरार्द्ध से 14वीं शती के मध्य तक)
2. भक्तिकाल (14वीं शती के मध्य से 17वीं शती के मध्य तक)
3. रीतिकाल (17वीं शती के मध्य से 19वीं शती के मध्य तक)
4. राष्ट्रीय जागरण काल (19वीं शती के मध्य से 20वीं शती के मध्य तक)
5. आधुनिकतावादी चेतना काल (20वीं शती के मध्य से अब तक)

उपर्युक्त काल विभाजन एवं नामकरण में अनेक विशेषताएँ देखने को मिलती हैं– 1. इस विभाजन में परम्परागत विभाजन और नामकरण को यथोचित स्थान देते हुए नवीन प्रयास किया गया है। 2. इसमें युगगत विभाजन एवं प्रवृत्तिगत विभाजन का समन्वय हुआ है। 3. डॉ. वर्मा ने ब्रजसेनसूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि घोररास' को हिन्दी की पहली रचना मानकर, हिन्दी साहित्य का आविर्भाव सन् 1168 ई. माना है। 4. भक्तिकाल और रीतिकाल नामकरण शुक्ल जी के

आधार पर ज्यों–के–त्यों स्वीकार किए हैं। 5. आधुनिक काल को राष्ट्रीय जागरण काल नाम दिया है।

- **डॉ. बच्चन सिंह द्वारा किया गया काल–विभाजन :**

डॉ. बच्चन सिंह द्वारा, सन् 1996 में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में औपचारिक रूप से हिन्दी साहित्य का कालगत विभाजन प्रस्तुत नहीं किया गया है। डॉ. बच्चन ने अपभ्रंश काल (800 – 1400 ई.) भक्तिकाल (1400 – 1650 ई.) रीतिकाल (1650–1857 ई.) और आधुनिक काल (1857–1995 ई.) नामकरण किए हैं। इन्होंने अपने इतिहास की भूमिका में लिखा है ''आरंभ में ही कह दूं कि, न तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', को लेकर दूसरा नया इतिहास लिखा जा सकता है और न ही उसे छोड़कर।''

*** स्व–मूल्यांकनः (ग)**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय से आपने विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए हिन्दी साहित्येतिहास के काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण का अध्ययन कर लिया है। निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक कर सकते हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न :

1 डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त द्वारा सन् 1965 में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' को कितने खण्डों में बांटा गया है?

(क) तीन (ख) बीस (ग) सत्रह (ध) पच्चीस

2 डॉ. गुप्त के काल–विभाजन एवं नामकरण का प्रारूप किस प्रकार है :

क. 1. आदिकाल (सन् 1184 – 1350) 2. पूर्व मध्यकाल (सन् 1350 – 1600)
3. उत्तर मध्यकाल (सन् 1600 – 1857) 4. आधुनिक काल (सन् 1857 – अब तक)

ख. 1. संक्रमण–काल (सन् 1000–1400) 2. संयोजन काल (1401–1600)
3. संवर्धन काल (1601–1800) 4. संचयन काल (1801–1900)
5. सम्बोधित काल (1901–1947) 6. संचरण काल(1947 – आज तक)

ग. 1. अपभ्रंश काल(800 – 1400 ई.) 2. भक्तिकाल (1400 – 1650 ई.)
3. रीतिकाल (1650–1857 ई.) 4. आधुनिक काल (1857–1995 ई.)

घ 1. आदिकाल– 7वीं शती के मध्य से 14वीं शती के मध्य तक
2. भक्तिकाल– 14वीं शती के मध्य से 17वीं शती के मध्य तक
3. रीतिकाल– 17वीं शती के मध्य से 19वीं शती के मध्य तक
4. आधुनिक काल– 19वीं शती के मध्य से अब तक

3 डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा एवं डॉ. रामनिवास 'गुप्त आधुनिक काल को क्या नाम दिया है ?

(क) राष्ट्रीय जागरण काल (ख) आधुनिक काल (ग) संचरण काल(घ) सम्बोधित काल

4.4. निष्कर्ष

उपर्युक्त हिन्दी साहित्येतिहास के काल–विभाजन, सीमा–निर्धारण और नामकरण को देखते हुए कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किए गए काल–विभाजन को ही महत्त्व मिल रहा है। वे हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के केन्द्र बिन्दु बने हुए हैं। आज हिन्दी साहित्येतिहास के अनेक ग्रन्थों के सामने आने पर और लगातार शोध ग्रन्थों की संख्या बढ़ने पर काल–विभाजन, सीमा–निर्धारण और नामकरण पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है। इसी सन्दर्भ में डॉ. रमेश चन्द गुप्त द्वारा सन् 2002 में युग, धारा और विधा के समन्वित रूप से हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल–विभाजन और नामकरण सम्बन्धी आदर्श व्यावहारिक रूप, श्रेष्ठ दृष्टि गोचर होता है, जिसका प्रारूप इस प्रकार है।

1. रासोकाल (1150–1400 ई.)
2. भक्तिकाल (1400–1600 ई.)
3. रीतिकाल (1600–1857 ई.)
4. राष्ट्रीय जागरण काल (1857–1947 ई.)
5. नवीन युगबोध काल (1947–2000 ई.)

4.5. कठिन शब्द :

1. सार्थकता – उपयोगिता, उद्देश्य पूर्ति
2. उत्थान – उन्नत अवस्था
3. साध्य – जो पूरा या सिद्ध किया जा सके
4. सन्धिकाल – दो अवस्थाओं के मिलने का समय
5. आविर्भाव – उदय, अवतरण

4.6. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हिन्दी साहित्येतिहास के काल–विभाजन पर प्रकाश डालिए।

2. हिन्दी साहित्येतिहास की सीमा – निर्धारित करते हुए नामकरण की सार्थकता को स्पष्ट कीजिए।

4.7. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. सन् 1888 ई. में 2. सन् 1913 में ,'मिश्रबन्धु–विनोद' 3. सन् 1920 में, 'ए हिस्ट्री ऑव हिन्दी लिटरेचर'

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. जयकाव्य 2. सन्धिकाल 3. 16

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. तीन 2 आदिकाल (सन् 1184 – 1350), पूर्व मध्यकाल (सन् 1350 – 1600), उत्तर मध्यकाल (सन् 1600 – 1857) आधुनिक काल (सन् 1857 – अब तक) 3. राष्ट्रीय जागरण काल

4.8. पठनीय पुस्तकें:

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

आदिकाल का नामकरण

रूपरेखा
5.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
5.2. प्रस्तावना
5.3. आदिकाल का नामकरण
* स्व–मूल्यांकन : क
* स्व–मूल्यांकन : ख
5.4. निष्कर्ष
5.5. कठिन शब्द
5.6. अभ्यासार्थ प्रश्न
5.7 उत्तर कुंजी
5.8. पठनीय पुस्तकें

5.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको आदिकाल के नामकरण से सम्बन्धित विभिन्न मतभेदों की जानकारी देना तथा आदिकाल के नामकरण पर एकमत का अभाव है, इसके कारणों को समझाना है।

इस अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप आदिकाल के नामकरण को लेकर विभिन्न मतभेदों और उनके कारणों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

5.2 प्रस्तावना

साहित्येतिहास के काल– विशेष का नामकरण एक जटिल प्रश्न है। अद्यावधि हिन्दी–साहित्य के जितने भी महत्वपूर्ण इतिहास ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें युग–विशेष, विशेष कर 'आदिकाल' के नामकरण पर मतैक्य का अभाव दिखाई पड़ता है। इसके कई कारण हैं क्योंकि :

(अ) इस कालखंड की अधिकांश रचनाएं या तो काल के गर्त में लुप्त हो चुकी हैं या कुछ वैयक्तिक, राजकीय या मंदिरों के ग्रन्थ–भण्डारों में दबी पड़ी हैं। ऐसी रचनाओं का पूरा परिचय ही या तो प्राप्त नहीं होता, यदि होता भी है तो स्पष्ट नहीं।

(आ) इस कालखंड के उपलब्ध अथवा ज्ञात साहित्य में प्रामाणिकता का अभाव रहता है।

(इ) विभिन्न भण्डारगारों, मन्दिरों अथवा निजी संकलनों में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध साहित्य समय–समय पर अन्वेषकों द्वारा प्रकाश में लाया गया है और अभी यह प्रयास जारी है इससे इस कालखंड की पूरी तस्वीर अभी तक स्पष्ट नहीं हो पा रही।

(ई) इस कालखंड में हिन्दी भाषा के आदि रूप के निश्चित स्वरूप संबंधी मान्यता का अभाव।

5.3 आदिकाल का नामकरण

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहासकारों ने काल–विभाजन तथा नामकरण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सन् 1929 में प्रकाशित होता है। इस रचना में हिन्दी साहित्य के प्रथम कालखंड को, उपलब्ध बारह रचनाओं के आधार पर 'वीरगाथा काल' अभियान दिया गया है। इसके पश्चात तो एक परम्परा चल पड़ी जिसमें विद्वानों ने उपलब्ध सामग्री तथा विशिष्ट विशेषताओं के आधार पर हिन्दी साहित्य के इस कालखंड को अपनी–अपनी दृष्टि के अनुसार नाम दिए। इनमें से कुछ प्रमुख प्रसिद्ध इस प्रकार हैंः

	लेखक	**अभिधान**
(क)	रामचन्द्र शुक्ल	वीरगाथा काल
(ख)	रामकुमार वर्मा	सन्धिचारण काल
(ग)	महावीर प्रसाद द्विवेदी	बीजवपन काल
(घ)	राहुल सांकृत्यायन	सिद्ध सामंत काल
(ड़)	रामखेलावन पांडेय	संक्रमण काल
(च)	मोहन अवस्थी	आधार काल
(छ)	पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ	अंधकार काल
(ज)	गणपति चन्द्र गुप्त	प्रारम्भिक काल
(झ)	रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'	बाल्य काल
(ञ)	शम्भुनाथ सिंह	प्राचीन काल
(ट)	वासुदेव सिंह	उद्भव काल
(ठ)	हजारी प्रसाद द्विवेदी	आदिकाल
(ड)	राम प्रसाद मिश्र	संक्रांति काल
(ढ)	शैलेश जैदी	आविर्भाव काल
(ण)	धीरेन्द्र वर्मा	अपभ्रंश काल
(त)	चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'	पुरानी हिन्दी काल
(थ)	हरीश	उत्तर अपभ्रंश काल

*** स्व–मूल्यांकन : क**

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में अभी तक आपने विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए आदिकाल के नामकरण का अध्ययन किया है। निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप अपने अध्ययन का निरीक्षण कर सकते हैं।

*** बहुविकल्पीय प्रश्न :**

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का प्रकाशन वर्ष क्या है?

(क) 1928 (ख) 1926 (ग) 1929 (घ) 1930

2. रामचन्द्र शुक्ल ने आदिकाल को क्या नाम दिया?

(क) संक्रमण काल (ख) वीरगाथा काल (ग) प्राचीन काल (घ) आदिकाल

3. रामकुमार वर्मा द्वारा आदिकाल को क्या नाम दिया गया है?

(क) वीजवपन काल (ख) आधार काल (ग) सन्धि–चारण काल (घ) आधार काल

4. आदिकालीन कवि विद्यापति की रचना है :

(क) खुमान रासो (ख) बीसलदेव रासो (ग) कीर्तिलता (घ) हम्मीर रासो

5. धीरेन्द्र वर्मा ने आदिकाल को क्या नाम दिया है?

(क) अपभ्रंश काल (ख) संक्रांति काल (ग) पुरानी हिन्दी काल (घ) उत्तर अपभ्रंश काल

इन अभिधानों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने इस कालखंड को 'रासो काल', 'जय काव्य' काल ''धार्मिक रास–काव्य'' 'वीर काल', 'जैन–काल' भी कहा है।

आदिकाल सम्बन्धी उपर्युक्त सभी नामकरणों के बीच विवाद आचार्य शुक्ल द्वारा प्रदत्त 'वीर गाथा काल' नाम के बाद सामने आया। उन्होंने इस युग में वीरगाथाओं (रासो काव्यों) की प्रचुरता को देखते हुए ही इसे वीरगाथा काल नाम दिया। उन्होंने इस युग के साहित्य में वीरगाथाओं को ही सम्मिलित किया और जैन तथा बौद्ध साहित्य को धार्मिक साहित्य कह कर इसमें सम्मिलित नहीं किया। उन्होंने वीरगाथा काल के नाम के पक्ष में अपना तर्क देते हुए लिखा है कि '.....मुंज और भोज के समय (संवत् 1050 के लगभग) तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में पाया जाता है। अतः हिन्दी साहित्य आदिकाल संवत 1050 से लेकर 1375 तक अर्थात् महाराजा भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है। ....राज्याश्रित कवि... अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरित्रों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध परम्परा रासो के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा काल' कहा है।'

शुक्ल जी का यह कहना कि सिद्धों और जैनों के साहित्य को धार्मिक होने के कारण इस युग में सम्मिलित नहीं किया जा सकता, उचित प्रतीत नहीं होता। यदि वे धार्मिक रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित नहीं करते हैं तो फिर उन्हीं के द्वारा दिया हुआ भक्तिकाल नाम सर्वथा अनुपयुक्त हो जाता है और ऐसी स्थिति में पूर्व मध्यकाल के साहित्य को हिन्दी का साहित्य नहीं माना जा सकता। सूर, तुलसी, कबीर आदि का काव्य भी धार्मिक साहित्य है। फिर कौन सा ऐसा कारण है कि शुक्ल जी सूर, तुलसी और कबीर की रचनाओं को 'साहित्य' में सम्मिलित कर लेते हैं और सिद्धों तथा जैनों की रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित नहीं करते?

शुक्ल जी द्वारा किये गये नामकरण 'वीरगाथा काल' का मूल आधार निम्नलिखित ग्रंथ हैं :

1. विजयपाल रासो
2. हम्मीर रासो

3. कीर्तिलता
4. कीर्तिपताका
5. पृथ्वीराज रासो
6. जयचंद प्रकाश
7. जयमयंक जस चंद्रिका
8. परमाल रासो
9. खुमान रासो
10. बीसलदेव रासो
11. खुसरो की पहेलियां
12. विद्यापति–पदावली

उन्होंने बीसलदेव रासो, विद्यापति पदावली तथा खुसरो की पहेलियां नामक ग्रंथों के अतिरिक्त सभी को वीरगाथाएं मानते हुये इस युग को वीरगाथा काल नाम दिया है। इन 12 ग्रंथों के अलावा प्राप्त रचनाओं को शुक्ल जी ने यह कह कर वीर काल में सम्मिलित नहीं किया कि कुछ तो इनमें नोटिस मात्र हैं, कुछ बाद की रचनाएं हैं और कुछ जैन धर्म के उपदेश विषय क ग्रंथ हैं।

शुक्ल जी ने जिन ग्रंथों को वीर गाथाकाल का आधार माना उनमें से अधिकांश ग्रंथों पर दबे शब्दों में सन्देह व्यक्त करते हुए लिखा था''इस काल की जो साहित्य सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध'' ऐसी स्थिति में, जबकि आधारभूत साहित्य ही अप्रमाणित सिद्ध हो जाये, उस पर आधारित नामकरण की सार्थकता स्वतः ही संदिग्ध हो जाती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी द्वारा जैन साहित्य को वीरगाथा काल से अलग करने की बात को अनुचित बताते हुए धार्मिक साहित्य को महत्वपूर्ण रूप में स्वीकार किया है। एक तथ्य और भी हमारे सामने आता है कि समस्त 'रासो' ग्रंथ वीर गाथात्मक नहीं है। स्वयं शुक्ल जी ने बीसलदेव रासो को श्रृंगारिक काव्य माना है। उस युग के साहित्य के वृहत् भाग–श्रृंगारिक, नीतिपरक, धार्मिक, लौकिक साहित्य–की उपेक्षा कर केवल कुछ संदिग्ध वीर गाथाओं के आधार पर इसे वीरगाथा काल नाम देना उचित प्रतीत नहीं होता।

रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्येतिहास के इस काल को ग्रियर्सन की भांति 'चारण काल' कहा और हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ के समय को सं. 750 मानते हुए 'सन्धि काल' तथा 'चारण काल' दो भाग कर दिए। राहुल जी ने इसी समय से हिन्दी का प्रारम्भ मानते हुए इसे बौद्ध–सिद्धों के साथ जोड़ते हुए 'सिद्ध सामन्त' अभिदान दे दिया। इन दोनों ही अभिधानों में जाति विशेष को ही अधिक महत्व दिया गया है। वर्मा जी द्वारा दिए गए नामकरण का आधार यद्यपि ग्रियर्सन और एफ.ई.के. है परन्तु फिर भी यह तो नहीं माना जा सकता कि मात्र चारणों ने ही इस कालखंड में काव्य रचना की। राहुल जी 'जैन काव्य' को महत्ता नहीं देते जबकि सिद्धों के समान ही जैन कवियों का भी प्रभूत योगदान इस काल के साहित्य में है। साथ ही सामन्तों की प्रेरणा से ही काव्य रचना नहीं हुई, लोक प्रेरणा से भी साहित्य रचना हो रही थी। इसी कारण से ये अभिधान भी स्वीकृत नहीं हो सके।

पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ 1343 ई. से पूर्व के समय को साहित्येतिहास की दृष्टि से संदिग्ध मानते हुए उसे 'अंधकार काल' कहते हैं। यह तो आंख मूंदकर अंधकार महसूस करने के समान बात है। आज आदिकाल की जितनी रचनाएं उपलब्ध हैं उन्हें देखते हुए यह नाम किसी भी दृष्टि से समीचीन प्रतीत नहीं होता।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार हिन्दी साहित्य के बीज इस काल में दिखाई देते हैं। अतः इसका नाम 'बीजवपन' काल दिया गया। आदिकाल का साहित्य 'बीज–रूप' नहीं है, यह तो पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास है। हिन्दी भाषा और साहित्य का 'बीज' तो संस्कृत में है। अतः यह नाम संगत नहीं है।

इस काल को 'अपभ्रंश काल' तथा 'उत्तर अपभ्रंश काल' कहना भी भ्रामक है। भाषा की प्रधानता स्वीकार करने के कारण विषयवस्तु पर आधारित प्रवृत्ति निर्णय के बल पर साहित्य इतिहास के काल विभाजन के सिद्धांत की इस दृष्टि से अवहेलना हो जाती है।

रामखेलावन पाण्डेय 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास' में इस कालखंड को 'संक्रमण काल' कहते हैं। यह नाम भाषा और साहित्य में परिवर्तन की सूचना तो देता है पर पूरे युग की समग्रता का बोध इससे नहीं हो पाता।

*** स्व–मूल्यांकन : ख**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

रिक्त स्थान भरें :

1. शुक्ल जी द्वारा किये गये नामकरण 'वीरगाथा काल' का मूल आधार ....ग्रंथ हैं।
2. शुक्ल जी...की रचनाओं को 'साहित्य' में सम्मिलित कर लेते हैं और ....की रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित नहीं करते।
3. रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्येतिहास के इस काल को ग्रियर्सन की भांति ....कहा।
4. पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ 1343 ई. से पूर्व के समय को साहित्येतिहास की दृष्टि से संदिग्ध मानते हुए उसे ....कहते हैं।
5. रामखेलावन पाण्डेय ....में इस कालखंड को 'संक्रमण काल' कहते हैं।

5.4 निष्कर्ष

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा और साहित्य के इस प्रथम सोपान का अभिधान 'आदिकाल' दिया है। इस नामकरण से इस काल में मिलने वाली लगभग सभी ऐतिहासिक सामग्रियों का समावेश हो जाता है। इस नामकरण में अपभ्रंश और देश भाषा के सभी ग्रंथों को समाहित कर लेने की क्षमता है। इसके साथ ही इस काल के साहित्य की धार्मिक, राज्याश्रित तथा लौकिक धाराओं का विवेचन भी इसके अन्तर्गत हो जाता है। हिन्दी साहित्येतिहास के अधिकांश अध्येताओं ने इसी नाम को स्वीकृत किया है। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर आगे का साहित्य खड़ा है। भाषा की दृष्टि से उन सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदि स्वर इस काल के साहित्य में मिलते हैं जो भक्ति काल से आज तक विकसित होती रही है। इस प्रकार अन्य सभी नामों की अपेक्षा हिन्दी साहित्येतिहास के इस प्रथम सोपान का नाम 'आदिकाल' ही अधिक उपयुक्त और संगत माना जा सकता है।

5.5 कठिन शब्द

1. समीचीन = यथार्थ
2. अवहेलना = अनादर, अवज्ञा
3. संक्रमण = रोग संचार, स्पर्श रोग
4. पृष्ठभूमि = परिवेश

5.6. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकाल के नामकरण की समस्या पर प्रकाश डालिए

____

____

____

____

____

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा दिए गए नामकरण पर प्रकाश डालिए।

____

____

____

____

____

5.7 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. 1929 2. वीरगाथा काल 3. सन्धिचारण काल 4. कीर्तिलता 5. पुरानी हिन्दी काल

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. 12 2. सूर, तुलसी और कबीर, सिद्धों तथा जैनों 3. 'चारण काल' 4 'अंधकार काल' 5. 'हिन्दी साहित्य का नया इतिहास'

5.8. पठनीय पुस्तकें :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

आदिकाल की पृष्ठभूमि /परिस्थितियाँ

रूपरेखा

6.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

6.2. प्रस्तावना

6.3. आदिकाल की पृष्ठभूमि

6.3.1 राजनैतिक स्थिति

* स्व–मूल्यांकन : क

6.3.2 सामाजिक स्थिति

6.3.3 धार्मिक स्थिति

6.3.4 साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्थिति

* स्व–मूल्यांकन : ख

6.4. कठिन शब्द

6.5. अभ्यासार्थ प्रश्न

6.6 उत्तर कुंजी

6.7. पठनीय पुस्तकें

6.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पृष्ठभूमि से परिचित करवाते हुए यह ज्ञान देना है कि हिन्दी साहित्य का आदिकाल राजनैतिक दृष्टि से पतन का काल रहा है। इसके साथ ही आदिकाल की सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति से परिचित करवाना है।

इस अध्याय के अध्ययनोपरान्त आप आदिकाल की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत आदिकालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थितिओं से अवगत होंगे।

6.2 प्रस्तावना

काल की अविच्छिन्न धारा के समान साहित्यिक परम्परायें और प्रवृतियां निरन्तर गतिशील रहा करती हैं। इसके नामकरण और सीमा निर्धारण का प्रश्न हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवादास्पद प्रश्नों में एक प्रमुख प्रश्न है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनेक अधिकारी लेखक विद्वानों ने इस संबंध में अपने भिन्न–भिन्न मत दिये हैं। इस आलेख में आदिकालीन परिस्थितियों का अवलोकन निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर होगा।

6.3 आदिकाल की पृष्ठभूमि

6.3.1 राजनैतिक स्थिति

(i) बाह्य आक्रमण

हिन्दी साहित्य का आदिकाल राजनैतिक दृष्टि से पतन का काल रहा है। आदिकाल की सीमावधि सन् 769 से 1318 के मध्य निर्धारित की गई है। इस काल के आरम्भ में ही भारत के विशाल साम्राज्य निर्माता और अन्तिम हिन्दू सम्राट हर्षवर्धन का पतन हो चुका था। हर्षवर्धन की मृत्यु सन् 647ई. में हो चुकी थी। स्वयं हर्षवर्धन के समय ही भारत के उत्तरी–पश्चिमी सीमा प्रान्त पर विदेशी आक्रमण आरम्भ हो गये थे। इतिहासकारों का मानना है कि 636ई. में, खलीफा उमर के समय से ही भारत पर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गये थे, किन्तु अभी तक वे अफगानिस्तान से आगे नहीं बढ़ पाये थे। सन् 712 ई. में मुहम्मद बिन कासिम ने भारत पर आक्रमण कर विदेशी आक्रान्ताओं के लिये द्वार खोल दिये थे। इसके पश्चात एक के बाद एक, विदेशी आक्रामकों ने भारत पर आक्रमण किये, इसे लूटा, यहाँ की आन्तरिक शासन–व्यवस्था में हस्तक्षेप किया और एक समय ऐसा आया, जब भारतवर्ष पूर्णतया विदेशों के अधीन हो गया। मुहम्मद बिन कासिम के पश्चात गजनी के शासकों ने भारत पर आक्रमण किये। गजनी के शासक अलप्तगीन के तुर्क दास सुबुक्तगीन ने सन् 991 में जयपाल पर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया। इस आक्रमण से सुबुक्तगीन को खैबर दर्रा और पेशावर हाथ लगे, जिनसे बाद के आक्रमणकारियों के लिये मार्ग खुल गये। इसके पश्चात गजनी के शासक महमूद गजनवी ने 1000 ई. से 1026 तक भारत पर सत्रह बार आक्रमण किये, जिनमें सोमनाथ मंदिर की लूट भी सम्मिलित थी। गजनवी के पश्चात मुहम्मद गौरी ने साम्राज्य–विस्तार, धन–प्राप्ति एवं इस्लाम के प्रचार–प्रसार को ध्यान में रखते हुये भारत पर आक्रमण शुरू किये। गौरी और पृथ्वीराज चौहान के बीच लड़े गये दो युद्ध तराइन का प्रथम एवं द्वितीय युद्ध सन् 1191 एवं 1192 ई. प्रमुख हैं। तराइन की दूसरी लड़ाई में पृथ्वीराज पराजित हुआ और एक शक्तिशाली राजपूत राजा का पतन हो गया। गौरी की मृत्यु के पश्चात भारत का साम्राज्य गौरी के दास एवं प्रतिनिधि कुतुबुद्दीन ऐबक (सन् 1206) के हाथों में आ गया। यहीं से दिल्ली पर दास–वंश का शासन आरम्भ हो गया जो 1290 ई. तक चलता रहा। दासों के पश्चात 1290 से 1320 तक खिलजी वंश का शासन रहा। खिलजी वंश के शासकों में जलालुद्दीन फिरोज खिलजी, अलाउद्दीन खिलजी, शहाबुद्दीन, उमर, कुतुबुद्दीन मुबारकशाह, नासिरुद्दीन खुसरो आदि प्रमुख थे। खिलजी वंश के पतन के पश्चात काजी मलिक गयासुद्दीन ने तुगलक वंश की स्थापना की।

(ii) आन्तरिक स्थिति

अब थोड़ा भारत की आंतरिक व्यवस्था पर भी दृष्टिपात कर लिया जाये। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात भारत में कोई शक्तिशाली सम्राट नहीं बचा। हर्षवर्धन के समय ही भारत दो भागों में बँट चुका था। नर्मदा के उत्तर में हर्षवर्धन का साम्राज्य था और दक्षिण में चालुक्यवंश के पुलकेशन द्वितीय का शासन था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि हर्षवर्धन ने दक्षिण पर भी कुछ समय के लिए शासन किया था। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात भारत में कई छोटे–छोटे राजाओं का अभ्युदय हुआ। केन्द्रीय संगठन शक्ति का अभाव हो गया और देश में छोटे–छोटे राजवंश–गुर्जर, तोमर, राठौड़, चौहान, चालुक्य, चन्देल आदि आपस में लड़–लड़कर अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे। आठवीं शताब्दी में मौखरी वंश के यशोवर्मन (कान्य कुब्ज) ने एक बार पुनः भारत को संगठित करने का प्रयास किया, किन्तु कश्मीर के राजा ललितादित्य के हाथों उसे पराजित होना पड़ा। इसके पश्चात पृथ्वीराज चौहान एक शक्ति शाली सम्राट के रूप में उभर कर आया। किन्तु जयचन्द की दुरभिसंधि के कारण मुहम्मद गौरी के हाथों तराइन की दूसरी लड़ाई (1192) में उसे पराजित होना पड़ा। इसके साथ ही भारत पूरी तरह विदेशियों के हस्तगत हो गया। केन्द्रीय संगठन–शक्ति और नेतृत्व के अभाव में अनेक स्थानीय शक्तिशाली राजा आपस में लड़ कर अपनी शक्ति क्षीण करते रहे और विदेशी

आक्रमणकारी इसका लाभ उठाते रहे। देश को पतन की अवस्था में पहुँचाने के लिए सामन्तवादी व्यवस्था का भी पूरा हाथ रहा। सामन्त लोगों की स्वार्थी मनोवृत्त ने जन–कल्याण की उपेक्षा कर दी। राष्ट्रीयता की भावना लुप्त हो गई और प्रान्तीयता की भावना बलवती होने लगी। जातीय हितों के स्थान पर व्यक्तिगत हित प्रधान हो गये। इन सब का परिणाम यह हुआ कि समाज में विभिन्न विचारधारा वाले वर्गों का अभ्युदय हुआ। एक वर्ग आत्मसम्मान की रक्षा में लड़ते–लड़ते प्राणोत्सर्ग तक कर देना चाहता था, तो दूसरा वर्ग युग की भीषणताओं से किनाराकशी करके काव्य और आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था। एक ऐसा वर्ग भी पैदा हुआ जो मृत्यु से पूर्व जीवन का आनन्द और रस भोग लेना चाहता था। यही कारण है कि इस युग में एक ओर वीर काव्य की रचना हुई तो दूसरी ओर आध्यात्मिक (सिद्ध, जैन आदि) काव्य की। श्रृंगारिक कवियों का वर्ग मृत्यु के क्षणों में भी जीवन का आनन्द भोग लेने वाले व्यक्तियों की विचारधारा का प्रतिनिधि था।

*** स्व–मूल्यांकन : (क)**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

रिक्त स्थान भरें :

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल राजनैतिक दृष्टि से............................ का काल रहा है।
2. मुहम्मद बिन कासिम के पश्चात .... के शासकों ने भारत पर आक्रमण किये।
3. ....की दूसरी लड़ाई में पृथ्वीराज पराजित हुआ।
4. .... की मृत्यु के पश्चात भारत में कोई शक्ति शाली सम्राट नहीं बचा।
5. .... के उत्तर में हर्षवर्धन का साम्राज्य था।
6. सामन्त लोगों की .... ने जन–कल्याण की उपेक्षा कर दी।

6.3.2 सामाजिक स्थिति – आदिकालीन समाज–व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गई थी। समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र नाम के वर्णों के साथ–साथ अनेक जातियों और उपजातियों में बँटा हुआ था। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊँचा था तथा शुद्रों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी। अस्पृश्यता बढ़ती जा रही थी। जिस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से विखंडित राष्ट्र में राष्ट्रीयता का अभाव हो गया था, उसी प्रकार समाज में विभिन्न जातियों और वर्गों में विभक्त हो जाने के कारण सामाजिक संकीर्णता उत्पन्न हो गई थी। वंश, व्यवसाय, जाति, स्थान आदि मान्यताओं के प्रबल हो जाने के कारण समाज विभिन्न जातियों, वंशों, वर्णों आदि में विभाजित हो गया था फलतः सामाजिक संगठन और सहानुभूति का अभाव हो गया था। जाति–बंधन कड़े हो गये थे। उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग के लोगों पर अत्याचार करते थे। परिवार पितृसत्तात्मक थे, नारी का स्थान हेय था। यहाँ तक कि नारी को भोग्य मात्र समझा जाने लगा था। शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं थी। समाज का उच्च वर्ग ही शिक्षा प्राप्त कर सकता था। स्त्रियों के लिए शिक्षा के द्वार लगभग बन्द हो चुके थे। सती प्रथा जोर पकड़ रही थी। मुसलमानों के आगमन के कारण पर्दा–प्रथा और बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों को प्रोत्साहन मिल रहा था। विधवा–विवाह निषिद्ध था। लोगों में अंधविश्वास बढ़ते जा रहे थे। समाज में साधु–संतों का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। जन्म से मृत्यु तक विभिन्न प्रकार के संस्कारों और कर्मकाण्डों की व्यवस्था थी। पूजा–पाठ, तंत्र–मंत्र आदि का बोलबाला था।

समाज का दूसरा पक्ष यह भी था, जिसमें लोगों का आभूषणों आदि के प्रति मोह बढ़ गया था। लोग विभिन्न उत्सवों को आनन्दपूर्वक मनाते थे। राजपूत लोगों का शौर्य तो प्रसिद्ध था ही, किन्तु यह शौर्य आपसी युद्धों में अधिक प्रकट होता था। राजपूत लोग दूसरों की सुन्दर कन्या प्राप्त करने के लिए भी युद्ध कर लिया करते थे। क्षत्रिय राजकुमारों के लिए शिक्षण–प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था थी। संभवतः राजपूतों के युद्ध–प्रेम के परिणामस्वरूप ही इस युग में विभिन्न वीरगाथाओं (रासो) की रचना हुई थी। कुल मिलाकर इस युग का समाज असंगठित, रूढ़िवादी, अंधविश्वासी और विलासी हो गया था। राष्ट्र को पतनोन्मुखी बनाने में जितना हाथ राजनैतिक परिस्थितियों का था, उससे अधिक हाथ सामाजिक व्यवस्था का था।

6.3.3 धार्मिक स्थिति

धर्म का भारतीय जन–जीवन से अटूट संबंध रहा है। किन्तु समय के बदलाव के साथ धर्म के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहा है। आदिकाल धार्मिक दृष्टि से उथल–पुथल का युग था। छठी शताब्दी के बाद धार्मिक वातावरण में व्यापक रूप से परिवर्तन होने लगा था। वैष्णव धर्म के साथ–साथ बौद्ध और जैन धर्म का भी प्रचार–प्रसार हो रहा था। इनके साथ ही इस्लाम का प्रचार–प्रसार भी होने लगा था। प्रत्येक धर्म अपनी जड़ें मजबूत करने के प्रयत्न में लगा हुआ था। धार्मिक–सम्प्रदायों में जो एक विशेष परिवर्तन हो रहा था, वह यह कि इस समय सभी धर्म प्रचार–प्रसार की होड़ में अपने धर्म के मूल स्वरूप को भूल कर दूसरे वर्गों की विशेषताओं और पद्धतियों को निःसंकोच भाव से ग्रहण कर रहे थे।

बौद्ध धर्म की जो प्राचीन परम्परा थी, उसमें अब पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। चीनी यात्री हवेनसांग (सन् 630 से 645) ने बौद्ध धर्म की पतनोन्मुखी दशा पर दुःख भी व्यक्त किया था। न तो बौद्धों की हीनयान शाखा और न ही महायान शाखा अपना शुद्ध रूप सुरक्षित रख पाई थी। हीनयानियों ने तो फिर भी अपने परम्परागत स्वरूप को बनाए रखने की चेष्टा की किन्तु महायान शाखा में भयंकर परिवर्तन हो गए। महायान शाखा ने तो अपनी जड़ें गहरी करने के लिए ब्राह्मण धर्म की पौराणिक परम्परा से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया, परिणामतः बौद्धों में मूर्तिपूजा, योग और भक्ति का समावेश होने लगा। निरीश्वर बौद्ध भी अब ईश्वर और अवतारवाद में विश्वास करने लगे। कालान्तर में महायान शाखा में तंत्र–मंत्र, पंचमकार (मांस, मदिरा, मत्स्य, मैथुन एवं मुद्रा) आदि ने स्थान पा लिया। महायान शाखा का यह रूप वज्रयान नाम से जाना जाने लगा। वज्रयानी परम्परा के सूत्रपात का श्रेय सरहपा नाम के सिद्ध को दिया जाता है। बौद्धों की यही वज्रयानी परम्परा आदिकाल के सिद्ध कवियों में दिखाई देती है। सिद्धों में अधिकांशतः निम्न वर्णों के लोग होते थे। आगे चलकर सिद्धों की इस साधना में पंचमकारों के लाक्षणिक अर्थ के स्थान पर सतही अर्थ को ही ग्रहण किया जाने लगा। फलतः बौद्ध धर्म और सिद्ध संप्रदाय पतन के गर्त में जा गिरे। सिद्धों के पतन के पश्चात इन्हीं में से नाथों का अभ्युदय हुआ। नाथ संप्रदाय सिद्धों की भोग–प्रधान साधना के स्थान पर हठयोग साधना, कुंडलिनी जागरण आदि में विश्वास करता था।

जैन धर्म का प्रचार–प्रसार इस युग में द्रुत गति से हो रहा था। जैन धर्म शैवों की होड़ में आगे बढ़ने के लिए सतत प्रयत्नशील था। बारहवीं शती तक आते–आते वैष्णवों का भी उत्कर्ष होने लगा। वैष्णव धर्म के अभ्युदय से जैन धर्म की स्थिति दुर्बल होने लगी। राजपूत राज्यों में जैन धर्म विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि राजपूत लोग जैन धर्म के अहिंसामूलक सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते थे। अतः जैन मतावलंबियों ने अपने धर्म के प्रसार के लिए वैष्णवों की धार्मिक कथाओं को अपने साहित्य का आधार बनाना आरम्भ कर दिया। जैन रचनाकारों ने राम–कृष्ण आदि वैष्णव वर्ग के नायकों की शक्ति को नकारते हुए उन्हें जैन धर्म में दीक्षित करके लोगों के सामने प्रस्तुत किया। 'पउम चरिउ' नामक ग्रंथ इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, जिसमें राम को जैन धर्म में दीक्षित किया गया है।

इसके साथ ही वैष्णवों की अवतारवादी धारणा को भी जैनियों ने ग्रहण कर तीर्थंकरों के अवतार की कल्पना आरंभ कर दी।

वैष्णव धर्म में भी शैव, शाक्त आदि अलग–अलग संप्रदायों का जन्म हो चुका था। इनके साथ ही एक ओर ब्राह्मणों की कर्मकाण्डपरक विचारधारा प्रचलित थी तो दूसरी ओर उपनिषदों की ज्ञानपरक धारा प्रचलित थी। शंकराचार्य ने इनमें समन्वय का सफल प्रयास किया। शंकराचार्य के पश्चात रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने ज्ञान और भक्ति का समन्वय कर समाज के समक्ष नवीन दार्शनिक दृष्टि प्रस्तुत की। यह धारा क्रमशः विकसित होती रही और इसका चरम उत्कर्ष भक्ति काल में जाकर हुआ। इस प्रकार आदिकाल में विभिन्न धार्मिक विचारधारायें प्रतिष्ठित होने की होड़ में अपने मूल स्वरूप को परिवर्तित करने का दुस्साहस तक कर रही थीं। ऐसी स्थिति में धर्मों के मूल स्वरूप को पहचानना मुश्किल हो गया था। विभिन्न धर्म–प्रचारकों शैवों, बौद्धों, हिन्दू साधुओं आदि ने जनता को अनेक प्रकार से भयाक्रान्त कर दिया था। धर्म केन्द्र भ्रष्ट होने लगे थे। यदि बौद्ध विहार विलास और भ्रष्टाचार के केन्द्र थे तो हिन्दू मन्दिर भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं थे। सोमनाथ मन्दिर का वैभव तत्कालीन विलासी प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण है। ऐसी धार्मिक परिस्थितियों में इस्लाम का आगमन और प्रसार भारतीय धर्म–व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण मोड़ का सूचक था।

6.3.4 साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्थिति

आदिकाल में साहित्य–सृजन के लिए प्रधानतः तीन भाषाओं संस्कृत, अपभ्रंश और लोकभाषा हिन्दी का प्रचलन था। संस्कृत का सम्बन्ध राज–दरबारों एवं विद्वानों से था। इस युग में शड्दर्शनविषयक ग्रन्थों की रचना हुई। परवर्ती हिन्दी साहित्य और भारतीय समाज में विकसित धार्मिक आन्दोलनों के आधार–ग्रन्थों का सृजन इसी युग में हुआ था। इस युग में संस्कृत के अनेक काव्य–शास्त्रियों, नाटककारों एवं कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। साहित्यदर्पण, ध्वन्यालोक, राजतरंगिणी आदि इस युग के प्रमुख संस्कृत ग्रन्थ हैं। विश्वनाथ, मम्मट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, राजशेखर आदि इसी युग के रचनाकार थे। शंकराचार्य, रामानुज और कुमारिलभट्ट जैसे आचार्यों एवं दार्शनिकों का प्रादुर्भाव भी इसी युग में हुआ था। पूर्वी सीमान्त प्रदेश में सिद्ध कवियों ने अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी को लेखन का माध्यम बनाया। इसी प्रकार जैन आचार्यों ने प्राकृत मिश्रित हिन्दी को लेखन का माध्यम बना कर साहित्य–सृजन किया। मोटे रूप में संस्कृत इस युग में उच्च एवं राज–वर्ग की, अपभ्रंश धर्म–प्रसार की और हिन्दी लोक–प्रवृत्ति की भाषा बन गई थी। कुल मिला कर साहित्यिक दृष्टि से यह युग काफी समृद्ध था।

सांस्कृतिक दृष्टि से यह युग संक्रमण का युग था। एक ओर आदिकाल का आरम्भिक समय सांस्कृतिक उत्कर्ष का युग था तो दूसरी ओर आदिकाल का उत्तरार्ध मुस्लिम आक्रमणों तथा राजनैतिक एवं सामाजिक अव्यवस्था के कारण सांस्कृतिक अपकर्ष का युग था। कलाओं–स्थापत्य, संगीत, चित्र आदि की दृष्टि से यह समृद्धि का युग था। इस युग की स्थापत्य कला के प्रतीक खजुराहो, पुरी, सोमनाथ, भुवनेश्वर, कोणार्क आदि के मन्दिर अपनी श्रेष्ठता के लिए बेजोड़ हैं। इस युग में कलाओं तथा धर्म का समन्वय विशेष रूप से दृष्टव्य है। एक ओर इस युग के लोगों का जीवन और धर्म एक–दूसरे के पर्याय थे तो दूसरी ओर उनकी कलाओं को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है। इस समय तक यहाँ मुस्लिम आक्रामकों और धर्म–प्रचारकों का आगमन हो चुका था अतः यहाँ के जन–जीवन,संस्कृति आदि पर इस्लाम का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इस युग के समाज के विभिन्न उत्सवों, पर्वों, मेलों, रहन–सहन, रीतिरिवाज, पहनावे, खान–पान आदि पर इस्लाम का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कलाओं पर भी इस्लाम का प्रभाव पड़ने लगा था किन्तु राजनैतिक उथल–पुथल के कारण कलाओं को राज्याश्रय नहीं मिल पाया था। हिन्दुओं की चित्रकला में अजन्ता शैली धीरे–धीरे लुप्त होती जा रही थी। मुसलमानों की मूर्तिपूजा–विरोधी नीति ने मूर्तिकला को ह्रासोन्मुख कर दिया।

*** स्व–मूल्यांकन : ख**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में आपने आदिकाल की पृष्ठभूमि का अध्ययन करते हुए इस काल की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया है। निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप अपने अध्ययन का निरीक्षण कर सकते हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न :

1. **हर्षवर्धन की मृत्यु किस सन् में हुई थी?**

   (क) 547 ई. (ख) 569 (ग) 647 ई. (घ) 779

2. **मुहम्मद बिन कासिम ने भारत पर कब आक्रमण किया था?**

   (क) सन् 712 (ख) सन् 881 (ग) सन् 669 (घ) सन् 566

3. **दासों के पश्चात खिलजी वंश का शासन कब से कब तक रहा?**

   (क) 1290 से 1320 तक (ख) 1400 से 1500 तक (ग) 1500 से 1600 तक (घ) 1100 से 1200 तक

4. **गजनी के शासक महमूद गजनवी ने 1000 ई. से 1026 ई. तक भारत पर कितनी बार आक्रमण किये?**

   (क) सोलह बार (ख) सत्रह बार (ग) दस बार (घ) पाँच बार

5. **आदिकाल में साहित्य–सृजन के लिए कितनी भाषाओं का प्रचलन था?**

   (क) पाँच (ख) चार (ग) दो (घ) तीन

6.4 कठिन शब्द

1. हस्तक्षेप = दखल देना
2. संकीर्णता = नीचता, क्षुद्रता
3. अटूट = अखंडित
4. पौराणिक = प्राचीन काल का
5. उत्कर्ष = श्रेष्ठता

6.5. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकाल की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

2. आदिकालीन राजनैतिक स्थिति पर विचार कीजिए।

3. आदिकालीन सामाजिक स्थिति पर लेख लिखिए।

4. आदिकालीन धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।

5. आदिकालीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।

6.6 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. पतन 2. गजनी 3. तराइन 4. हर्षवर्धन 5. नर्मदा 6. स्वार्थी मनोवृत्त

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. 647 ई. 2. सन् 712 3. 1290 से 1320 तक 4. सत्रह बार 5. तीन

6.7. पठनीय पुस्तकें :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1978

3. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

आदिकाल का काल विभाजन

रूपरेखा

7.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

7.2. प्रस्तावना

7.3. आदिकाल का काल विभाजन

7.3.1 स्व–मूल्यांकन

7.3.2 स्व–मूल्यांकन

7.3.3 स्व–मूल्यांकन

7.4. निष्कर्ष

7.5. कठिन शब्द

7.6. दीर्घ प्रश्नावली

7.7. लघु प्रश्नावली

7.8. उत्तर कुंजी

7.9. पठनीय पुस्तकें

7.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको

– हिन्दी साहित्य के इतिहास का ज्ञान देना।

– हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन से परिचित करवाना।

– आदिकाल के सीमा निर्धारण को समझाना।

इस अध्याय का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त आप आदिकाल के काल विभाजन का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य का काल विभाजन एक जटिल समस्या है। साहित्य चेतना के क्रमिक विकास, प्रवृति–बोध और प्रेरक तत्वों को समझने के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल–विभाजन आवश्यक है। काल विभाजन की आवश्यकता पर डॉ. नगेन्द्र कहते हैं, ''वस्तु के समग्र रूप का दर्शन करने के लिए उसके अंगों का भी निरीक्षण करना पड़ता है।'' स्पष्ट है कि काल विभाजन आवश्यक तो है, परन्तु उसकी सार्थकता साहित्य के ऐतिहासिक विकासक्रम को जानने में ही है। आदिकाल के काल विभाजन का प्रश्न हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवादस्पद प्रश्नों में से एक प्रमुख प्रश्न है। इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने भिन्न–भिन्न मत दिये हैं। इस आलेख में विभिन्न मतों के औचित्य और अनौचित्य का पर्यवेक्षण किया जायेगा।

7.3 आदिकाल का काल विभाजन

हिन्दी साहित्य के आरंभ के विषय पर विद्वानों का पर्याप्त मतभेद है। इस मतभेद का मूल कारण अपभ्रंश भाषा को हिन्दी में स्वीकार या बहिष्कृत करने से जुड़ा है। अपभ्रंश हिन्दी से पूर्व प्रचलित भाषा थी। उनमें कौन से परिवर्तन किस बिन्दु पर आरंभ हुए जिससे धीरे–धीरे हिन्दी भाषा का स्वतंत्र विकास हुआ इस प्रश्न का सीधा और स्पष्ट उत्तर नही दिया जा सकता। भाषा प्रयोग से भाषा का विकास होता है। भाषा प्रवाहिनी नदी के समान गतिशील है। भाषा की प्रवाह प्रक्रिया में भाषा परिवर्तन को समझने में कठिनाई होती है। वस्तुतः अपभ्रंश जब साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी तब जन भाषा से दूर हट गई थी। अपभ्रंश की जनभाषा से हिन्दी का विकास होता है।

चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने इसे ही पुरानी हिन्दी कहा है। उन्होनें स्पष्ट घोषणा की कि उत्तर अपभ्रंश ही पुरानी हिन्दी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी का आरंभ 993 ई० से मानते हैं जब अपभ्रंश भाषा घिस–घिस कर एक नई भाषा को विकसित करने में सक्षम हो रही थी। लेकिन हिन्दी के आरंभिक रूप का पता उन्हें बौद्ध तांत्रिकों की रचना में मिलता है। उन्होने लिखा है ''अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धौं की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण मे लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् 1050) के लगभग तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत् 1050 से लेकर संवत् 1375 तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के समय के कुछ पीछे तक जा सकता है।''

7.3.1 स्व–मूल्यांकन :

प्रिय विद्यार्थीयों ! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. अपभ्रंश हिन्दी से पूर्व प्रचलित भाषा थी।
2. अपभ्रंश की जनभाषा से हिन्दी का विकास होता है।
3. भाषा की प्रवाह प्रक्रिया में भाषा परिवर्तन को समझने में कठिनाई होती है।
4. हिन्दी साहित्य का आदिकाल महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के समय के कुछ पीछे तक जा सकता है।

आचार्य शुक्ल हिन्दी का आरंभ तो सिद्धों की रचनाओं से स्वीकार करते हैं लेकिन वास्तविक हिन्दी का प्रारंभ वे 993 ई० यानी दसवीं शताब्दी से मानते हैं। इसमें साहित्यिक तथ्य और उनकी विचारधारा का संघर्ष स्पष्ट दिखायी देता है। अनुभव और प्रयोग के धरातल पर भाषा का विकास सातवीं सदी से हो चुका था। लेकिन उनका मताग्रह और सिद्धांत की कट्टरता, उन्हें बौद्ध तांत्रिक रचनाओं से हिन्दी भाषा का विकास मानने से रोकती है। उनमें मर्यादावाद और नैतिकतावाद इस तरह प्रभाव जमाता है कि वे समाज के दूसरे विकल्प को स्वीकार करने को तैयार ही नहीं होते हैं। आचार्य शुक्ल के इतिहास और आलोचना में यह आग्रह बार–बार दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल के इतिहास में नाथ सिद्धों और जैन रचनाकारों की उपेक्षा की गई है। उन्होंने ऐसे साहित्य की कभी धार्मिक साहित्य कहकर उपेक्षा की और कभी वे विशुद्ध साहित्य के नाम पर उनको हाशिए पर रखते रहे। आचार्य शुक्ल ने आगे लिखा है – ''आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत संप्रदाय किस प्रकार वेदांत के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णव के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाए हुए इस रास्ते पर चल पड़ा यह आगे दिखाया

जायेगा।'' हमारे कहने का मकसद स्पष्ट है कि यदि हम हिन्दी व्यवहार को सिद्धों की रचनाओं में पाते हैं तो वहां से हिन्दी का विकास माननें में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। भाषा और अनुभूति दोनों स्तरों पर उस परंपरा का विकास वाद के साहित्य में भी मिलता है। नाथपंथियों की भाषा पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल लिखतें हैं ''इस प्रकार नाथपंथियों के इन जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्य भाषा से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रजभाषा का था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया, जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।'' भाषा और साहित्य की इस तथ्यगत वास्तविकता को स्वीकार करने के बाद भी यदि हम उन्हें साहित्य में जगह न दें तो यह हमारे सिद्धान्त की कमजोरी है।

किसी भी कालखण्ड के परिवर्तन में भाषा और संवेदना के कुछ सूत्र मिलते हैं, जिससे हम नये साहित्य के आरंभ की सूचना पाते हैं। अनुभूति के विस्तार और नये प्रयोग से नई भाषा के आविर्भाव को रेखांकित कर सकते हैं। कथ्य के आधार पर नाथ और सिद्धों का मूल्यांकन करने पर हम पाते हैं कि सिद्धों ने पंडित परम्परा के वर्चस्व को चुनौती दी। जनता की भाषा में साहित्य को रचा जिसका स्वाभाविक विकास भक्तिकाल में हुआ, इसलिए आरंभिक सीमा को थोड़ा पीछे ले जाया जा सकता है। इसका विकल्प आचार्य शुक्ल के इतिहास से भी उभरता दिखाई देता है।

नाथ, सिद्ध और जैन रचनाकारों के साहित्य से हिन्दी साहित्य का आरंभ माना जा सकता है। हिन्दी भाषा को विशिष्ट बनाने वाली भाषा प्रवृत्तियों का लक्षण इनके साहित्य में मिलता है। भाषा को विशिष्ट बनाने वाली मूलतः तीन भाषा प्रवृत्तियाँ हैं। प्रथम, क्षतिपूरक दीर्घीकरण जैसे प्राकृत अपभ्रंश के 'कम्म' 'कज्ज' जैसे शब्द हिन्दी में 'काम और काज' बन गए। दूसरा है, परसर्गों की बहुलता और तीसरा, तत्सम शब्दों का प्रचलन। जैन आचार्यों और कवियों की रचनाएँ मूल रूप में प्रमाणिक और सुरक्षित हैं। उनके अध्ययन से तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति की जो सूचना मिलती है, वह वास्तविक और विश्वसनीय है। इस दृष्टि से जैन रचनाओं का महत्व बहुत अधिक है। ये हमें लोकभाषा के काव्य रूपों को समझने में सहायता पहुँचाते हैं और साथ ही उस काल की भाषागत अवस्थाओं और प्रवृत्तियों को समझने में मदद भी करते हैं। जैन रचनाकारों के चरित काव्यों के अध्ययन से परवर्ती साहित्य की कथानक रूढ़ियों, काव्यरूपों, छंद योजना, वर्णन शैली और वस्तुविन्यास को समझनें में मदद मिलती है। इस प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर जैन साहित्य का महत्व बढ़ जाता है।

7.3.2 स्व–मूल्यांकन :

प्रिय विद्यार्थियों! निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तर का कोष्ठ (✓ / X) में दिए गए चिह्न द्वारा चयन कर आप अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन कर सकते हैं।

1. आचार्य शुक्ल हिन्दी का आरंभ सिद्धों की रचनाओं से स्वीकार करते हैं। ( )
2. अनुभव और प्रयोग के धरातल पर भाषा का विकास सातवीं सदी से हो चुका था। ( )
3. आचार्य शुक्ल के इतिहास में नाथ, सिद्धों और जैन रचनाकारों की उपेक्षा नहीं की गई है। ( )
4. भाषा को विशिष्ट बनाने वाली मूलतः चार भाषा प्रवृत्तियाँ हैं। ( )
5. अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर जैन साहित्य का महत्व बढ़ जाता है। ( )

आचार्य शुक्ल के बाद दूसरे महत्वपूर्ण इतिहासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। उन्होंने अपभ्रंश भाषा को एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकार किया है। लेकिन स्वतंत्र भाषा का महत्व उन्होंने हिन्दी के लिए आवश्यक माना है। उन्होंने आदिकालीन भाषा और साहित्य का रूप इतना अधिक मिला–जुला पाया कि वास्तविक हिन्दी की शुरूआत

ही वे भक्ति काल से मानते हैं। वस्तुतः आदिकालीन साहित्य की भाषा में कंई तरह के मिश्रित रूप हमें मिलते हैं। सिद्धों की भाषा, नाथों की भाषा और जैन कवियों की भाषा में क्षेत्रीय विविधता के लोकरंग के साथ भाषा रंगी हुई जान पड़ती है। वे रासो काव्य परंपरा की भाषा में अलग प्रकार की विविधता को देखते हैं। इतनी अधिक मिश्रित संवेदनाओं के बीच यह पहचानने में अवश्य कठिनाई होती है कि भाषा कहां से शुरू हुई थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के समय को हिन्दी साहित्य का आदिकाल मानते हैं। तब मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक हो जाता है कि फिर अपभ्रंश काव्य पर इतनी विस्तृत चर्चा का उद्देश्य क्या था ? अपरोक्ष रूप से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी आदिकाल के प्रारंभिक सीमा को सातवीं सदी में ही स्वीकार करते हैं। उन्हीं के अनुसार इस प्रकार दसवीं से चौद्हवीं शताब्दी का काल जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश के ही आगे का रूप है। इसी अपभ्रंश के परवर्ती रूप को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी। इस वक्तव्य को ध्यान पूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बारहवीं शताब्दी से पहले की भाषा अपभ्रंश थी। यही अपभ्रंश भाषा पुरानी हिन्दी भी थी। दूसरा उद्धरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ही ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास' से प्रस्तुत किया जा सकता है। उनका कथन है ''सातवीं आठवीं शताब्दी से इन रचनाओं की प्राप्ति होने लगती है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाये हैं। (1) सिद्धों की वाणी, और (2) सामन्तों की स्तुति। इसलिए उन्होंने उस काल को सिद्ध सामंत युग कहा है किन्तु इस नाम से उन अत्यंत महत्वपूर्ण लौकिक साहित्य का कुछ भी आभास नहीं मिलता जो परवर्ती काव्य में भी व्यापक रूप में प्रकट हुई है।'' इस पूरे उद्धरण से ऐसा लगता है कि उन्हें सातवीं–आठवीं शताब्दी से साहित्य का उद्‌भव मानने में कोई आपत्ति नहीं है इसलिए सातवीं–आठवीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य का उद्‌भव माना जा सकता है। बाद के साहित्यकारों में डॉ० राजकुमार वर्मा तथा राहुल सांकृत्यायन ने भी सातवीं आठवीं शताब्दी से हिन्दी का प्रारंभ माना है। डॉ० राजकुमार वर्मा ने गुलेरी जी के मत का समर्थन किया है और राहुल सांकृत्यायन ने भी उत्तर अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी की रचना माना है। अतः हिन्दी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से स्वीकार किया जा सकता है। यह एक अलग विवाद है कि सरहपा को प्रथम कवि मानें या पुष्पदतं को। यदि तत्सम प्रधान भाषा के प्रयोग को हिन्दी का मुख्य आधार बनाया जाता है तो सरहपा पहले कवि ठहरते हैं।

7.3.3 स्व–मूल्यांकन :

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय से आपने हिन्दी साहित्य के काल–विभाजन का अध्ययन कर लिया है। निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक कर सकते हैं।

1. अप्रभंष की किस भाषा से हिन्दी का विकास होता है?

(क) जनभाषा
(ख) शौरसेनी प्राकृत–शौरसेनी अपभ्रंश
(ग) महाराष्ट्री–प्राकृत– महाराष्ट्री अपभ्रंश
(घ) अर्धमागधी प्राकृत–अर्थमागधी अपभ्रंश

2. पंडित चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने अपभ्रंश को क्या नाम दिया है?

(क) टकसाली (ख) अवहट (ग) पुरानी हिन्दी (घ) देश भाषा

3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी का आरंभ किस ई. से मानते हैं?

(क) 993 ई. से (ख) 779 ई. से (ग) 667 ई. से (घ) 556 ई. से

4. निम्नलिखित में से हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित ग्रंथ कौन–सा नहीं है?

(क) हिन्दी साहित्य का आदिकाल (ख) हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास

(ग) हिन्दी साहित्य की भूमिका (घ) हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास

5. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किस शताब्दी से किस शताब्दी तक के समय को हिन्दी साहित्य का आदिकाल माना है?

(क) दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक (ख) आठवीं से नौवीं शताब्दी तक

(ग) नौवीं से दसवीं शताब्दी तक (घ) बारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक

7.4. निष्कर्ष

हिन्दी भाषा के आदिकाल की प्रारंभिक सीमा की तरह अंतिम सीमा भी विवादपूर्ण है। ग्रियर्सन आदिकाल की अंतिम सीमा 1400 ई० तक मानते हैं। मिश्रबंधु आदिकाल की अंतिम सीमा 1529 ई० स्वीकार करते हैं। रामचंद्र शुक्ल संवेदना के बदलाव के साथ आदिकाल की अंतिम सीमा 1318 ई० स्वीकार करते हैं, परंतु वे विद्यापति को आदिकाल में रखते हैं। विद्यापति संवेदना की दृष्टि से मूलतः इंद्रिय बोध के कवि हैं। उनकी कविता में मानवीय प्रेम और श्रृंगार की अभिव्यक्ति हुई है। उन्हें भक्तिकाल में नहीं रखा जा सकता। उनका जीवन बोध प्रेम की अनुभूति से प्रेरित है, लेकिन वे वीर और भक्ति भाव से पूर्ण काव्य की रचना भी करते थे। विद्यापति की कविता का रचनाकाल 1318 ई० के बाद का है। अतः हमें सीमा की सुसंगत विभाजन के लिए काल सीमा को आगे ले जाना होगा। अतः 1400 ई० को आदिकाल की अंतिम सीमा रखा जा सकता है। अमीर खुसरो को भी इस सीमा के अंतर्गत स्थान मिल जाता है। इसलिए आदिकाल की अंतिम सीमा को विद्वानों ने 1400 ई० ही माना है।

7.5. कठिन शब्द

1. बहिष्कृत–परित्याक्त, जिसके साथ संबंध खत्म कर दिया गया हो।
2. मताग्रह–अपने मत या विचार की स्थापना या प्रचार के लिए किया जाने वाला आग्रह या हठधर्मिता।
3. हाशिए– किसी व्यक्ति या समूह को अलग–थलग करके ऐसा व्यवहार करना मानो वे महत्वपूर्ण नहीं हैं।
4. क्षतिपूरक– हानि पूरा करने वाला।
5. वक्तव्य– कथन

7.6. दीर्घ प्रश्नावली

1. हिन्दी साहित्य के आदिकाल की समय सीमा पर प्रकाश डालिए।

2. शुक्ल द्वारा दिये गए आदिकाल की समय–सीमा पर लेख लिखिए।

3. आदिकाल के काल विभाजन पर विभिन्न विद्वानों के मतों का विवेचन कीजिए।

7.7. लघु प्रश्नावली

1. हिन्दी साहित्येतिहास के प्रमुख लेखक और सभी कृतियों के नामोल्लेख कीजिए।

2. शुक्ल द्वारा आदिकाल की समय–सीमा निर्धारित कीजिए।

7.8. उत्तर कुंजी

7.3.1 स्व–मूल्यांकन : 1. अपभ्रंश 2. जनभाषा 3. प्रवाह प्रक्रिया 4. महाराज भोज, हम्मीर देव

7.3.2 स्व–मूल्यांकन : 1. सही 2. सही 3. गलत 4. गलत 5. सही

7.3.3 स्व–मूल्यांकन : 1. जनभाषा 2. पुरानी हिन्दी 3. 993 4. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास 5. दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक

7.9. पठनीय पुस्तकें :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

आदिकाल की प्रवृत्तियाँ

रूपरेखा

8.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
8.2. प्रस्तावना
8.3. आदिकाल की प्रवृत्तियाँ
8.3.1 वीरों की गाथाएं
8.3.2 वीररस की प्रधानता
8.3.3 युद्धों का सजीव वर्णन
8.3.4 श्रृंगार रस वर्णन
8.3.5 प्रकृति–चित्रण
* स्व–मूल्यांकन : (क)
8.3.6 आश्रयदाता, राजाओं की प्रशंसा तथा राष्ट्रीयता का अभाव
8.3.7 जन–जीवन के सम्पर्क का अभाव
8.3.8 ऐतिहासिक असंगतियाँ
8.3.9 अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन
8.3.10 'रासो' ग्रन्थों की प्रचुरता
* स्व–मूल्यांकन : (ख)
8.3.11 भाषा
8.3.12 काव्य रूप
8.3.13 छन्द
8.3.14 अलंकार
8.3.15 हिन्दी कविता का प्रारम्भिक रूप
8.3.16 सांस्कृतिक महत्व
8.3.17 भक्तिकालीन साहित्य पर प्रभाव
* स्व–मूल्यांकन : (ग)
8.4 सारांश
8.5. कठिन शब्द
8.6. अभ्यासार्थ प्रश्न
8.7 उत्तर कुंजी
8.8. पठनीय पुस्तकें

8.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको आदिकाल की प्रवृत्तियों से परिचित करवाना है

इस अध्याय का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त आप आदिकालीन प्रवृत्तियों को समझने में सक्षम होंगे।

8.2 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास का समय–सामान्यतः सं. 1050 वि. से माना जाता है। सं. 1050 से सं. 1375 वि. तक के समय को हिन्दी साहित्य के इतिहास के इतिहासकारों ने आदिकाल, वीरगाथा काल, प्रारंभिक काल, उन्मेष काल, बीजवपन काल, सिद्ध सामंत काल, अपभ्रंश काल, संधिकाल, संक्रमण काल तथा चारणकाल आदि अनेक नामों से अभिहित करना चाहा है। इनमें दो नाम ही अधिक प्रचलित रहे है आदिकाल तथा वीरगाथा काल। इस काल में अधिकतर रासो ग्रंथ रचे गए हैं। विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो आदि इस काल के ग्रंथ हैं। विद्यापति कृत 'कीर्तिपताका' और 'विद्यापति पदावली' का भी इस काल के साहित्य में विशेष महत्व है हालांकि इसका समय आदिकाल के बाद का है। सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य और लोक साहित्य भी इस कालावधि में प्रचुर मात्रा में रचा गया है।

8.3 आदिकाल की प्रवृत्तियां

प्रत्येक साहित्यिक काल की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ और काव्यगत विशेषताएँ होती हैं। डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' ग्रंथ में इस काल की प्रवृत्तियों को रास एवं रामान्वयी काव्यधारा, नाथ, संत, वैष्णव, सूफी काव्यधाराओं और विविध रचनाओं के उपशीर्षकों में करना चाहा है। इस काल की प्रवृत्तियों (विशेषताओं) का विवेचन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है

8.3.1. वीरों की गाथाएं–

इस काल में वीरगाथात्मक रचनाएं प्रचुर मात्रा में लिखी गई। इस काल के अनेक रचयिता राजाओं के आश्रय में रहते थे। अपने–अपने आश्रयदाता राजाओं के शौर्य की प्रशंसा बढ़ा–चढ़ाकर करना उनकी एक प्रमुख विशेषता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल की जनता भी ऐसी कहानियाँ कहने और सुनने में अधिक रस लेती थी। तत्कालीन राजाओं में शौर्य का अभाव भी नहीं था, इसलिए उनकी वीरता को काव्य का विषय बनाना स्वाभाविक था। पृथ्वीराज रासों में चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज की वीरता और शौर्य का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। खुमान रासो, परमाल रासो, बीसलदेव रासो आदि में भी इस तरह के वर्णन मिलते हैं। परमाल रासो जिसका विकसित रूप आल्हा है, आज भी गांवों में बड़े उत्साह के साथ गाया–सुना जाता है। इस काव्य में आल्हा और ऊदल की वीरता के कारनामे भरे हुए हैं।

8.3.2. वीररस की प्रधानता –

इस काल की अधिकांश रचनाओं में वीर रस की अभिव्यक्ति हुई है। वीरों के साहस, शौर्य उत्साह, धैर्य आदि के वर्णन ऐसी ओजस्वी भाषा में हुए हैं, जो सहज ही वीर रस की अनुभूति कराते हैं। उदाहरण के लिए 'पृथ्वीराज रासो' की निम्नलिखित पंक्तियां देखिए –

छुटी अंखि पट्टी मानो उग्गि सूरं।
गिरे काइरं सूर बद्धे सनूरं।।
लियं हत्थ करवार भंजे कपारं।
लियं जोगिनी पव्व कीयें डकारं।।

(अर्थात् पृथ्वीराज के मंत्री कन्हचौहान की आंखों पर बंधी पट्टी जब युद्धक्षेत्र में खुली, तब ऐसा लगा, मानो सूर्य उदय हो गया हो। उसकी वीरता के आतंक से कायर गिर पड़े और कन्ह के साथी शूरवीर सैनिक ओज से भर उठे। वे अपने हाथ में तलवार लेकर शत्रुओं के सिर काटने लगे। मारे गये सैनिकों के रक्त से खप्पर भर–भर कर योगिनी पीने लगी और तप्ति–सूचक डकार लेने लगी।) अनेकानेक युद्धों के कारण वीरों के लिए युद्ध–क्षेत्र में उत्साह दिखाने के अवसर आते ही रहते थे। कवियों ने जहां–जहां उत्साह का चित्रण किया है, वहां–वहां वीर रस प्रकट हो गया है। इस काल में वीर रस का इतना सुन्दर परिपाक हुआ कि बाद के साहित्य में इसका इतना रूप मिलना दुर्लभ है।

8.3.3. युद्धों का सजीव वर्णन –

आदिकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति यह दृष्टि गत होती है कि इस काल में युद्धों का वर्णन बहुत अधिक हुआ। ये वर्णन इतने सजीव हैं कि आंखों के सामने युद्धों का चित्र उपस्थित हो जाता है। घोड़ों का दौड़ाना, शस्त्रों का चलना, युद्ध के बाजों का बजना सभी कुछ कवियों की वाणी से मुखरित होता हुआ प्रतीत होता है। युद्ध के ऐसे चित्र साहित्य में अन्यत्र प्राप्त नहीं होते। इसका कारण यह है कि इस काल के कवि न केवल युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी होते थे, वरन् वे युद्धों में स्वयं हिस्सा भी लेते थे। चन्द कवि ने युद्ध वर्णन इस प्रकार किया है

बज्जिय घोर निसान रानं, चौहान चहौ दिस।
सकल सूर सामन्त समरि बल जंत मंत्र तिस।।

उद्दि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर जट।
कढ़त तेग मन वेग लगत मनो बीज झट्ट घट।।

यहां पर द्वित्व वर्ण–प्रधान भाषा और छन्द की योजना ऐसी हुई है, जो युद्ध–वर्णन को बहुत स्वाभाविक बना देने वाली है। युद्ध–वर्णन के अनेक प्रसंग इस काल की सभी वीर रचनाओं में मिलते हैं।

8.3.4 शृंगार रस वर्णन–

आदिकाल में एक प्रवृत्ति है वीर रस के साथ शृंगार रस का संयोग। इन रचनाओं में वीररस के वर्णन तो हैं, उनके साथ शृंगार रस की अभिव्यंजना भी स्थल–स्थल पर मिलती है। इस काल में युद्धों का एक कारण प्रायः कोई सुन्दर कन्या हुआ करती थी। ऐसा होता था कि राजा किसी दूत के मुख से किसी स्त्री के सौन्दर्य की प्रशंसा, उसके अंग–प्रत्यंग की शोभा का वर्णन सुनता था। वह वर्णन शृंगारिकता होता था। स्त्री की प्राप्ति न होने पर राजा उनके विरह में दग्ध रहता था। युद्ध में जीती हुई महिलाओं के साथ राजाओं के भोग–विलास के चित्र भी इन काव्यों में खींचे गए है। ये सभी प्रसंग शृंगार रस के हैं ऐसे प्रसंग वीरगाथा काव्य में बहुत मिलते हैं। इन वर्णनों में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ वीररस और शृंगार रस बड़ी कुशलता के साथ मिले हुए हैं। वीरता और शृंगारिकता का ऐसा अदभुत मेल इस काल की उल्लेखनीय विशेषता है।

8.3.5 प्रकृति–चित्रण –

इस काल में प्रकृति का आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों ही रूपों में चित्रण हुआ है। युद्ध क्षेत्र में जाते हुए सैनिकों का वर्णन करते समय रास्ते में पड़ने वाले नगर, नदी, पर्वत आदि का वर्णन कवियों ने जमकर किया है। रात के उपस्थित होने, सुबह होने आदि का प्राकृतिक चित्रण भी कवियों ने किया है। प्रकृति का चित्रण विशेष कर उद्दीपन रूप में ही हो पाया है। प्रकृति के स्वतंत्र या आलम्बन रूप के चित्रण में कवियों ने अधिक रूचि नहीं दिखाई है। प्रकृति–चित्रण के नाम पर वस्तुओं की गणना ही अधिक मिलती है।

*** स्व–मूल्यांकन : (क)**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. पृथ्वीराज रासों में चंदबरदाई ने पृथ्वीराज की .... का बहुत विस्तार से वर्णन किया है।
2. कवियों ने जहां–जहां उत्साह का चित्रण किया है, वहां–वहां ....प्रकट हो गया है।
3. इस काल में युद्धों का एक कारण प्रायः कोई ....हुआ करती थी।
4. आदिकाल में एक प्रवृत्ति है वीर रस के साथ ....का संयोग।
5. इस काल में.. का आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों ही रूपों में चित्रण हुआ है।

8.3.6 आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा तथा राष्ट्रीयता का अभाव–

इस काल में कवियों की वाणी अपने–अपने आश्रयदाताओं के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में ही लगी रही। इन लोगों ने देश की स्थिति एवं भविष्य की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया, जिसके कारण उनके काव्य में राष्ट्रीयता का पूर्ण अभाव रहा। उनका लक्ष्य केवल उसी राज्य या राजा तक ही सीमित रहता था, जिसके वे आश्रित होते थे। उदाहरण के लिए, महाकवि चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज चौहान का यशोगान किया है, तो भट्ट केदार तथा मधुकर कवि ने पृथ्वीराज चौहान के विरोधी, कन्नौज के राजा जयचन्द का, हालांकि भारतीय जनता में इस नरेश को 'देशद्रोही' के रूप में जाना जाता है।

8.3.7 जन–जीवन के सम्पर्क का अभाव –

रासो ग्रन्थों के रचयिता राजाश्रय में रहते थे। चन्दबरदाई, दलपति–विजय, भट्ट केदार, नरपति नाल्ह, जगनिक, विद्यापति आदि प्रमुख कवि राजाओं के आश्रित थे। इनका जन–जीवन से सम्पर्क कटा हुआ था। उनके जीवन के वैभव–विलास का चित्रण करना, उनकी समस्याओं एवं उनके द्वारा किये गये युद्धों आदि का चित्रण करना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। इसलिए इस काल के कवि जनता के करीब नहीं थे। इस काल के काव्य में जन–जीवन की समस्याएँ नहीं चित्रित हो पायी हैं। जैन–बौद्ध कवि यद्यपि जनता के बीच रहते थे, फिर भी उनका सम्बन्ध उनकी समस्याओं से न था। चारण कवि (रासो कवि) के आराध्य राजा लोग थे और जैन बौद्ध कवियों की आराध्य थी अपनी–अपनी भक्ति पद्धति। अगर कोई सम्बन्ध था तो सिर्फ इतना कि उनकी रचनाओं को जनता में गाया–सुना जाता था। 'आल्हा' तो पुराने समय से ही जनता के बीच अत्यंत प्रिय रहा है। अल्हैतों का ओजमय वाचन श्रोताओं को अब भी थिरका देता है। इसके अलावा और कोई वीरकाव्य जनप्रिय नहीं है।

8.3.8 ऐतिहासिक असंगतियाँ –

इस काल की अधिकतर रचनाएं तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित है किन्तु कवियों ने उनमें अपनी रूचि और आवश्यकता के अनुकूल स्थान–स्थान पर परिवर्तन कर दिया है। जिससे ऐतिहासिक सत्य को क्षति पहुंची है। वस्तुतः उनकी दृष्टि केवल घटना– विशेष का चमत्कारपूर्ण वर्णन करने में ही केन्द्रित रही है और उनका दृष्टिकोण इतना संकीर्ण है कि उन्होंने इतिहास के सत्य को अक्सर झुठलाने की कोशिश की है। उन्होंने सच और झूठ को मिलाकर अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना अपने काव्य का लक्ष्य बनाया है।

8.3.9. अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन –

इस काल की रचनाओं में कवियों ने हर बात बढ़ा–चढ़ाकर कही है जिससे उनके वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हो गए हैं। चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज के जन्म का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए लिखा है जिस दिन पृथ्वीराज का जन्म हुआ उस दिन कन्नौज पर बिजली गिर गई, दिल्ली दहल गयी, शेषनाग भी कुलमुला उठा इत्यादि। साधारण सामन्तों के साधारण कामों को इस तरह की अलौकिक रंगत देना इस युग के सभी कवियों की सामान्य विशेषता है। प्रशंसा की धुन में कवियों ने आश्रयदाता राजाओं की अनेक कल्पित शादियों एवं कल्पित लड़ाइयों का वर्णन किया है। युद्ध–वर्णनों में अतिशयोक्ति का विशेषतया सहारा लिया गया है।

8.3.10. 'रासो' ग्रन्थों की प्रचुरता –

इस युग में रची गई रचनाओं में से अधिकांश के साथ 'रासो' शब्द जुड़ा है। इसी कारण इन ग्रंथों को 'रासो काव्य' कहा जाता है। जैसे – पृथ्वीराजरासो, बीसलदेवरासो, खुमानरासो, परमालरासो आदि। इस काल के कवि 'रासो' या 'रासक' का प्रयोग चरित–काव्य एवं कथा–काव्य के लिए करते थे। इसका गेयरूपक के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता था। इस काल में प्रायः सभी रासो ग्रन्थों में कथानक, घटनाएं एवं भाषा–तिथियाँ आदि उलट–पुलट हो गये हैं।

*** स्व–मूल्यांकन : (ख)**

प्रिय विद्यार्थियों! निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर आप अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन कर सकते हैं।

1. इस काल में कवियों की वाणी अपने–अपने आश्रयदाताओं के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में ही लगी रही। ( )
2. इस काल के कवि जनता के करीब थे। ( )
3. इस काल के काव्य में जन–जीवन की समस्याएँ चित्रित हुई हैं। ( )
4. इस काल के कवि ने प्रायः सच और झूठ को मिलाकर अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना अपने काव्य का लक्ष्य बनाया है। ( )
5. इस काल की रचनाओं में कवियों ने हर बात बढ़ा–चढ़ाकर नहीं कही है। ( )
6. इस युग में रची गई रचनाओं में से अधिकांश के साथ 'रासो' शब्द जुड़ा है। ( )
7. सभी रासो ग्रन्थों में कथानक, घटनाएं एवं भाषा –तिथियाँ सही हैं। ( )

8.3.11. भाषा –

इस काल में प्रायः पांच भाषाओं की रचनायें प्राप्त होती हैं–अपभ्रंश, डिंगल, खड़ीबोली, ब्रजभाषा तथा मैथिली। अपभ्रंश रचनाओं को हिन्दी रचनाओं में शामिल नहीं किया जाता है। शेष भाषाओं की रचनाओं को हिन्दी की थाती माना गया है।

अपभ्रंश – इस भाषा का सबसे प्राचीन रूप सिद्धों, तांत्रिकों तथा योगमार्गी बौद्धों की रचनाओं में मिलता है। कुछ जैन आचार्यों–स्वयंभू, पुष्पदंत, मेरुतुंग सोमप्रभ सूरि आदि ने भी इस भाषा में ग्रंथ लिखे हैं, जो उच्चकोटि के है। नाथपंथियों ने भी अपने मत के प्रचार के लिए राजपूताना तथा पंजाब की प्रचलित भाषा में ग्रंथ लिखे जिनमें अपभ्रंश, राजस्थानी तथा खड़ी बोली का मिश्रण प्राप्त होता है। विद्यापति ने भी इस भाषा में ग्रन्थ रचे। इन कवियों के काव्य में परंपरानुसार साहित्यिक प्राकृत के प्राचीन शब्दों को देश भाषा –मिश्रित अपभ्रंश का रूप प्राप्त होता है। उसमें कुछ पूर्वी प्रयोग भी है। भाषा की दृष्टि से जैन–साहित्य पर नागर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है। इस भाषा की रचनाओं का प्रभाव वीर काव्यों के बाद के भक्त काव्य पर, विशेष कर ज्ञानमार्गी शाखा पर, अधिक पड़ा।

डिंगल – दूसरी महत्वपूर्ण भाषा राजस्थानी अथवा डिंगल है। प्रायः सभी 'रासो' इसी भाषा में लिखे गये हैं। भाषा की दृष्टि से डिंगल साहित्य प्रायः अव्यवस्थित है, क्योंकि उनका शुद्ध रूप प्राप्त नहीं होता। उसमें पिंगल का मिश्रण है। अपभ्रंश से प्रभावित होने के कारण उसमें संयुक्ताक्षरों तथा अनुस्वारों की भरमार है। प्रायः दस प्रतिशत अरबी–फारसी से युक्त शब्दों पर डिंगल की विभक्तियों का प्रभाव है। संयुक्ताक्षरों तथा अनुस्वारों की बहुलता भाषा की कृत्रिमता प्रकट करती है।

खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा – इन भाषाओं का रूप अमीर खुसरो की रचनाओं में प्राप्त होता है। उनकी पहेलियों तथा मुकरियों में तत्कालीन भाषा का रूप दिखाई देता है। खड़ी बोली दिल्ली तथा मेरठ की भाषा थी। इसमें हमें खड़ी बोली के पूर्व रूप के दर्शन होते हैं। इसमें अरबी तथा फारसी के शब्दों का भी प्रयोग है परन्तु काव्य–रचना तथा क्रियायें हिन्दी की हैं। खुसरो के ब्रजभाषा के छन्द भी बड़े स्वाभाविक और मनोरंजक हैं।

मैथिली– मैथिली बिहार के मैथिली जनपद की बोली होने पर भी हिन्दी की विभाषा मानी जाती है। इसलिए इस भाषा में लिखी गयी विद्यापति की पदावली हिन्दी–साहित्य की अमूल्य निधि मानी गई है। मैथिली तथा अवधी पड़ोसी बोलियां हैं। इसलिए उनके प्रारम्भिक स्वरूप में कोई भेद नहीं दिखाई देता।

8.3.12. काव्य–रूप –

इस काल की रचनाओं में काव्य के दो रूप हैं–प्रबन्ध और मुक्तक। पृथ्वीराजरासो, परमालरासो, जयमयंक–जसचन्द्रिका, खुमानरासो, संदेश रासक आदि प्रबन्ध काव्य हैं। खुसरो की पहेलियां, विद्यापति की पदावली और प्राकृत पैंगलम् में संकलित रचनायें मुक्तक काव्य के अन्तर्गत आती हैं। नरपति नाल्ह का बीसलदेवरासो मुक्तक और वीरगीतिकाव्य हैं। परन्तु इसमें कथा–सूत्र मिलते हैं।

8.3.13. छन्द –

छन्दों के क्षेत्र में जिस प्रकार 'श्लोक' संस्कृत का और 'गाथा' प्राकृत का प्रतीक था, उसी प्रकार 'दोहा' अपभ्रंश का प्रतीक है। तुक का मिलन अपभ्रंश की विशेषता है। मुक्तक काव्य में इसका विशेष प्रयोग हुआ तथा इसमें प्रथम बार तुक मिलाने का प्रयत्न किया गया। अपभ्रंश के काव्य अनेक संधियों (सर्गों) में विभक्त हैं। प्रत्येक सन्धि में अनेक कड़वक होते हैं। पद्घटिका, अरिल्ल आदि कुछ छन्द लिखकर अन्त में 'धत्ता' अथवा अन्य किसी ऐसे छन्द द्वारा इनका

विच्छेद किया जाता है। चौपाई तथा दोहों द्वारा कड़वकों की रचना का श्रेय सिद्धों को था। आरम्भ में कथा–काव्यों का छंद चौपाई था। अनेक दोहों के उपरान्त चौपाई द्वारा कथा की योजना 'ढोला मारू रा दूहा' में मिलती है। धीरे–धीरे अपभ्रंश में अनेक बड़े–बड़े छन्दों का आरम्भ हुआ। चन्दबरदाई छप्पय छन्द के विशेषज्ञ हैं, यद्यपि उन्होंने दूहा, पद्धरी, तोमर, नाराच आदि का भी सुन्दर प्रयोग किया है। कहीं–कहीं 'शार्दूल–बिक्रीड़ित' और 'गाहा' (गाथा) छन्दों का प्रयोग भी मिलता है।

8.3.14. अलंकार –

इस काल के काव्यों में अनेक अलंकारों का प्रयोग सफलता के साथ हुआ है। प्रायः सभी प्रसिद्ध शब्दालंकार, जैसे–अनुप्रास, यमक, श्लेष और वीप्सा आदि तथा अर्थालंकार, जैसे–उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह भ्रान्तिमान और अतिशयोक्ति आदि इस युग की रचनाओं में मिलते हैं।

8.3.15. हिन्दी कविता का प्रारम्भिक रूप –

आदिकालीन साहित्य के प्रारम्भिक रूप एवं साहित्यिक महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। इसका प्रारम्भ कविता से ही हुआ। हिन्दी भाषा के आदिमस्वरूप की परिचायक प्रवृत्तियाँ कविता में ही मिलती हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में गद्य तथा पद्य–दोनों में साहित्य लिखने की परम्परा थी, फिर भी हिन्दी में केवल पद्य लेखन की परम्परा अपनाने का कारण संभवतः यह था कि हिन्दी के प्रारंभिक स्वरूप को पद्य में मान्यता दिलाना आवश्यक था। लोकभाषा के प्रारंभिक स्वरूप को साहित्य में मान्यता दिलाकर ही भाषा विकास की प्रक्रिया को सशक्त किया जा सकता था। इस काल में केवल डिंगल, ब्रजभाषा, मैथिली और खड़ी बोली के विकास को कविता द्वारा तीव्रता और मान्यता प्रदान की गई और इन भाषा ओं को साहित्यिक रूप दिया गया।

8.3.16. सांस्कृतिक महत्व –

सांस्कृतिक महत्व की दृष्टि से आदिकाल में रचा गया साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश ग्रंथों के अतिरिक्त आदिकाल का महत्व हिन्दी ग्रंथों के ऐतिहासिक प्रमाण ढूँढने की दृष्टि से भी 19वीं शताब्दी में इस काल के साहित्य ने इसी दृष्टि से देश –विदेश के विद्वानों और साहित्येतिहास लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। इस साहित्य को अधिकाधिक प्राचीन सिद्ध करने और उससे ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने का विद्वानों ने प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी इस साहित्य का महत्व है। सबसे बढ़कर इस काल के साहित्य का सांस्कृतिक महत्व है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में ''उससे भारत की एक सुदीर्घ सांस्कृतिक परंपरा पर प्रकाश पड़ता है। उस समय के अन्य अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का इतिहास इस दृष्टि से अत्यंत रोचक है। इस प्रकार योगियों, सहजयानियों और तांत्रिकों के ग्रन्थों से अनेक उलटबाँसियों का संग्रह किया जा सकता है।'' सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य के अध्ययन से तत्कालीन महान सांस्कृतिक उथल–पुथल का परिचय होता है।

8.3.17. भक्तिकालीन साहित्य पर प्रभाव –

आदिकाल के काव्य ने, जो जैन संतों और बौद्ध एवं नाथपंथी सिद्धों द्वारा रचित है, अपने परवर्ती साहित्य को अपनी कई विशेषताओं से प्रभावित किया। जैन–कवियों के काव्य–रूपों, काव्य–रूढ़ियों एवं कथा–रूढ़ियों ने भक्तिकालीन काव्य को विशेषतः प्रभावित किया। बौद्ध और नाथपंथी सिद्धों के काव्य ने अपने विचारतत्व की ही छाप संत काव्य पर न छोड़ी, वरन् उसकी काव्य–शैली को भी प्रभावित किया। निर्गुणवादी संतों की वाणियों पर बौद्ध धर्म के अन्तिम

सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदों का सीधा प्रभाव दिखाई देता है। वैसे ही पद, वैसी ही राग–रागनियों, वैसे ही दोहे, वैसी ही चौपाइयाँ कबीर आदि संतों ने व्यवहृत की हैं, जैसी उक्त मतों को मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र ही वे कबीरदास के मार्ग–दर्शक हैं। कबीर में जो खंडनात्मक प्रवृत्ति है, जो अखण्डता है, गुरू के प्रति जो प्रतिष्ठा–भाव है, वह सब सिद्धों की विरासत है। 'सद्गुरू' शब्द सहजयानियों, बज्रयानियों, तांत्रिक और नाथपंथी में समान–भाव से समादृत है। कबीर का जाति–पाति विरोध भाव भी बहुत कुछ सरहपा (सरोरुहपाद) द्वारा इस सम्बन्ध में अपनाये गये तेवर–जैसा ही है। सिद्ध–साहित्य ने एक अन्य प्रकार से परवर्ती कवियों को प्रभावित किया। उनके द्वारा लिखे गए गूढ़ अर्थगर्भित, प्रतीकात्मक पदों (जिन्हें 'उल्टबांसियां' कहा गया) की शैली को परवर्ती चन्दबरदाई, कबीर और सूरदास ने अपने दृष्टि कूटकों में अपनाया। श्री राहुल सांकृत्यायन और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्वीकार किया है कि संत कवियों की उलटबांसियों पर सिद्धों का प्रभाव है। कबीर आदि साधकों ने नाथपंथियों और सहजयानियों के बहुत से शब्द, पद और दोहे–ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए थे।

*** स्व–मूल्यांकन : (ग)**

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में आपने आदिकाल की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है। निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप अपने अध्ययन का निरीक्षण कर सकते हैं।

1. **आदिकाल के अधिकांश कवि किसके आश्रय में रहते थे ?**

   (क) महाजनों (ख) पूंजीपतियों (ग) राजाओं (घ) अंग्रेजों

2. **'पृथ्वीराज रासो' महाकाव्य में किस रस की प्रधानता है ?**

   (क) वीर रस (ख) श्रृंगार रस (ग) शांत रस (घ) करुणा रस

3. **महाकवि चन्दरबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' को किसने पूर्ण किया?**

   (क) जल्हण (ख) त्रिभुवन (ग) धनपाल (घ) पुष्पदंत

4. **पृथ्वीराज चौहान के विरोधी राजा कौन थे?**

   (क) जयचन्द (ख) हेमचन्द (ग) भट्टकेदार (घ) श्रीधर

5. **वीर रस की अभिव्यक्ति में किस भाषा का प्रयोग हुआ है।**

   (क) अपभ्रंश (ख) डिंगल (ग) पिंगल (घ) ब्रज

6. **चन्दबरदाई किस छन्द के विशेषज्ञ हैं ?**

   (क) चौपाई (ख) सोरठा (ग) दोहा (घ) छप्पय

7. **विद्यापति पदावली में किस भाषा का प्रयोग हुआ है**

   (क) खड़ी बोली (ख) ब्रज भाषा (ग) मैथिली (घ) भोजपुरी

8.4 सारांश

हिन्दी–साहित्य के इतिहास का यह काल जिसको 'आदिकाल' के नाम से अभिहित किया गया, साहित्य–सृजन और भाषा रचना की दृष्टि से विकासशील और महत्वपूर्ण है। इस काल में साहित्य की कई ऐसी उपलब्धियाँ सामने उभरकर आई हैं, जिनका परवर्ती साहित्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है।

8.5 कठिन शब्द

1. निर्माता = बनाने वाला
2. अवदान = पराक्रम
3. परिणति = शिखर
4. विकृति = खराबी
5. द्वन्द्व = मानसिक संघर्ष, ऊहापोह

8.6. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालें।

____
____
____
____
____

2. आदिकाल की भाषा पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

____
____
____
____
____

3. आदिकाल साहित्य का भक्तिकालीन साहित्य पर कैसे प्रभाव पड़ा, स्पष्ट कीजिए।

____
____
____
____
____

8.7 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. वीरता और शौर्य 2. वीर रस 3. सुन्दर कन्या 4. श्रृंगार रस 5. प्रकृति

स्व–मूल्यांकन (ख) 1.सही 2.गलत 3. गलत 4. सही 5. गलत 6. सही 7. गलत

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. राजाओं 2. वीर रस 3. जल्हण 4. जयचन्द 5. डिंगल 6. छप्पय 7. मैथिली

8.8. पठनीय पुस्तकें :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

आदिकालीन हिन्दी का सिद्ध और नाथ साहित्य

रूपरेखा

9.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
9.2 प्रस्तावना
9.3 आदिकालीन सिद्ध साहित्य
9.3.1 सरहपा
9.3.2 शबरपा
9.3.3 कण्हपा
9.3.4 लुइपा
9.3.5 डोम्भिपा
9.3.6 कुक्कुरिपा
9.3.7 स्व–मूल्यांकन (क)
9.4 सिद्ध साहित्यः प्रमुख अवधारणाएं
9.4.1 स्व–मूल्यांकन (ख)
9.5 आदिकालीन हिन्दी का नाथ साहित्य
9.5.1 मत्स्येन्द्रनाथ
9.5.2 जालन्धरनाथ
9.5.3 गोरखनाथ
9.5.4 चर्पटनाथ
9.5.5 चौरंगीनाथ
9.5.6 स्व–मूल्यांकन (ग)
9.6. सारांश
9.7. कठिन शब्द
9.8. अभ्यासार्थ प्रश्न
9.9. पठनीय पुस्तकें

9.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों ! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको–

– सिद्ध साहित्य के रचनाकारों एवं उनके द्वारा लिखे गए साहित्य से परिचित करवाना।

– सिद्धों के दार्शनिक और भावात्मक विचारों का ज्ञान देना।

– इस बात की जानकारी देना कि इनके साहित्य में एक ओर तो जीवन की स्वाभाविक प्रेरणाओं का सात्विक रूप था तो दूसरी ओर तंत्र की क्रियाओं के प्रति आस्था थी।

– नाथ साहित्य के रचनाकारों एवं उनके द्वारा लिखे गए साहित्य से अवगत करवाना।

इस अध्याय का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त आपको आदिकालीन हिन्दी के सिद्ध व नाथ साहित्य के रचनाकारों एवं उनके द्वारा लिखे गए साहित्य का ज्ञान प्राप्त होगा।

9.2 प्रस्तावना

सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत जिन रचनाओं को स्थान प्राप्त है वे सिद्धों के दार्शनिक और भावात्मक विचारों से ओतप्रोत हैं। 'सिद्ध सम्प्रदाय' बौद्ध धर्म की परम्परा में हिन्दू धर्म से प्रभावित एक धार्मिक आन्दोलन था। इसमें एक ओर तो जीवन की स्वाभाविक प्रेरणाओं का सात्विक रूप ग्रहण है और दूसरी ओर तंत्र की क्रियाओं के प्रति आस्था है। इस साहित्य का रचनाकाल सातवीं शती से लेकर तेरहवीं शती के मध्य तक माना जा सकता है। इसके रचनाकारों ने वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड, यज्ञ और हिंसा के विरोध में सदाचार व करूणा का प्रसार किया था। इतना ही नहीं, सिद्धों ने आत्मवाद व करूणा का प्रसार व दुःख से तत्कालीन मानव–समाज को मुक्त करने का प्रयास किया। सिद्ध कवियों ने अपने सिद्धान्त को वर्ण भेद से भी ऊपर उठाया। सिद्ध साहित्य के रचयिताओं में सरहपा, शबरपा, लुईपा, डोम्भिपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा विशेष प्रसिद्ध हैं। बौद्ध धर्म की वज्रयानी शाखा के सिद्धाचार्यों द्वारा सृजित साहित्य 'सिद्ध साहित्य' कहा जाता है। इन सिद्धों के समकालीन और परवर्ती शैव साधकों को 'नाथ' की संज्ञा दी गई है। अतः दोनों सम्प्रदायों में तात्विक अन्तर स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

9.3 आदिकालीन सिद्ध साहित्य

सिद्धों की भाषा का स्वरूप साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न रूप लिए हुए है। इसमें तत्समता की प्रवृत्ति स्पष्टतः देखने को मिलती है। इसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने अपभ्रंश से इतर हिन्दी की प्रमुख विशेषता के रूप में स्वीकार किया है। सिद्धों की भाषा को "संध्या भाषा" भी कहा जाता है। साधनापरक विशिष्ट प्रतीकों के कारण इनकी भाषा न केवल अस्पष्ट लगती है, अपितु सामान्य पाठक के लिए तो दुरूह भी है। इस विषय में डॉ. हरिवंश काछड़ द्वारा किया गया विश्लेषण प्रभावित करता है। उनका कथन है कि "जनसाधारण की भाषा में कविता करके इन्होंने अपने विचारों को जनता के समझने योग्य तो बना दिया किन्तु इन्हें सदा इस बात का भय रहता था कि कहीं हमारे विरोधी इस आचार बाह्य कर्म–कलाप का विरोध कर जनता में हमारे प्रति घृणा का भाव पैदा न कर दें। अतएव ये अपनी कविता सबको सुनने का अवसर न देते थे और इसीलिए इन्होंने ऐसी द्वयर्थक भाषा का प्रयोग प्रारम्भ किया उसी को संध्याभाषा कहा गया।"

सिद्धों ने प्रमुखतः 'दोहा कोष ' तथा 'चर्यापद' जैसे काव्य–रूपों का प्रयोग किया है। नीति–काव्यों और उपदेशों को दोहा छंद के माध्यम से अभिव्यक्ति दी गई है। डॉ. धर्मवीर भारती के अनुसार 'दोहा–कोश' दोहों से युक्त चतुष्पदियों की 'कड़वक' शैली में मिलते हैं। सहरपा, कण्हपा, और तिलोपा के 'दोहा–कोश' उपलब्ध है। 'चर्यापद' वास्तव में इनके व्यवहार सम्बन्धी गेय पद है। इनमें सिद्धों की जीवनचर्या को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। डॉ. भारती ने अपने शोध –ग्रंथ में लिखा है कि ''चर्यापद बौद्ध तांत्रिक चर्या के समय गाए जाने वाले पद हैं जो विभिन्न सिद्धाचार्यों द्वारा लिखे गए हैं, किन्तु एक साथ संगृहीत कर दिए गए हैं। ये पद विभिन्न राग–रागिनियों पर आधारित है।'' सिद्धों की कविता का वर्ण्य–विषय साधनापरक रहा है। या तो उन्होंने साधना सम्बन्धी सैद्धान्तिक अथवा नीतिपरक कथन किए है अथवा साधना के व्यावहारिक रूप को व्यक्त किया है अथवा पाखण्ड का विरोध किया है, या चित्तवृत्तियों के निरोध पर बल दिया है। इन अभिव्यक्तियों में उन्होंने साधना की विशिष्ट शब्दावली का प्रायः प्रयोग किया है। इस शब्दावली के बहुतायत से प्रयुक्त होने वाले कुछ शब्द ये हैं महासुख, सहज–समाधि, निरंजन, नैरात्म, निर्वाण, शून्य, गगन, ललना, रसना, अवधूती, शबरी, डोम्पी इत्यादि। यद्यपि उनकी कविता में काव्यत्व की कमी है, किन्तु अनेक स्थलों पर उनमें प्रतीकों

एवं रूपकों का सुन्दर प्रयोग मिलता है जिससे उनकी साधना का रूप स्पष्ट होता है तथा काव्यत्व की झलक भी मिलती है।

परम्परा से सिद्धों की संख्या 84 मानी जाती रही है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह संख्या प्रतीकात्मक है और इसका सम्बन्ध चौरासी लाख योनियों अथवा कामशास्त्र से सम्बन्धित 84 आसनों से जोड़ा जाता है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने 84 सिद्धों की नामावली तो दी है, किन्तु उस सूची में मणिभद्रा, मेखला, कनखला तथा लक्ष्मीकरा चार योगिनियां भी सम्मिलित हैं। यहां सभी का परिचय न तो अपेक्षित है और न आवश्यक ही है। अतः प्रमुख सिद्धों का ही परिचय दिया जा रहा है।

9.3.1 सरहपा

84 सिद्धों में सर्वप्रथम सिद्ध सरहपा का साहित्य ही हमें प्राप्त होता है। डॉ. विनयतोश भट्टाचार्य ने वि.सं. 690 में इनका समय निश्चित किया है, किन्तु राहुल सांस्कृत्यायन ने अपनी कृति "हिन्दी काव्यधारा" में इनका समय 769 ई. स्वीकार किया है। राहुल जी की मान्यता है कि पूर्व दिशा में स्थित किसी राज्ञी नामक नगर में किसी ब्राह्मण परिवार के अन्तर्गत इनका जन्म हुआ था। इन्होंने नालन्दा में अध्ययन किया तथा पहले बौद्ध भिक्षु बने और फिर वहीं आचार्य हो गए। बाद में वज्रयान के मंत्र–तंत्र से प्रभावित होकर एक शर बनाने वाली की निम्न जाति की कन्या को महामुद्रा बनाकर उससे सम्बन्ध स्थापित करने के कारण ये भी उसके साथ वन में रहकर शर बनाने लगे। इसीलिए ये सरहपा कहलाए। इनके नाम में ''पाद'' शब्द इसलिए जुड़ा कि सिद्ध लोग इस शब्द को आदरसूचक मानते थे। राहुल जी के अनुसार सरहपा किसी तांत्रिक नागार्जुन के शिष्य थे। सरहपा के 'दोहा–कोष' पर अद्वयवज्र ने एक टीका–विषय पद–भंजिका भी लिखी थी। राहुल जी को दोहा–कोष, के शाक्यमठ से सरहपाद के दोहाकोष की एक महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपि मिली थी जिसमें दोहों की संख्या पहले से प्राप्त दोहों की अपेक्षा कहीं अधिक थी। इसका प्रकाशन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से हो चुका है।

सरहपाद की कविता के वर्ण्य–विषय गुरु–महिमा, बाह्याडम्बरों तथा कर्मकाण्ड़ों का विरोध कायारूपी तीर्थ की प्रशंसा, महासुख और सहज मार्ग आदि हैं। इनकी काव्य–भाषा सरल, सुबोध और स्पष्ट है। इनकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव भी देखा जा सकता है। कतिपय विद्वानों ने इनकी भाषा में तत्समता को देखकर हिन्दी भाषा के आरम्भिक स्वरूप को भी खोज लिया है। अनेक विद्वानों ने इन्हें ही हिन्दी का प्रथम कवि माना है जो उचित है। इनकी भाषा की तत्समता को समझने के लिए यह उदाहरण लिया जा सकता है –

जहि मण पवणभण संचरइ, रवि सनि णाह पवेस।
तहिं बढ़! चित्त विसाम करू, सरहें कहिअ उबेस।।

कलात्मकता की दृष्टि से इनकी कविता की भाषा प्रवाहपूर्ण, प्रतीकात्मक, आलंकारिक सौन्दर्य से युक्त तथा मुहावरों एवं कहावतों की खानों से सम्पन्न और लोकभाषा के निकट है। दृष्टान्त अलंकार के प्रयोग से युक्त उनकी कविता का एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है –

मन्तह मन्ते रूसत्रिशा होई।
पड़ित्त भित्ति किं उद्विअ कोई।।
तरूफल दरिसणे ण्णऊ अग्घाइ।
वेज्ज देक्खि किं रोग पलाइ।।

अर्थात् मन्त्रों की मंत्रणा से शांति नहीं होती। गिरी हुई दीवार क्या खड़ी हो सकती है ? वृक्ष के फल देखकर तृप्ति नहीं मिलती। वैद्य को देखकर क्या रोग पलायन कर जाता है ? भाव यह है कि मन्त्रों को जीवन में ढालने से ही वास्तविक शांति मिल सकती है। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में सरहपा का अभूतपूर्व योगदान है। इन्होंने साहित्यिक अपभ्रंश से इतर लोकभाषा को अपनी कविता का माध्यम बनाकर हिन्दी भाषा को उसका भौतिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया है। इतना ही नहीं, इनकी कविता की अनेक विशेषताओं का प्रभाव परवर्ती सन्त कवियों, विशेषकर कबीर आदि पर दिखाई देता है। इनके द्वारा प्रयुक्त दोहा शैली और पद शैली आगे चलकर निर्गुण और सगुण भक्त कवियों द्वारा प्रचुरता से काम में ली गई। इसमें स्पष्ट है कि हिन्दी कवियों के विकास में सरहपा का योगदान विशिष्ट और अविस्मरणीय है।

9.3.2 शबरपा

शबरपा सरहपा के शिष्य थे। भीलों और शबरों की भाँति वन्य–जीवन करने के कारण इन्हें शबरपा या शबरपाद नाम प्राप्त हुआ। इनके शिष्य लुईपा गौड़ राजा धर्मपाल के लेखक थे। ऐसी स्थिति में इनका समय आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्वीकार किया जा सकता है। राहुल जी ने इनके अनूदित ग्रंथों की संख्या 26 स्वीकार की है। इनके प्रमुख ग्रंथों के नाम ये हैं – 'चित्तगुह्य–गम्भीरार्थ', 'महामुद्रावजगीति' और 'शून्यता दृष्टि '। इनके द्वारा रचित दो चर्यागीत भी उपलब्ध हुए हैं। इन्होंने सिद्धों में प्रचलित आध्यात्मिक प्रतीकों का प्रयोग किया है। जहां कहीं ''ऊँचा पर्वत'' प्रयोग आया है, वह सुशुम्ना नाड़ी का प्रतीक है। शबरी उसी नैरात्मा की प्रतीक है और शबर साधक का।

9.3.3 कण्हपा (कृष्ण पाद)

सहजयानी सिद्धों की जो सूची गिनाई जाती है, उसमें इनका स्थान तेरहवें क्रमांक पर रखा गया हैं कण्हपा प्रसिद्ध जालन्धरपाद के शिष्य थे। इनके अनेक नाम प्रचलित हैं। ये कृष्ण पाद, कण्हपा, कान्हूपा, कानपा और काफा जैसे नामों से भी सम्बोधित किए जाते रहे हैं। ये कर्नाटक के ब्राह्मण माने गए हैं, किन्तु डॉ० विनयतोश भट्टाचार्य ने इन्हें उड़ियावासी जुलाहा स्वीकार किया है। ये राजा देवपाल (सन् 809–849 ई०) के समकालीन एक विद्वान साधु थे। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मतानुसार इनके द्वारा लिखित 57 पुस्तकें और 12 संकीर्तन के पद प्राप्त हुए हैं राहुल जी के मतानुसार तंत्र पर इनके 74 और दर्शन पर 6 ग्रन्थ मिलते हैं। इनकी भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार ये उड़ियाभाषी तो हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार बंगला भाषी और महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन के मतानुसार मगहीभाषी माने गए हैं। राहुल जी ने तो इनके अनेक ग्रंथों को मगही में लिखा हुआ बतलाया है।

9.3.4 लुइपा

लुइपा शबरपाद के शिष्य थे। ये पालवंशी राजा धर्मपाल (सन् 769–809 ई.) के लेखक थे। इन्हें कायस्थ बतलाया गया है। राहुल जी ने इनकी सात अनूदित रचनाओं का उल्लेख किया है। इनमें पांच ग्रंथ अपभ्रंश के हैं। अपभ्रंश में रचित ग्रंथ ये है – 'अभिसमयविभंस', 'तत्व स्वभाव दोहाकोश', 'बुद्धोदय', 'भगवदाभिसमय' तथा 'लुईपाद गीतिका'। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने इन्हें बंगला भाषा स्वीकार किया है। इनके प्रमुख शिष्य दारिकपा और डेंगीपा थे। 84 सिद्धों में इनका स्थान प्रथम है। इनकी कविता रहस्यात्मकता से ओत–प्रोत है। उदाहरण के लिए एक चर्यापद की प्रारम्भिक पंक्तियां देखिए जो इस प्रकार हैं –

काआ तरूवर पंच बिडाल।
चंचल चीए पइट्ठा काल।।
दिढ़ करिअ महासुइ परिणाम।
लुई भणइ गुरु पुच्छिअ पाण।।

तात्पर्य यह है कि काया रूपी तरुवर से पांच बिलाव (इंद्रियाँ) संलग्न हैं, चंचल चित्त में काल ने प्रवेश कर लिया है। लूई कहते हैं कि गुरू से ज्ञान प्राप्त कर महासुख का आकार निश्चित करो। इस प्रकार यहाँ चित्त–निरोध तथा इंद्रिय–निग्रह का उपदेश दिया गया है।

9.3.5 डोम्भिपा

डोम्भिपा मगध के एक क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए थे। ये बीणापा तथा वरूपा दोनों के शिष्य थे। इनके नाम से इक्कीस पुस्तकें मिलती हैं। "अक्षर द्विकोपदेश", "डोम्बिगीतिका" तथा "नादबिंदु द्वारे योगचर्या" इनके अपभ्रंश में लिखे हुए ग्रंथ हैं। इनकी कविता से एक उदाहरण दृष्टव्य है –

भुंजई मअण सहावर कमई से सइअल।
मोअ ओ धर्म करण्डिया, मारउ काम सहाउ।
अच्छउ अक्ख ज पुनइ, सो संसार विमुक्क।
ब्रह्म महेसर णारायणा, सक्खं असुद्ध सहाव।।

9.3.6 कुक्कुरिपा

कुक्कुरिपा के जन्म के विषय में अभी कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाया है, किन्तु इनके विषय में आम धारणा यह प्रचलित है कि इनका जन्म कपिलवस्तु के ब्राह्मण परिवार के अन्तर्गत हुआ था इनके गुरु चर्पटीया थे। उन्होंने 16 ग्रंथों की रचना की। कुक्करिपा शबरपा की भाँति ही सहज जीवन पर जोर देने वाले थे।

इनके अतिरिक्त भूसुकुपा, शांतिपा, वीणापा, विरूपा, तिलोपा और गुण्डरिपा जैसे सिद्धों के नाम भी पर्याप्त चर्चित रहे हैं। इनके विषय में राहुलजी ने संक्षिप्त ही सही, परिचय अवश्य दिया है। राहुल जी के अनुसार भूसुकुपा नालन्दा के निकट एक क्षत्रिय परिवार में उत्पन्न हुए थे और पालवंशी राजा देवपाल के निकट थे। शांतिपा मगध देश के किसी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थें वज्रयानी सिद्धों में इनका बड़ा मान–सम्मान था। वज्रयानी सिद्धों की सूची में विरूपा का स्थान तीसरा है। इन्हें गोरखनाथ और कानिया के समकालीन माना जाता है। ये डोम्भिपा के प्रमुख शिष्य थे। इनके द्वारा रचित तंत्र सम्बन्धी पुस्तकों की संख्या 18 बतलाई गई है। तिलोपा का दीक्षा नाम प्रज्ञाभद्र था। सिद्धचर्या में तिल कूटने के कारण इनका नाम तिलोपा पड़ गया था। इनके गुरु विजयपाद थे। इनके द्वारा रचित 11 पुस्तकों का उल्लेख राहुल जी ने किया है। गुण्डरीपा डिमुनगर में एक लुहार परिवार में उत्पन्न हुए थे इनके शिष्य धर्मपाद के शिष्य हालिपाद थे। इनके अतिरिक्त कुछ और भी सिद्ध कवि हुए हैं, जिन्होंने इसी काल में पद्य रचना की। किन्तु उनकी रचना विशिष्ट नहीं बन सकी जिससे वे साहित्य में कोई विशिष्ट स्थान नहीं बना पाये। अतः सिद्ध कवियों का परिचय ही यहां दिया गया है।

9.3.7 स्व–मूल्यांकन : (क)

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक आपने आदिकाल के सिद्ध साहित्य का अध्ययन किया है। निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप अपने अध्ययन का निरीक्षण कर सकते हैं।

1. सिद्धों की कुल संख्या कितनी मानी गई है?

(क) 84 (ख) 85 (ग) 90 (घ) 95

2. सिद्धों में सर्वप्रथम सिद्ध कौन से हैं?

(क) शबरपा (ख) कण्हपा (ग) सरहपा (घ) लुइपा

3. लुइपा किसके शिष्य थे?

(क) शबरपाद (ख) कुक्कुरिपा (ग) कण्हपा (घ) डोम्भिपा

4. शबरपा किस सिद्ध के शिष्य थे?

(क) सरहपा (ख) कृष्ण पाद (ग) लुइपा (घ) डोम्भिपा

5. सहजयानी सिद्धों की जो सूची गिनाई जाती है, उसमें कण्हपा का स्थान किस क्रमांक पर रखा गया हैं ?

(क) 5वें (ख) 14वें (ग) 9वें (घ) 13वें

6. राहुल जी ने लुइपा की कितनी अनूदित रचनाओं का उल्लेख किया है।

(क) सात (ख) दस (ग) बारह (घ) पांच

7. कुक्कुरिपा ने कितने ग्रंथों की रचना की है।

(क) पन्द्रह (ख) सोलह (ग) चौबीस (घ) दस

9.4 सिद्ध साहित्य : प्रमुख अवधारणाएं

सिद्ध–साहित्य के अन्तर्गत जिन अवधारणाओं को महत्व मिला है, वे ही इस साहित्य की विशेषताएँ बनी हुई हैं। ये अवधारणाएं निम्नांकित हैं :–

1. सिद्ध–साहित्य जिन सिद्धों की सर्जना है वे प्रायः अपनी दार्शनिक विचारधारा और योग साधना के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। प्रायः यह माना जाता है कि प्रसिद्ध सिद्धों की संख्या चौरासी है। जो भी है, इतना निश्चित है कि सभी सिद्धों की रचना पर तंत्र–साधना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।
2. सिद्ध साहित्य की दूसरी विशेषता प्रतीकों के प्रयोग से सम्बन्धित है। इस साहित्य में जो प्रतीक मिलते हैं, वे पंचमकारों से सम्बन्धित हैं। वज्रयानी शाखा से सम्बन्धित होने के कारण ये प्रतीक वहीं से लिए गए हैं।
3. सिद्ध साहित्य में शून्य की साधना का उल्लेख भी मिलता है। सिद्ध–साहित्य में शून्यता को महत्व दिया गया है और उसे प्रज्ञान–सत्य माना गया है। इस साहित्य में शून्य का वर्णन जिन रूपों में मिलता है, वे ये हैं – शून्य, अतिशून्य और महाशून्य।
4. सिद्ध साहित्य की विशेषताओं में चन्द्रमा और सूर्य का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया मिलता है। चंद्र और सूर्य के संयोग से उत्पन्न स्थिति की चर्चा सिद्ध साहित्य में 'समता' अथवा 'सहज साधना' के नाम से की जाती है। निर्गुण भक्तों में कबीर एक ऐसे ज्ञानी थे जिनकी साखियों में सहज समाधि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

5. सिद्ध साहित्य की उल्लेखनीय विशेषता में नारी के मुद्रा प्रतीक के वर्णन को लिया जा सकता है। सिद्ध साहित्य में उलटी साधना भी प्रचलित रही है। इनके अन्तर्गत सिद्ध लोग कुण्डली के जागरण के साथ–साथ प्राण वायु के ऊर्ध्वगमन को विशेष महत्व देते हैं। कबीर और जायसी के काव्य में जिस 'दशम द्वार' की चर्चा की गई है, वह इसी साधना का प्रतिफल है।
6. सिद्ध साहित्य का सामाजिक वर्णन भी महत्वपूर्ण है। सिद्धों ने अपने साहित्य के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों का खंडन किया। सिद्धों के समय में जो धार्मिक आडम्बर प्रचलित थे, उन्हें सिद्धों की प्रहारक भाषा का सामना करना पड़ा है। धर्म, समाज, संस्कृति एवं अंधविश्वास सभी का गलित अंश सिद्धों की क्रांतिचेता व ओजस्वी वाणी का सम्बल पाकर रेत के महल की तरह ढह गया। इतना ही नहीं, सिद्धों ने अधूरे ज्ञान वाले और अर्द्धज्ञान के आधार पर ही ज्ञान का ढोंग करने वाले पाखंडियों को कड़ी भाषा में फटकार भी लगाई।
7. सिद्ध साहित्य के जितने भी रचयिता हुए हैं, उन सभी ने गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा भावना व्यक्त की है। इनकी रचनाएँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि गुरु का महत्व सर्वोपरि है। कबीर का साहित्य इसका प्रमाण है।
8. सिद्ध साहित्य की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें योग साधना एंव काम साधना पर बल दिया गया है। इनकी अभिव्यक्ति प्रणाली सीधी, सरल व स्पष्ट है।

9.4.1 स्व–मूल्यांकन : (ख)

प्रिय विद्यार्थियों! आपने सिद्ध साहित्य की प्रमुख अवधारणाओं का अध्ययन कर जो ज्ञान प्राप्त किया उसके मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. सभी सिद्धों की रचना पर .... का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।
2. इस साहित्य में जो प्रतीक मिलते हैं, वे .... से सम्बन्धित हैं।
3. सिद्ध साहित्य में .... की साधना का उल्लेख भी मिलता है।
4. चंद्र और सूर्य के संयोग से उत्पन्न स्थिति की चर्चा सिद्ध साहित्य में .... के नाम से की जाती है।
5. सिद्ध साहित्य में .... भी प्रचलित रही है।
6. सिद्धों ने अपने साहित्य के माध्यम से .... का खंडन किया।
7. इनकी रचनाएँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि .... का महत्व सर्वोपरि है।
8. सिद्ध साहित्य में.. पर बल दिया गया है।

9.5 आदिकालीन हिन्दी का नाथ साहित्य

वज्रयानी सिद्धों का समय राहुल जी ने सन् 750 से 1200 ई. तक माना है। कबीर का समय 15वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। बीच की दो शताब्दियों में नाथ गुरुओं के साहित्य का पर्याप्त प्रचार रहा। सामान्यतः विद्वानों ने 76 नाथ सिद्धों की सूची दी है। वास्तव में तो नाथों की संख्या केवल 9 प्रसिद्ध है। "गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह" में नौ मार्ग–प्रवर्त्तकों के नाम गिनाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं – नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पटनाथ, जलंधर और मलयार्जुन। इनमें से नागार्जुन, चर्पटनाथ और जलंधर और मलयार्जुन। इनमें से नागार्जुन, चर्पटनाथ

और जलन्धर वज्रयानी सिद्धों की सूची में भी स्वीकार किए गए हैं। आवश्यक है कि 'नाथ' शब्द का अर्थ जान लिया जाए।

'नाथ' शब्द का सामान्य एवं प्रचलित अर्थ स्वामी, इष्टदेव अथवा संरक्षक है। भक्त कवियों ने इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। कोशकार कालिकाप्रसाद आदि ने इस शब्द के ये अर्थ दिए हैं – प्रभु, अधीश्वर, स्वामी, पति, गोरखपंथी साधुओं की एक उपाधि। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ' शब्द के अर्थ की परम्परा स्पष्ट करने की चेष्टा की है – ''नाथ'' शब्द का प्रयोग रक्षक या शरणदाता के अर्थ में अथर्ववेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। महाभारत में स्वामी या पति के अर्थ में इसका प्रयोग पाया जाता है बोधिवर्यावतार में बुद्ध के लिए इस शब्द का व्यवहार हुआ है। जैनों और वैष्णवों में भी इस शब्द का प्रयोग सबसे बड़े देवता के अर्थ में पाया जाता है। परवर्ती काल में योगपरक पाशुपत शैव मत का विकास नाथ समप्रदाय के रूप में हुआ और नाथ शब्द "शिव" के अर्थ में प्रचलित हो गया। लोकोक्ति ''आगे नाथ न पीछे पगहा'' में नाथ अर्थ स्वामी अथवा संरक्षक से है। 'अनाथ' में भी नाथ "संरक्षक" का पर्याय है किन्तु नाथ सम्प्रदाय में इस शब्द का विशिष्ट अर्थ गृहीत किया गया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली में लिखा है – 'नाथ' शब्द दो अक्षरों से बना है – 'ना' तथा 'थ'। 'ना' का तात्पर्य अनादि रूप से है तथा 'थ' का तात्पर्य भुवनत्रय के स्थापित होने से है, इस प्रकार नाथ मार्ग का तात्पर्य उस 'अनादि' धर्म से है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्षनाथ इसलिए नमस्कार और स्तुति के पात्र है, क्योंकि वे इस अनादि धर्म के प्रतिष्ठापक तथा सच्चे अर्थों में नाथ है।'' ''शक्ति संगम तन्त्र'' में 'नाथ' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ दिया गया है –

श्री मोक्षदानदक्षत्वान् नाथब्रह्मानुबोधनाथ।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्रीनाथ इति गीयते।।

अर्थात् ''नाथ'' में ''ना'' अक्षर का अर्थ मोक्ष–दान में दक्ष नाथ ब्रह्म का बोध करना है तथा 'थ' अक्षर का अर्थ अज्ञान की शक्ति को स्थगित करने वाला अर्थात् अज्ञान को पूर्णतया छिन्न–भिन्न करने वाला है इस प्रकार ''नाथ'' शब्द के गायन से नाथ–ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तथा अज्ञान का वैभव विनिष्ट होता है।

नाथ सम्प्रदाय बौद्धों की वज्रयान शाखा से सम्बन्धित रहा है। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत जो साहित्य सृजित हुआ है, उसमें लौकिक परिस्थितियों के लिए कोई स्थान नहीं है। नाथ साहित्य के रचयिताओं का एकमात्र प्रयास आध्यात्मिक साहित्य के सृजन का रहा है। यह दृष्टिकोण सिद्ध–साहित्य से मेल खाता है, किन्तु इसमें सिद्ध साहित्य की परम्परा को और अधिक सार्थक बनाने की चेष्टा की गई है। इस सम्प्रदाय के रचनाकारों ने जैन–साहित्य के सर्वतोन्मुखी दृष्टिकोण से तनिक भी लाभ नहीं उठाया है। इन्होंने तो जीवन के सत्य को उजागर करने में सूक्तियों, रूपकों और दृष्टांतों का सहारा भले ही ले लिया हो, किन्तु जीवन के श्रृंगार के प्रति तो ये लोग अपनी आंखे बन्द करके चले हैं। जैन–साहित्य में जीवन के अन्तिम चरण में दुखद परिणाम से बचने का प्रयास है तथा अनुराग, प्रेम, सौन्दर्य का चित्रांकन है किन्तु नाथ सम्प्रदाय में जीवन के आकर्षक रूप को देखा तक नहीं गया है। इन्होंने लौकिक जीवन के प्रति निराशा का भाव अपनाया है।

नाथ साहित्य के रचयिताओं ने संयत और कठोर साधना पर विशेष बल दिया तथा नारी को विष–बेलि मानकर छोड़ दिया। ये लोग समझते हैं कि नारी योगियों के छलने के लिए ईश्वर की ओर से रचा गया षड्यंत्र है। सिद्ध सम्प्रदाय के साधकों ने जीवन को सहज और स्वाभाविक रूप से ग्रहण करने का आदेश दिया था, किन्तु इन साधकों ने तंत्र–शासन की उपेक्षा करते हुए योगिनी की अत्यधिक निकटता को अर्थात् नारी के निकट सम्पर्क को सन्देह की नजरों से देखा है। नाथ सम्प्रदाय में जीवन के स्वाभाविक और मार्मिक स्थल उपेक्षित कर दिए गए हैं। गोरख वाणी में स्थान–स्थान पर आई हुई पंक्तियाँ इसकी गवाही देती हैं। उदाहरणार्थ कुछ अंश देखिए –

1. कनक कामिनी त्यागै दोई, सो जोगीस्वर बिरमै होइ।
2. चारों पहर आलंगन निंद्रा, संसार जाइ विषिया वाही।
   ऊभी बाँ गोरखनाथ पुकारै, भूल म्हारौ म्हारा भाई।।
3. शेती करौं तौ मेह बिन सूकै, बनिज करौ तो पूंजी तूटै।
   अस्त्री करौ तौ घर भंग हवैला, मित्र करौ तौ विसहर भैला।।
   वनषंड जाऊँ तो विरछ न फलना, नगरी मैं जाऊँ तो भिष्या न मिलना।
   बोल्या गोरखनाथ मछिंद्रका पूजा, छाड़िने माया भया अवधूता।।

ऐसा प्रसिद्ध है कि शिव ने बारह पंथ चलाए थे और गोरखनाथ ने भी बारह ही पंथ चलाए थे। सम्प्रदाय वाले परस्पर झगड़ते रहते थे अतः गोरखनाथ ने अपने तथा शिव जी के छः–छः पंथों को तोड़कर बारह पंथों का पुनर्गठन किया। जो भी हो, यह निश्चित है कि आजकल जो बारह पंथ प्रचलित हैं, वे यह हैं – 'सतनाथ', 'रामनाथ' 'धरमनाथ', 'लक्ष्मणनाथ', 'दरियानाथ', 'गंगानाथ', वैराग 'रावल या नागनाथ' 'जालन्धरिया', आईपन्थ 'कपिलानी' और 'भजनाथ'। नाथयोगियों की विशिष्ट वेशभूषा के कारण ही ये लोग दूर से ही पहचान में आते रहे हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ये लोग मेखला, श्रृंगी, सेली, गूदड़ी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बाघम्बर और झोला आदि साम्प्रदायिक चिन्ह धारण करते थे। जायसी के 'पद्मावत' में रतनसेन जब जोगी का वेश धारण करता है तब उसकी वेशभूषा भी उन्हीं नाथों की वेशभूषा जैसी दिखाई देती है। जायसी द्वारा किया गया वर्णन यह प्रमाणित करता है कि उनके समय तक नागपंथी योगियों का प्रभाव स्पष्ट था। प्रमुख गुरुओं और उनके साहित्य का परिचय इस प्रकार है –

9.5.1 मत्स्येन्द्रनाथ

नाथगुरुओं की परम्परा में आदिनाथ अर्थात् शिव के पश्चात सर्वप्रथम मानव आचार्य गुरु मत्स्येन्द्रनाथ माने गए हैं। इन्हें अवतार माना गया है। कश्मीर के शैव मत सम्बन्धी शास्त्रों में भी इनका नाम बड़े आदर के साथ लिया गया है। मत्स्येन्द्रनाथ मध्ययुग के एक ऐसे संधिकाल में उत्पन्न हुए थे जिससे उन्हें अनेक साधना–पंथों का प्रवर्त्तक स्वीकार कर लिया गया है। सम्पूर्ण भारत भूमि में सैंकड़ों किंवदन्तियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि ये महत्वपूर्ण योगी थे। इनकी महत्ता ही इन्हें इनके प्रसिद्ध शिष्य गोरखनाथ से जोड़ देती है। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने स्व–सम्पादित ''कौल्ज्ञान निर्णय'' की भूमिका में कौल सिद्धों की एक सूची उद्धत की है जिसमें मत्स्येन्द्रनाथ का नाम भी लिया है। इनका वास्तविक नाम विष्णु शर्मा था। जन्मभूमि बंगदेश मानी गई है। पूजा का नाम श्री पिप्पलीशदेव और गुप्तनाम श्री भैरवानन्दनाथ बताया गया है। इनके विषय में जो विभिन्न किंवदन्तियाँ और अनुश्रुतियाँ प्रचलित रही है, उनके आधार पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पाँच महत्वपूर्ण निष्कर्ष दिए हैं –

1. मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ समसामयिक थे।
2. मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे और जालन्धरनाथ कण्हपा या कृष्ण पाद के गुरु थे।
3. मत्स्येन्द्रनाथ पहले योगमार्ग के प्रवर्त्तक थे, किन्तु बाद में संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गए जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग प्रमुख बात थी। सम्भवतः यह वामाचारी साधना थी।
4. आरम्भ से ही जालन्धरनाथ और कण्हपा की साधन–पद्धति मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ की साधना–पद्धति से भिन्न थी।

5. मत्स्येन्द्रनाथ चन्द्रगिरि स्थान में उत्पन्न हुए थे। यह या तो बंगाल के समुद्री तट पर कहीं था अर्थात् ब्रह्मपुत्र नदी से घिरे हुए किसी दीपाकार भू–भाग पर अवस्थित था। इनका आविर्भाव नवीं शती में किसी समय में हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ या मछन्दरनाथ के नाम से संत'संग्रहों में कुछ हिन्दी पद भी प्राप्त होते हैं। ऐसे पदों का संग्रह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ''नाथों–सिद्धों की बानियां'' में कर दिया है। यह ग्रंथ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो चुकी है।

9.5.5.2 जालन्धरनाथ

जालन्धरनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भाई थे। तिब्बती परम्परा में इन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का गुरु माना गया है और इनके गुरु आदिनाथ अर्थात शिव माने गये हैं। तिब्बती परम्परा के आधार पर इनका जन्म नगरभोग अर्थात् नगरकोट, काँगड़ा के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये उच्चकोटि के विद्वान थे, किन्तु बाद में भिक्षु हो गए थे। जालन्धरनाथ के प्रमुख शिष्य कण्हपा और तन्तिया थे। इनके जन्म की भाँति ही इनकी जाति के विषय में भी पर्याप्त मतभेद हैं। तिब्बती परम्परा के अतिरिक्त बंगाली परम्परा के अनुसार ये हारी या हलखेर माने जाते हैं। कतिपय विद्वानों ने इन्हें पुरुवंशीय क्षत्रिय भी माना है। तंजूर में इनके द्वारा लिखित 7 ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। राहुल जी ने इन सात ग्रंथों में दो को अपभ्रंश में लिखा हुआ माना है। ग्रंथ ये है – 'विमुक्त मंजरी गीत' तथा 'हुंकार–चित्त बिन्दुभावनाक्रम'। जालन्धरनाथ का सम्प्रदाय जालन्धरिया कहलाता है। राहुल जी के अनुसार नेपाल में बौद्धों में आज भी प्रचलित 'चर्यागीत' इनकी रचना बताई जाती है। 'पुरातत्व निबंधावली' में इनका पद उद्धृत किया हुआ मिलता है। इनकी भाषा काफी बिगड़ी हुई थी। सूफी कवि जायसी ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'पद्मावत' में नागमती वियोग खण्ड के अन्तर्गत जालन्धरनाथ और उनके शिष्य गोपीचन्द का उल्लेख किया है। उनके द्वारा लिखित पंक्ति यह है –

"मानव भोग गोपीचंद भोगी, लेई अपसवस जालंधर जोगी"।

9.5.5.3 गोरखनाथ

गुरु गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। इनका आविर्भाव विक्रम की दसवीं शती में माना गया है। ये महान योगी थे। इन्होंने नागपंथ के अन्तर्गत प्रचलित योग और हठयोग की साधना–पद्धति को एक सुनिश्चित स्वरूप प्रदान किया। इन्होंने नागपंथ का पुनर्गठन किया और उसे विकसित होने में पर्याप्त योगदान दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "शंकाराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरूष भारत में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने–कोने में इनके अनुयायी आज भी पाए जाते हैं। भक्ति–आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरखनाथ का योगमार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गोरखनाथ सम्बन्धी कहानियाँ न पायी जाती हों। इन कहानियों में परम्पर ऐतिहासिक विरोध बहुत अधिक है, परन्तु फिर भी उनसे एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि गोरखनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे। उन्होंने जिस धातु को छुआ, वही सोना हो गयी"।

इनके जन्मस्थान और वंश के विषय में अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं। 'योगिसम्प्रदाया विष्कृति' में इनका जन्म स्थान गोदावरी तट के निकट अवस्थित चन्द्रगिरि नामक स्थान बताया गया है। नेपाल दरबार पुस्तकालय में उपलब्ध 'गोरक्ष सतस्त्रनाम स्तोत्र' के आधार पर दक्षिण दिशा में स्थित बड़व नाम देश में महामंत्र के प्रभाव से महाबुद्धिशाली गोरखनाथ आविर्भूत हुए थे। ग्रियर्सन का अनुमान है कि गोरखनाथ सम्भवतः पश्चिमी हिमालय के निवासी थे। वे नेपाल के ब्राह्मण वातावरण में बड़े हुए थे। गोरखनाथ ने संस्कृत और हिन्दी में पर्याप्त साहित्य सृजित किया, किन्तु उनके नाम पर उपलब्ध पुस्तकों में कितना अंश प्रामाणिक है और कितना नहीं, यह निश्चित करना पर्याप्त कठिन

है। गोरखनाथ की हिन्दी में प्राप्त पुस्तकों का कुशल सम्पादन स्वर्गीय डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने ''गोरखबानी'' के नाम से किया था। यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ की भूमिका में डॉ० बड़थ्वाल ने गोरखनाथ के नाम से प्रचलित 40 रचनाओं का उल्लेख किया है। डॉ० बड़थ्वाल ने इन सभी ग्रंथों का अवलोकन कर केवल 14 को ही स्वीकार किया है और उनकी प्राचीनता पर मुहर लगाई है। ये चौदह ग्रन्थ इस प्रकार है – 'सबदी', 'पद', 'शिष्यादर्शन', 'प्राण सांकली', 'नरवै बोध', 'आत्मबोध', 'अभयमात्रा जोज', 'पन्द्रहतिथि', 'सप्तवार', 'मंछिद्र गोरख बोध', 'रोमावली', 'ज्ञान तिलक', 'ज्ञान चौंतीसा' और 'पंचमात्रा'। गोरखवाणी में इन्हें स्थान दिया गया है।

गोरखनाथ ने संस्कृत में जो साहित्य रचा है, उसका ही नहीं, उनके लोकभाषा साहित्य का भी प्रमुख विषय हठयोग साधना रही है। इनके वर्ण्य–विषय का सार यह बतलाया गया है – ''हठयोगी साधक पिंड अर्थात् शरीर को ब्रह्माण्ड का लघु रूप मानकर कार्य–साधना करता है तथा कार्य–साधना कर ब्रह्माण्ड को साधता है अर्थात् अपना परम प्राप्तव्य–सहज समाधि–प्राप्त करता है। इसमें मूल साधना है – शडांग योग (अर्थात् आसन, प्राणयाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) के द्वारा प्राण–वायु को नियंत्रित करना। सामान्यतः हम इड़ा (सूर्य नाड़ी) के द्वारा श्वास लेते हैं और निकालते हैं, किन्तु हठयोगी साधक योग साधना द्वारा इन दोनों मार्गों को अवरुद्ध कर इनके बीच से गए सुषुम्ना (अवधूती) नाड़ी मार्ग को खोलता है और मूलाधार चक्र (मेरुदण्ड के निम्नतम बिन्दु के निकट) में अवस्थि कुण्डलिनी (शांभवी) शक्ति को जाग्रत कर उसे सुषुम्ना नाड़ी मार्ग से ऊर्ध्वमुखी करता है। जाग्रत कुण्डलिनी मूलाधार चक्र से उद्बुद्ध होकर क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनहत, आज्ञा (त्रिकुटी) आदि चक्रों का भेदन करते हुए जब अन्तिम सहस्त्रार चक्र (ब्रह्म, रन्ध्र, शुन्य) में पहुंचती है, तो वहाँ स्थित शिव से शक्ति (कुण्डलिनी) का सम्मिलिन हो जाता है और योगीसहज समाधि में लीन हो जाता है। हठयोग में 'ह' कार का अर्थ सूर्य है 'ठ' कार का अर्थ चन्द्र है, इन दोनों के संयोग को हठयोग कहा गया है। शरीर में सूर्य की स्थिति मूलधार के निकट मानी गई है तथा चन्द्रमा की स्थिति अन्तिम चक्र के निकट तालु में मानी गयी है। प्राण–वायु के निरोध से हठयोगी शरीरस्थ इन्हीं सूर्य और चन्द्र का योग कराता है। गोरखनाथ की बानियों में भाषा–वैविध्य देखने को मिलता है। उसमें बंगला, उड़िया, नेपाली, भोजपुरी, मगही आदि पूर्वी भाषाओं के बीज मिलते हैं। कहीं–कहीं तो मराठी, गुजराती और राजस्थानी भाषा का सौन्दर्य भी देखने को मिल जाता है। इस भाषा–वैविध्य के विषय में डॉ. बड़थ्वाल की टिप्पणी उपयुक्त प्रतीत होती है। उन्होंने कहा है कि ''गोरखनाथ के उपदेशों का प्रचार करने के इच्छुक उनके अनुयायी जहाँ–जहाँ गए, वहां–वहां के लोगों के लिए उन उपदेशों को बोधगम्य कराने के लिए देश –कालानुसार हेर–फेर करते रहे।'' गोरखनाथ ने अपने साहित्य में प्रमुखतः चार शैलियों का प्रयोग किया है– प्रशनोत्तर शैली, गेय शैली, आलंकारिक शैली और उलटबाँसियों की शैली । एक उदाहरण देखिए जो है तो उलटबांसी का, किन्तु इसमें गेय शैली, प्रतीक शैली भी आकर सम्मिलित हो गयी है–

नाथ बोलै अमृत बांणी बरिषैगी कंबली भीजैगा पांणी।
गाड़ि पडरवा बांधिलै शूंटा, चले दमांमां बाजिले ऊँटा।।
कउवा की डाली पीपल बासे, भूसा कै सबद बिलइया नासै।
चले बटावा थाबी बाट, सोवै डुकरिया ठौरै शाट।।
ढूकिले कूकर भूकिले चोर, काढै धणीं पुकारै ढोर।
ऊजड़ षेड़ा नगर मझारी, तालि गागरि ऊपर पनिहारी।।
मगरी परि चूल्हा धूंधाइ, पोवणहारा को रोटी खाइ।

कांमिनि जलै अंगीठी तापै, बिचि बैसदर थरहर कांपै।।
एक जु रढिया रढती आई, बहू बिवाई सासू जाई।
नगरि को पांधी कूई आवै, अलटी चरचा गोरश गावै।।

गोरखनाथ ने उल्टबांसी का प्रयोग करके एक विचित्र सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है। यह एक ऐसी शैली है जिसमें सामान्य लौकिक कार्यों में असंगति दिखाकर उनके सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ किए जाते हैं। उपर्युक्त पद को ही लें तो कहा जा सकता है कि सामान्य रूप से पानी बरसता है और कम्बल भीगता है, किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय यह है कि भौतिक कर्मों की प्रतीक कम्बली सामान्यतः योगी को अमृतवर्षा में भीगने से बचाती रहती है, किन्तु अब निर्लिप्त होकर अमृतमय कर्मों के रूप में जल–बिन्दु सदृश क्षणभंगुर अस्तित्व के ऊपर बरस रही है। इसी प्रकार अविवेक रूपी पड़वा जो माया रूपी गाय की सन्तान है, को गाढ़कर अर्थात् नष्ट करके, खूँटे अर्थात् जीव को बन्धनयुक्त करने, काली माया को बाँधने अर्थात् वशीभूत करने की बात कही गई है। वास्तव में गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय, का पुनर्गठन किया और उसे एक नया रूप प्रदान करने वाले, योगमार्ग का प्रचार करने वाले संतों तथा जनता को वामाचार की बुराइयों से मुक्त करके सात्विक एवं पवित्र जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से प्रचार साहित्य का सृजन किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व का आख्यान तो किया ही है, साथ–ही–साथ उनके महत्व को भी स्पष्ट करते हुए टिप्पणी की है कि –

"गोरखनाथ अपने युग के सबसे महान धर्मनेता थे उनकी संगठन शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ धर्म गुरु का व्यक्तित्व था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेष से एकदम अनाविल और कुशाग्र थी। उनके चरित्र में कहीं भी भाव–विलता नहीं है। जिन दिनों उन्होंने जन्म ग्रहण किया, उन दिनों भारतीय धर्म साधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन, सात्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा पर पहुंच चुकी थी। गोरखनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ–दोनों की कुरीतियों को चूर्ण–विचूर्ण कर दिया।''

9.5.4 चर्पटनाथ

चर्पटनाथ गोरखनाथ के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल भी 13वीं शताब्दी माना जाता है। इनका वास्तविक नाम चरकानन्द था। ये जाति के ब्राह्मण थे। डॉ. बड़थ्वाल के अनुसार चंबा रियासत की राजवंशावली में इनका उल्लेख हुआ है। ये आचारवान योगी थे। इन्होंने बाह्यडम्बरों की कटु आलोचना की है तथा आत्मा के योगी को महत्व दिया है। इन्होंने बाह्याडम्बरों का महत्व देने वाले विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं को खूब फटकारा है। इनके कुछ उदाहरण देखिए –

1. इक सेति पटा इक नीलि पटा, इक तिलक जनेऊ लंबि जटा।
   एक फीए एक मोनी इक कांति फटा, जब आवैगी कालि घटा।।
2. मांगे भिच्छा भरि भरि खाँहि। नाथ कहावै मरि मरि जाहिं।
   बाकर कूकर कींगुर हाथि। बाली भौली तरूणी साधि।
   दिन करि भिच्छा रात्य भोग। चटपट कहै बिगोवै जोग।

9.5.5 चौरंगीनाथ

चौरंगीनाथ भी एक प्रसिद्ध सिद्ध थे। इनका लिखा एक महत्वपूर्ण ग्रंथ 'प्रणसांकली' है। इस पुस्तक के अनुसार ये राजा शलिवाहन के पुत्र, मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य और गोरखनाथ के गुरूभाई थे। डॉ. पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल ने चौरंगीनाथ की चार छोटी–छोटी सबदियों को अपने ''चौंरगीनाथ'' शीर्षक निबन्ध में उद्धृत किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि चौरंगीनाथ ही पंजाब की लोककथाओं के ''पूरनभगत'' हैं।

चौरंगीनाथ डॉ. बड़थ्वाल के मतानुसार उन महात्माओं में से एक थे जिन्होंने अपनी कठिन साधना से प्राप्त सिद्धि को जनवाणी सर्व–साधारण के लिए सुलभ कराने का प्रयत्न किया। इन्हें गोरखनाथ का समकालीन माना जाता है। चौरंगीनाथ का समय 11वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना गया है। प्रमुख नाथ ये ही हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त भी भरथरी (भर्तृहरि), गोपीनाथ, नागा अरजल्द (नागार्जुन), काणेरी आदि के नाम भी लिए जाते हैं, किन्तु इनका कोई साहित्यिक योगदान दिखाई नहीं देता है।

9.5.6 स्व–मूल्यांकन : (ग)

प्रिय विद्यार्थियों! आपने आदिकाल के नाथ साहित्य का अध्ययन किया है। निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा आप अपने अध्ययन का मूल्यांकन कर सकते हैं।

1. **नाथों की कुल संख्या कितनी है?**

   (क) दस (ख) ग्यारह (ग) बारह (घ) नौ

2. **नाथ सम्प्रदाय का सम्बन्ध बौद्धों की किस शाखा से रहा है।**

   (क) महायान (ख) वज्रयान (ग) क व ख दोनों से (घ) इनमें से कोई नहीं

3. **कश्मीर के शैव मत सम्बन्धी शास्त्रों में किस नाथ का नाम बड़े आदर के साथ लिया गया है।**

   (क) मत्स्येन्द्रनाथ (ख) गोरखनाथ (ग) जालन्धरनाथ (घ) चर्पटनाथ

4. **मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भाई कौन थे।**

   (क) चौरंगीनाथ (ख) गोरखनाथ (ग) जालन्धरनाथ (घ) चर्पटनाथ

5. **राहुल जी के अनुसार 'चर्यागीत' रचना किसकी है।**

   (क) चर्पटनाथ (ख) जालन्धरनाथ (ग) गोरखनाथ (घ) चौरंगीनाथ

6. **गोरखनाथ के गुरु कौन थे।**

   (क) चर्पटनाथ (ख) चौरंगीनाथ (ग) जालन्धरनाथ (घ) मत्स्येन्द्रनाथ

7. **चर्पटनाथ गोरखनाथ के गुरु कौन थे।**

   (क) मत्स्येन्द्रनाथ (ख) जालन्धरनाथ (ग) गोरखनाथ (घ) चौरंगीनाथ

8. **'प्रणसांकली' के रचयिता कौन हैं?**

   (क) चर्पटनाथ (ख) जालन्धरनाथ (ग) गोरखनाथ (घ) चौरंगीनाथ

9.6 सारांश

नाथपंथी साहित्य का अवलोकन करने के पश्चात निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि इस साहित्य के सर्जकों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण नाम गुरु गोरखनाथ का ही है। इन्होंने अपनी विभिन्न हिन्दी बानियों से नाथपंथी योग साधना, कार्य साधना तथा हठयोग का बहुविध वर्णन और विश्लेषण किया तथा आरण की पवित्रता के साथ हठयोग साधना को एक निश्चित आयाम प्रदान किया है। इनके प्रयत्न से ही नाथ पंथ संगठित हुआ और उसे एक धर्मसम्मत एवं लोकसम्मत स्वरूप प्राप्त हुआ। परवर्ती भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य की विभिन्न काव्यधाराओं पर इनके नाथपंथी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह टिप्पणी विशेष महत्व रखती है – "हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के पूर्व नाथमत ही सबसे प्रबल लोकधर्म था। परवर्ती काल में भक्ति की प्रचण्ड धारा में यद्यपि बहुत–सी पुरानी स्मृतियाँ बह गयीं, परन्तु नाथपंथियों के विश्वास और साहित्य अपना अमिट चिन्ह इन पर छोड़ गये हैं। कबीर, दादू, नानक आदि भक्तों के परिवर्तित सम्प्रदाय पर और उनके द्वारा लिखित और संगृहीत साहित्य पर नाथपंथी सम्प्रदाय का बड़ा प्रभाव है। .....कबीर आदि सन्तों के अनेक पद थोड़े परिवर्तन के साथ पूर्ववर्ती नाथ–सिद्धों की रचना हैं। निर्गुण मत के सभी सन्तों के सम्प्रदाय में गुष्टी या प्रशनोत्तरमूलक साहित्य का बड़ा प्रचार है। आज जहाँ तक जाना जा सकता है, इस प्रकार के साहित्य के आदि प्रचारक नाथ कवि ही हैं। . .....हिन्दी साहित्य के प्रेम कथानकों में भी इन नाथ योगियों की बहुत अधिक चर्चा है और सगुण साहित्य में उद्धव–गोपी संवाद के बहाने एक अच्छा–सा साहित्य इन्हीं का सीधे जवाब देने के उद्देश्य से लिखा गया है। जनता में प्रचलित अनेक मंत्र–तंत्रों में इन योगियों का प्रभाव है और आयुर्वेदिक रसायन औषधियों में से कितनी तो नाथ सिद्धों की आविष्कृत हैं इस प्रकार जनचित्त पर अवश्य इस सम्प्रदाय का प्रभाव अक्षुण्ण है।''

9.7 कठिन शब्द

1. अवधारणा = संकल्पना
2. अन्तर्गत = अंतर्भूत
3. आडम्बर = पाखंड
4. अपेक्षा = उम्मीद
5. प्रेरणा = प्रोत्साहन

9.8. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकालीन सांस्कृतिक सामग्री का परिचय दीजिए।

____

____

____

____

____

2. सिद्ध–साहित्य का विवेचन कीजिए।

3. जैन साहित्य का संक्षेप में परिचय दीजिए।

4. नाथ साहित्य पर टिप्पणी कीजिए।

9.8 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. 84 2. सरहपा 3. शबरपाद 4. सरहपा 5. 13वें 6. सात 7. सोलह

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. तंत्र–साधना 2. पंचमकारों 3. शून्य 4. 'समता' अथवा 'सहज साधना' 5. उलटी साधना 6. सामाजिक कुरीतियों 7. गुरु 8. योग साधना एंव काम साधना

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. नौ 2. वज्रयान 3. मत्स्येन्द्रनाथ 4. जालन्धरनाथ 5. जालन्धरनाथ 6. मत्स्येन्द्रनाथ 7. गोरखनाथ 8. चौरंगीनाथ

9.9. पठनीय पुस्तकें :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012

5. बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

आदिकाल का रासो काव्य

रूपरेखा

10.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

10.2. प्रस्तावना

10.3. आदिकालीन रासो काव्य

10.3.1 मुंजरासो

10.3.2 हम्मीर रासो

10.3.3 परमाल रासो

10.3.4 स्व–मूल्यांकन : (क)

10.3.5 खुमाण रासो

10.3.6 बीसल देव रासो

10.3.7 पृथ्वीराज रासो

10.3.8 स्व–मूल्यांकन : (ख)

10.4 रासो काव्य की विशेषताएँ

10.4.1 स्व–मूल्यांकन : (ग)

10.5. सारांश

10.6. कठिन शब्द

10.7. अभ्यासार्थ प्रश्न

10.8. पठनीय पुस्तकें

10.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको–

- रासो या रास काव्य जैन कवियों द्वारा लिखे गए हैं, इस बात की जानकारी देना।
- वीर भावना से प्रेरित होकर इन ग्रन्थों का सृजन हुआ है, इसकी जानकारी देना।
- जनता को प्रभावित करने के उद्देश्य से रासो ग्रन्थ लिखे गये हैं और इन ग्रन्थों में लोक तत्वों का प्राचुर्य दिखलाई देता है। इस बात से अवगत करवाना है।

इस अध्याय के अध्ययनोपरांत आपको आदिकालीन रासो काव्य तथा इन ग्रन्थों के लेखन उद्देश्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा।

10.2 प्रस्तावना

रासो या रास काव्य जैन कवियों द्वारा लिखे गए हैं और वीर भावना से प्रेरित होकर भी ऐसे ग्रंथों का सृजन हुआ है। दोनों में एक स्पष्टतः अन्तर दिखाई देता है। जैन कवियों द्वारा सृजित गीत–नृत्यपरक रास काव्य–परम्परा प्रमुखतः जैन धर्म से प्रेरित थी और उसका प्रमुख उद्देश्य जैन धर्म अथवा उसके अनुकूल आचार का प्रचार करना था। जनता को प्रभावित करने के उद्देश्य से सृजित इन रास काव्यों में लोक–तत्व का प्राचुर्य दिखलाई देता है। इन रास काव्यों से नितान्त भिन्न भूमिका पर रचित रासो काव्य–धारा का साहित्यिक महत्व गीत–नृत्यपरक अथवा गीत–नृत्यप्रधान रास–परम्परा से कहीं अधिक है। वीररसात्मक रासो काव्य–परम्परा का आधार छन्द–वैविध्य रहा है। अपभ्रंश के दो छन्दशास्त्रियों–विरहांक तथा स्वयंभू ने रासो अथवा रासक काव्य–रूप पर विचार व्यक्त करते हुए लगभग यही मत व्यक्त किया है। विरहांक ने अपने छन्द निरुपक ग्रंथ 'वृत्तजाति समुच्चय' में रासक काव्य के विषय में यह लिखा है – कि जो रचना बहुत से अडिल्ल, दोहा, मात्रा, रड्डा तथा ढोसा छंदों से रची जाती है, उसे रासक कहते हैं। इसी प्रकार स्वयंभू ने अपने पिंगल शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ ''स्वयंभू छंदस'' में रासाबंध नामक काव्य–रूप के सम्बन्ध में लिखा है कि काव्य में रासाबंध अपने घत्ता, छप्पय, पद्धड़ी तथा अन्य रूपकों के कारण जन–मन अभिराम होता है। इन दोनों काव्यशास्त्रियों के निर्देशों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रासा, रासो, रासक अथवा रासाबंध काव्य का आधार छंद–वैविध्य है।

10.3 आदिकालीन रासो काव्य

जैन कवियों द्वारा रचित काव्य–परम्परा के ग्रंथों का परिचय यहाँ नहीं दिया जा रहा है यहाँ केवल छन्द–वैविध्यपरक रासो काव्य–परम्परा के प्रमुख ग्रंथों का परिचय ही अभीष्ट है।

10.3.1 मुंजरासो

''मुंजरासो'' का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु यह कोई स्वतंत्र रचना है, ऐसा अभी तक न तो प्रमाणित हुआ है और न यह ग्रंथ अभी तक प्राप्त ही हुआ है। हाँ, हेमचन्द्र के प्राकृतव्याकरण सिद्ध ''हेमचन्द्रानुशासन'', मेरूतंग के ''प्रबन्ध–चिन्तामणि'' तथा एक अन्य जैन प्रबन्ध–संग्रह में मुंज से सम्बन्धित किसी काव्य–रचना के लगभग 20 छन्द प्राप्त हुए हैं। इन छन्दों को पढ़ने से एक कथा की रूप–रेखा स्पष्ट हो जाती है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यह काव्य–रासो काव्य–परम्परा का ही ग्रंथ है। इसका रचनाकाल तो अज्ञात है ही, रचनाकार भी अज्ञात है, हेमचन्द्र के व्याकरण का रचनाकाल संवत् 1190 वि. माना गया है। मुंज को ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करते हुए उनका समय संवत् 1000–1050 वि. माना गया है। इस आधार पर यह अनुमानित किया गया है कि मुंज रासों का समय संवत् 1054 तथा संवत् 1190 विक्रम के मध्य का रहा होगा। उपलब्ध 20 छन्दों के आधार पर जो कथा आकार लेती है, वह यह है – मुंज तथा कर्नाटक के राजा तैलप में शत्रुता थी। वह (अर्थात् मुंज) तैलप की शक्ति को अनुमानित किए बिना ही उस पर आक्रमण कर देता है। फलतः युद्ध में पराजित होता है और बंदी बना लिया जाता है। बन्दी जीवन व्यतीत करते हुए उसका प्रेम तैलप की विधवा बहिन मृणालवती से हो जाता है। मुंज के साथी उसे मुक्त कराने का प्रयास करते हैं, किन्तु मृणालवती षड्यंत्र को जान लेती है और तैलप को शिकायत कर देती है। अन्त में तैलप क्रुद्ध होकर मुंज को अपमानित करता है और उससे घर–घर भीख मँगवाता है। इतना ही नहीं, वह उसे हाथी के पैर तले कुचलवाकर मरवा भी देता है। इस तरह मुंजरासों में मुंज के पतन की करूणाप्रेरित मार्मिक कथा विन्यस्त दिखाई देती है। इसमें दोहा, शिखरिणी, गाथा और अनुष्टुप आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

10.3.2 हम्मीर रासो

''हम्मीर रासो'' के विषय में यह प्रसिद्ध है कि आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ ''शार्ङ्गधर पद्धति'' के रचयिता शार्ङधर ने ही हम्मीर रासो नामक वीररस के काव्य का प्रणयन किया था। इस रास ग्रंथ की प्रति आज भी अप्राप्त है। केवल पैंगलम में इसका उल्लेख मिलता है। उपलब्ध छंद निश्चित रूप से किसी छंद–वैविध्यपरक रासों काव्य के रहे होंगे। पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि इन छंदों का रचयिता जज्जल नामक कवि था। इस सम्भावना का कारण यह बताया गया है कि उपलब्ध छंदों में से कुछ के अंतर्गत ''जज्जल भणइ'' आया है। उन्होंने यह भी संकेत किया है कि जज्जल हमीर का सेनापति था। इस ग्रंथ के विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी की टिप्पणी भी दृष्टव्य है – ''राहुल जी का यह मत प्राकृतपैंगलम में प्रकाशित टीकाओं के ''जज्जलस्य उक्तिरिय्'' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है पर ही आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि किसी अन्य कवि द्वारा बिद्ध पात्र जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध पात्र जज्जल की उक्ति है, अर्थात् कवि–निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिखा जाए तो रचना जज्जल की नहीं, किसी अन्य कवि की होगी, किन्तु वह अन्य कवि शार्ङधर ही है इसका कोई सबूत नहीं। इतना अवश्य है कि यह उक्ति किसी ऐसे काव्य से उद्धृत है जिसमें वीररस का प्रसंग अवश्य था।''

इन छंदों के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रंथ ''हिन्दी साहित्य का इतिहास'' में लिखा है कि ''मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीर रासो' के ही है'' डॉ. माताप्रसाद गुप्त का मत है कि ''इन छंदों की भाषा ऐसी है कि रचना हम्मीर के समय के कुछ ही बाद की होनी चाहिए। शार्ङधर भी हम्मीर के समकालीन नहीं थे। उनके पितामह श्री राघवदेव हम्मीर के कृपापात्र थे। इसलिए यह असंभव नहीं है कि हम्मीर सम्बन्धी उक्त रचना शार्ङधर की कृति रही हो। किन्तु यह बात अभी निश्चय के साथ नहीं कही जा सकती है। रचना उत्तरकालीन साहित्यिक अपभ्रंश में है। इसके छंद प्राकृत पैगलम् में उदाहरणों के रूप में उद्धृत किए गए हैं, इसलिए रचना सम्मानित रही होगी, यह भी प्रतीत होता है'' इसमें प्रयुक्त छंद गाहिणी, रोला, छप्पय, कुण्डलिया, गअणंग, लीलाबाई, जलहरण तथा क्रीड़ाचक है।

10.3.3 परमाल रासो

"परमाल रासो" के विषय में भी हिन्दी जगत् में पर्याप्त भ्रम फैला हुआ है। विद्वानों की धारणा है इस ग्रंथ के विषय में भ्रम फैलाने का कार्य बाबू श्यामसुन्दर दास ने किया है। वास्तविकता यह स्वीकार की जा रही है कि 'परमाल रासो' नाम का कोई ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसका उल्लेख भी प्रायः नहीं के बराबर हुआ है। बाबू श्यामसुन्दर दास ने पृथ्वीराज रासो के वृहत् रूपान्तर के महोवा खण्ड की एक प्राचीन प्रति को ही परमाल रासो नाम से सम्पादित कर दिया था। यह तथ्य उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। इस विषय में डॉ. माताप्रसाद गुप्त का मत भी दृष्टव्य है। उनका कथन है कि ''नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित पृथ्वीराज रासों के परिशिष्ट रूप में दिए हुए 'महोवा खण्ड' का यह एक परिवर्द्धित रूपान्तर मात्र है, स्वतंत्र रचना नहीं है। यद्यपि पृथ्वीराज रासो में सम्मिलित 'महोवा खण्ड' भी प्रमाणिक रचना नहीं है, क्योंकि वह अलग से ही मिलता है पृथ्वीराज रासो की किसी पूर्ण कृति में नहीं मिलता है।

डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' ने भी परमाल रासो के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनका कथन है कि ''उत्तरप्रदेश में 'आल्हा खण्ड' के नाम से जो काव्य प्रचलित है, वही परमाल रासो के मूल रूप का विकसित रूप माना जाता है। यह रासो लोक–गेय काव्य था, अतः इसके मूल रूप की सुरक्षा नहीं हो सकी। इसमें अनेक अंश बाद में

जोड़े गए हैं तथा अनेक अंशों में वर्णन और भाषा –सम्बन्धी परिवर्तन किए गए हैं। धीरे–धीरे 'आल्हा' लोक गीत की एक शैली ही बन गया हैं अतः आधुनिक विषयों पर भी 'आल्हा' लिखे जाने लगे हैं।'' आगे वह परमाल रासो की रचना तथा सम्पादन के आधार को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के अभाव में मौखिक रूप में उपलब्ध आल्हा खण्ड के आधार पर परमाल रासो के साहित्यिक स्वरूप के विषय में कुछ भी कहना कठिन है। 1865 ई. में चार्ल्स इलियट ने जिस आल्हा खण्ड का प्रकाश न कराया था, वह मौखिक परम्परा पर ही आधारित है। इसी प्रति के आधार पर डॉ. श्यामसुन्दर दास ने परमाल रासो का पाठ–निर्धारण किया और उसे नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया। इस रूप में उपलब्ध परमाल रासो यद्यपि सर्वथा प्रामाणिक कृति तो नहीं है, तथापि आदिकाल में रचित मूल परमाल रासो के ऐतिहासिक अस्तित्व को समझने में सहायक अवश्य हैं" कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि परमाल रासो का अस्तित्व पूर्णतः संदिग्ध है डॉ. दिनेश के कथनों में अन्तर्विरोध भी है और उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अनुमान के आधार पर अधिक दिखाई देते हैं। हाँ, डॉ. माताप्रसाद गुप्त का मत अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है।

10.3.4 स्व–मूल्यांकन : (क)

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक आपने आदिकालीन तीन रासो काव्य मुंजरासो, हम्मीर रासो तथा परमाल रासो का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा अपने अध्ययन का निरीक्षण करें।

1. **रासो या रास काव्य किनके द्वारा लिखे गए हैं?**

   (क) नाथों कवियों द्वारा (ख) जैन कवियों द्वारा (ग) सिद्ध कवियों द्वारा (घ) बौद्ध कवियों द्वारा

2. **'प्रबन्ध–चिन्तामणि' किसकी रचना है?**

   (क) मेरूतंग (ख) हेमचंद्र (ग) मुंज (घ) शार्ङ्गधर

3. **राहुल सांकृत्यायन के अनुसार हम्मीर रासो के रचयिता कौन हैं?**

   (क) शार्ङ्गधर (ख) जज्जल (ग) राघवदेव (घ) मुंज

4. **हम्मीर रासो में किस रस का प्रणयन हुआ है?**

   (क) शांत (ख) श्रृंगार (ग) वीर (घ) हास्य

5. **यह कथन किसके द्वारा कहा गया कि उत्तरप्रदेश में 'आल्हा खण्ड' के नाम से जो काव्य प्रचलित है, वही परमाल रासो के मूल रूप का विकसित रूप माना जाता है।**

   (क) रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' (ख) बाबू श्यामसुन्दर दास

   (ग) माताप्रसाद गुप्त (घ) राहुल सांकृत्यायन

6. **आल्हा खण्ड का प्रकाशन 1865 ई. में किसने किया?**

   (क) डॉ. ग्रियर्सन (ख) श्यामसुन्दर दास (ग) चार्ल्स इलियट (घ) कर्नल टाड

10.3.5 खुमाण रासो

''खुमाण रासो'' के सर्जक के रूप में दलपत विजय नामक कवि का नाम लिया जाता है। नवीं और दसवीं शताब्दी में चित्तौड़ में खुमाण नाम से तीन रावल हुए हैं। आचार्य शुक्ल ने खुमाण द्वितीय का समय विक्रम सं. 870–900 अनुमानित किया है। उनका यह भी अनुमान है कि अब्बासिया वंश के खलीफा अलमामू (विक्रम सं. 870 से 890) से यदि किसी खुमाण का युद्ध हुआ होगा तो वह यही खुमाण द्वितीय रहा होगा। इसी के महत्व को उद्‌घाटित करने के लिए खुमाण रासो' की रचना हुई होगी। वर्तमान में खुमाण रासो की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें प्रक्षिप्त अंश भी समाविष्ट हो गए हैं। यही कारण है कि उपलब्ध प्रति में महाराणा प्रतापसिंह तथा उनके बाद भी राजसिंह तक अनेक महाराणाओं का वर्णन मिल जाता है। श्री मोतीलाल मेनरिया का अनुमान है कि खुमाण रासो का वर्तमान रूप 18वीं शती के अन्त का होगा। अगरचन्द नाहटा का मत भी उल्लेखनीय है। उनका कथन है कि ''दलपत विजय एक जैन कवि थे। दीक्षा के पश्चात इनका नाम दौलत विजय हो गया था तथा वे तपागच्छ के सुमति साधु के वंशज 'पक्ष विजय' की शिष्य परम्परा में शांतिविजय के शिष्य थे। खुमाण रासों के द्वितीय खण्ड से उदाहरण देकर नाहटा जी ने अपने मत को प्रमाणित किया है।'' डॉ. दिनेश की भी मान्यता है इसका रचयिता 17वीं शती का दलपति विजय नामक कोई जैन साधु था। डॉ. दिनेश के मत से सहमत होना कठिन है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि जैन परम्परा में प्राप्त रास काव्य अपेक्षाकृत सीमित आकार वाले रहे हैं। उनमें कहीं–न–कहीं उनके 'रास' होने तथा नृत्य अथवा गायन दोनों के लिए प्रयुक्त होने का स्पष्ट उल्लेख रहता है। नवीनतम शोधों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि खुमाण रासो 5000 छंदों का एक विशाल रासो काव्य है जिसकी प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना के संग्रहालय में उपलब्ध है। न तो इसे कहीं ''रास'' कहकर पुकारा गया है और न यह गेय नृत्य–परम्परा का रास काव्य है। ऐसी स्थिति में अगरचन्द नाहटा द्वारा उद्धृत छंदों को प्रक्षिप्त स्वीकार किया जा सकता है। पृथ्वीराज रासो के समान इस ग्रंथ में भी वीर और श्रृंगार रस की धारा सामानान्तर रूप से प्रवाहित हुई है तथा इसमें दोहा, चौपाई, कवित्त, गाहरा, छप्पय आदि विविध छंदों का प्रयोग भी हुआ है। वस्तु–वर्णन की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का महत्व है। इसके अन्तर्गत युद्ध, विवाह, नायिका भेद, संयोग, वियोग और षट्ऋतु आदि के सरस मधुर वर्णन भी प्राप्त होते हैं।

10.3.6 बीसलदेव रासो

बीसलदेव रासो वैसे तो रासो काव्य–परम्परा में आता है, किन्तु गेय होने के कारण एवं लोकजीवन के तत्वों से संयुक्त होने के कारण लौकिक साहित्य के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। इसमें एक प्रकार के मिश्र छंद का प्रयोग हुआ है। छंद–वैविध्य यहाँ नहीं है। इसके रचयिता का नाम नरपति नाल्ह बताया जाता है। इसके रचनाकाल के विषय में पर्याप्त मतभेद रहा है। हाँ, कवि ने स्वयं अपनी इस कृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में लिखा है :–

"बारह से बहोत्तराँ मँझारि।
जेठ बदी नवमी बुधिवारि।"

उपर्युक्त दो पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि बीसलदेव रासो की रचना संवत् 1272 वि. में बुधवार के दिन जेठ बदी नवमी को आरम्भ हुई थी, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ''बहोत्तराँ'' को द्वादशोत्तर का रूपान्तर मानते हुए उक्त रचनाकाल को सं० 1212 वि. अनुमानित किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि गणना करने का विक्रम सं० 1212 में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है। नवीन खोजों से इस काव्य की एक अपेक्षाकृत प्राचीन प्रति मिली है, जिसमें रचनाकार सम्बन्धी पंक्ति इस रूप से मिलती है – ''संवत् सहस तिहत्तर जानि, नाल्ह कवीश्वर सरसीय वाणि।'' अर्थात् संवत 1073 वि. में नाल्ह कवीश्वर ने इसकी रचना की है। इस सम्बन्ध में डॉ. मोती लाल मेनारिया का अभिमत है कि इसकी रचना सोलहवीं शती के नरपति नाल्ह नामक एक गुजराती कवि ने की थी। किन्तु पाठालोचन

के विद्वान डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने अनेक प्राचीन प्रतियों का परीक्षण करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है कि ''बीसलदेव रासो'' की रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अवश्य हो गयी होगी।''

इस प्रकार इस काव्य को आदिकालीन साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने उक्त प्राचीन प्रतियों के आधार पर मात्र 128 छंदों की एक प्रति का सम्पादन भी किया है, जबकि सत्यजीवन वर्मा द्वारा सम्पादित तथा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित प्रति के चार सर्गों के क्रमशः 85, 86, 103 तथा 42 अर्थात् कुल 316 छंद हैं। सत्यजीवन वर्मा के अनुसार इतिहास की दृष्टि से इस रचना का महत्व नगण्य है, क्योंकि केवल विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का नायक के रूप में नाम लेकर ही काव्य की रचना की गई है, ऐतिहासिक तथ्यों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। इस संबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत है कि ''इस देश में सातवीं शती से ही ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर ही काव्य रचना करने की परम्परा चल पड़ी थी, किन्तु काव्य का नाम भी ऐतिहासिक व्यक्तियों का रहा, कथा निर्वाह पूर्ण रूप से काल्पनिक ही रहा।''

फिर भी ''बीसलदेव रासो'' के साहित्यिक महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त तथा श्री अगरचन्द नाहटा ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि ''बीसलदेव रासो'' हिन्दी का एक गौरव ग्रंथ माना जाता है, क्योंकि इसमें एक स्वस्थ प्रणय की एक सुन्दर प्रेमगाथा कही गई है और सामान्यतः उसके सम्बन्ध में यह विश्वास रहा है कि यह हिन्दी के प्राचीनतम ग्रंथों में से एक है। यह वास्तव में एक विरह काव्य है जिसकी प्रमुख घटनाएँ ये हैं – साँभर के नरेश बीसलदेव का मालवा के शासक भोज परमार की पुत्री राजमती से विवाह करना, उसका अपनी रानी से रूठकर उड़ीसा की ओर प्रयाण करना, और उड़ीसा के राजा के यहाँ बारह वर्ष तक उसके भृत्य के रूप में रहना, रानी राजमती का विरह–वेदना में अपने दिन व्यतीत करना तथा पति के पास अपना संदेश भेजना, रानी का संदेश पाकर बीलसदेव का पुनः साँभर लौटना, भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले जाना और बीसलदेव का धारा नगरी जाकर राजमती को पुनः साँभर लाना।

'बीलसदेव रासो' ऐतिहासिक रासो काव्य–परम्परा के अन्तर्गत नहीं आता है। इसका मूल स्वरूप प्रेमपरक है। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने इसे विरह–काव्य स्वीकार किया है जो सर्वथा उचित है। हमें यह लगता है कि इस कृति में नरपति नाल्ह का उद्देश्य न तो इतिहास का आख्यान प्रस्तुत करने का रहा है और न किसी नरेश अथवा आश्रयदाता के गौरव को बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत करने का। सम्पूर्ण ग्रंथ को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का मूल उद्देश्य नारी चरित्र का गुणगान करने का रहा है। वास्तव में यह एक अनुभूति–प्रवण काव्य है। इस काव्य का प्रमुख उद्देश्य विरह–विकल नारी के व्यथित ह्रदय से संत्रस्त, विवश और असहाय नारी की अन्तर्व्यथा को शब्द बद्ध करते हुए शोषित नारी–जाति के प्रति सहानुभूति का उद्रेक किया है। उसने कह भी दिया है –

अस्त्री जनम काँई दियो हो महेस,
अवर जनम थारे घणा हो नरेस।।

10.3.7 पृथ्वीराज रासो

चन्दबरदाई द्वारा रचित पृथ्वीराज रासो हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत सर्वाधिक विवादास्पद काव्य रहा है। इस ग्रंथ को लेकर अलग–अलग मत प्रस्तुत किए गए हैं, पृथ्वीराज रासो के चार संस्करण मिलते हैं। वृहत् रूपान्तर में 69 –समय' अर्थात् सर्ग है तथा 16, 306 छंद है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। नागरी प्रचारिणी सभा ने सन् 1885 ई. में लिखित प्रति के आधार पर पंडित मोहनलाल विष्णु लाल पण्डया, बाबू राधाकृष्ण दास, कुँवर कन्हैया जू तथा बाबू श्यामसुन्दर दास से सम्पादित कराकर रासों के इस वृहत् रूपान्तर का प्रकाशन

सन् 1901–12 के बीच कराया था। मध्यम रूपान्तर की हस्तलिखित प्रतियाँ, अबोहर अर्थात् बीकानेर के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इसमें 7000 छंद हैं और इसकी प्रतियाँ 17वीं शती में लिपिबद्ध हैं। लघु रूपान्तर में केवल 19 समय और 3500 छंद हैं इस लघु रूपान्तर की हस्तलिखित प्रतियाँ भी बीकानेर में सुरक्षित हैं। पृथ्वीराज रासो का जो लघुतम रूपान्तर उपलब्ध है, उसमें कुल 1300 छंद है और इसमें सर्गों का विभाजन नहीं है। डॉ. दशरथ शर्मा रासो के लघुतम रूपान्तर को मूल रासो मानते हैं। पाठालोचन के विद्वान डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने उक्त लघु अध्याय का रचनाकाल संवत् 1428 के लगभग स्वीकार किया है। श्री नरोत्तम स्वामी का मत है कि चंद ने पृथ्वीराज चौहान तृतीय के दरबार में रहकर रासो की रचना मुक्तक रूप में की थी, किन्तु इनके मत से कोई दूसरा विद्वान सहमत नहीं हो पाया है। मुनि जिनविजय, डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. विपिन बिहारी त्रिवेदी आदि विद्वानों की यह मान्यता है कि पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि चन्दबरदाई ने ही मूल रूप में पृथ्वीराज रासो की रचना की थी, किन्तु उसका मूल रूप अब उपलब्ध नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मूल रासो की रचना शुक–शुकी–संवाद के रूप में मानते हुए डा. नामवरसिंह के साथ ''संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो'' का सम्पादन किया था, किन्तु इसे भी विद्वान रासो के मूल रूप से दूर पाते हैं। डॉ. माताप्रसाद गुप्त मूल पृथ्वीराज रासो को अपेक्षाकृत एक छोटी रचना मानकर कथानक की दृष्टि से उसे जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' का पूरक मानते हुए उसे पृथ्वीराज चौहान के उत्तरकालीन जीवन से सम्बंद्ध करते हैं। अनेक तथ्यों के आधार पर ''रासो'' के रचनाकाल के सम्बन्ध में डॉ. गुप्त ने यह निष्कर्ष निकाला है 'पृथ्वीराज रासो' की रचना संवत् 1400 के आसपास ही हुई मानी जा सकती है, इससे पूर्व की नहीं।''

प्रामाणिकता के द्वंद्व से परे पृथ्वीराज रासो एक उच्च कोटि की साहित्यिक कृति है जिसमें भावात्मक सौन्दर्य के साथ कलात्मक वैशिष्टय का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। अपने युग के अनुरूप इसमें वीर श्रृंगार रस की गंगा–यमुना एक साथ प्रवाहित इसके कथा–संगठन में पर्याप्त शिथिलता है, फिर भी महाराज पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) की ''कित्ति–कथा'' के रूप में उसमें आरम्भ से लेकर अन्त तक एक अन्तःसूत्र विद्यमान है। कवि ने इस काव्य में प्रसंगानुकूल अनेक सरस मधुर वर्णनों की संयोजना की है। पात्रों की भावाभिव्यंना के अवसर यद्यपि इसमें कम हैं, फिर भी अनेक स्थलों पर पात्रों की भावनाओं की सहज स्वाभाविक मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। छंदांतर शैली में विरचित इस काव्य में भावों की तीव्रता अथवा मन्थरता के अनुसार छंद–परिवर्तन होता है, जिसमें छंद के साथ ध्वनि–परिवर्तन भी हो जाता है। इस सम्बन्ध में कवि की सफलता इस बात में निहित है कि भाव एवं गति का परिवर्तन केवल छंद के वाचन से ही लक्ष्य किया जा सकता है। ''शिवसिंह सरोज'' में चंदबरदाई को छप्पयो का राजा कहा गया है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है, क्योंकि चंद ने वीर रस के साथ नखशिख वर्णन तथा श्रृंगार रस के लिए भी छप्पय छंद का सफल एवं प्रभावपूर्ण प्रयोग किया है। रासो के छप्पय छंद वास्तव में कवि चंद के काव्य–कौशल के परिचायक हैं। इस संदर्भ में यह बात ध्यातव्य है कि रासो के छप्पय (शट्पदी) 'छंद कवित्त' नाम से ही प्राप्त होते हैं इसका कारण स्पष्ट करते हुए ''रूपदीप पिंगल'' – कान ने लिखा है कि सत्रहवीं शताब्दी तक छप्पय 'छंद कवित्त' के नाम से प्रसिद्ध था। (छप्पय छंद कवित्त यहु) सभा द्वारा प्रकाशित रासो के वृहत् संस्करण में 72 प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है।

वस्तुवर्णन की दृष्टि से भी पृथ्वीराज रासों में सरसता मधुरता तथा प्रभावोत्पादकता है तथा उसमें वैविध्य, विशदता एवं चित्रात्मकता भी है। श्रृंगार के–संयोग और वियोग–दोनों पक्षों का वर्णन, युद्ध वर्णन, नखशिख वर्णन, शट्ऋतु वर्णन, उदय वर्णन में कवि को विशेष सफलता मिली है। कन्नौज में गंगातट पर जल भरते हुए सुन्दरियों का एक अत्यधिक स्वाभाविक, गतिशील, सरल एवं मोहक चित्र कवि ने अंकित किया है। देखिए –

द्रग चंचल, चंचल तरूनि चितवय चित्तहरन्ति।
कंचन कलश झकोरि कै सुन्दरि नीर भरति।।

पृथ्वीराज रासो के 'पद्मावती समय' में अनेक स्थलों पर कवि की सौंदर्यानुभूति पर प्रकाश पड़ता है। जहाँ चरित्र विधान का प्रश्न है, उसमें भी पर्याप्त व्यापकता, विविधता तो है ही, स्वाभाविकता भी विद्यमान है। प्रारम्भ में रासों का प्रमुख पात्र पृथ्वीराज एक धीरोदत्त नायक के रूप में आता है, किन्तु बाद में उसके व्यक्तित्व में अदूरदर्शिता, अविवेक और हठधर्मिता भी आकर मिल जाती है। इस प्रकार पृथ्वीराज एक ह्रासोन्मुखी सामन्ती संस्कृति का प्रतीक बनकर सामने आता है। आकार–प्रकार की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो महाकाव्य है। इसमें महाकाव्योचित गरिमा तो है ही, साथ–ही–साथ राजपूती युग के जीवन का समग्र और विश्वसनीय चित्र भी उपलब्ध होता है। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ पर्याप्त विवादास्पद रहा है। भले ही चंद ने इसमें शट्भाषा के प्रयोग की बात कही हो, किन्तु वास्तव में इसकी भाषा मिश्रित भाषा है। बावजूद इसके कि यह ग्रंथ प्रामाणिक है अथवा नहीं, इस काव्य का साहित्यिक महत्व अक्षुण्ण है।

10.3.8 स्व–मूल्यांकन : (ख)

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में अभी तक आपने आदिकालीन खुमाण रासो, बीसलदेव रासो तथा पृथ्वीराज रासो का जो अध्ययन किया है उसके मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर देकर अपने अध्ययन को सार्थक करें।

1. खुमाण रासो में कितने छंद हैं?

(कं) 5000 (ख) 1200 (ग) 3000 (घ) 2000

2. किस विद्वान ने बीसलदेव रासो को विरह–काव्य स्वीकार किया है?

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (ख) बाबू गुलाब राय

(ग) डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त (घ) डॉ. माताप्रसाद गुप्त

3. चंदरबरदाई को छप्पयां का राजा किसने कहा?

(क) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (ख) डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी

(ग) डॉ. बूलर (घ) शिवसिंह सेंगर

4. किस विद्वान ने पृथ्वीराज रासो को जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' का पूरक माना है?

(क) डॉ. माताप्रसाद गुप्त (ख) डॉ. नामवर सिंह

(ग) डॉ. कर्नल टाड (घ) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

10.4 रासो काव्य की विशेषताएँ

रासो काव्य का निर्माण मध्ययुग तक होता है। इनमें ह्रासोन्मुखी सामंती प्रवृत्ति का चित्रण स्पष्टतः देखा जा सकता है। नाना प्रकार की कथानक रूढ़ियों और कवि–समयों का चित्रण रासोकार करते रहे हैं। युद्धों और विवाहों के चित्रण द्वारा मिथ्याभिमान और विलास से जर्जर जीवन को उभार कर रासो के रचयिताओं ने समाज का सच्चा सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास प्रस्तुत किया है। इन रासों ग्रंथों में इतिहास के सन्–संवत् भले ही अशुद्ध हों, भ्रामक हों, किन्तु सामाजिक जीवन की झाँकी के भरे–पूरे चित्र अवश्य मिलते हैं। तत्कालीन इतिहास के गवेषकों के लिए रासो काव्यों का विशेष महत्व है। रासो काव्यों की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं :–

1. रासो काव्यों में आश्रयदाताओं की भरपूर प्रशंसा मिलती है और राष्ट्रीय भावना का अभाव मिलता है। आश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गान तो उत्साह से किया, किन्तु राष्ट्रीय भावना का पूर्णतः अभाव उनमें रहा है।

2. रासो काव्यों में युद्ध का सजीव वर्णन मिलता है। युद्ध, सेना की साज–सज्जा और आक्रमण आदि का वर्णन चित्र–व्यंजनात्मक शैली में किया गया है।

3. रासो काव्यों में युद्धों के सजीव और रसपूर्ण वर्णन प्राप्त होते हैं तो वीर भाव श्रृंगार रस से पुष्ट होकर भी आया है। स्त्रियाँ ही प्रायः आपसी विद्वेष का कारण होती थीं। फलतः वीर के साथ श्रृंगार रस को भी बराबर स्थान मिलता रहा है। नारी दोनों रसों के केन्द्र में रही है। उसे पाने के लिए युद्ध हुए हैं और पा लेने पर जीवन का विलास पक्ष पुष्ट हुआ है। बीसलदेव रासो की भावभूमि प्रेम की निष्छल अभिव्यक्ति से सरस है तो पृथ्वीराज रासो में भी श्रृंगार रस वीर रस के साथ ''मधुबतियाँ'' करता दिखलाया जाता है।

4. रासो काव्यों में प्रकृति के आकर्षक चित्र अंकित हुए हैं। 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' इसके उदाहरण हैं। इनके रचयिता ने प्रकृति के चित्रों से भी भावचित्रण को सौंदर्य प्रदान किया है। बारहमासों व ऋतुओं के प्राकृतिक चित्र संयोग–वियोग में उद्दीपन का काम करते हैं।

5. रासो काव्यों में शुद्ध ऐतिहासिकता का अभाव दिखाई देता है। वर्णनात्मकता के कारण इतिहास में कल्पना भी आ कर मिल गई है।

6. रासो काव्यों मे भावोत्कर्ष कम वस्तु–वर्णन की प्रधानता अधिक रही है। कहीं–कहीं ये वर्णन नीरस और उबाऊ भी हो गए हैं।

7. रासो काव्यों की भाषा प्रायः डिंगल रही है, क्योंकि यही वह भाषा है जो वीर भावों की व्यंजना के लिए उपयुक्त रही है।

8. रासो काव्यों में छन्द–वैविध्य पर्याप्त मिलता है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ''जब रासो के छंद बदलते हैं तो श्रोता के चित्र में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन होने लगता है।''

9. रासो काव्यों में कथा को गति देने, जिज्ञासा बनाए रखने और आकर्षण पैदा करने के लिए कथानक रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है।

10. रासो काव्यों की एक विशेषता उनकी अभिनेयता रही है। गति–नृत्यपरक परम्परा का प्रचार जैन धर्मावलम्बियों के मध्य अधिक रहा। यही कारण है कि उनके द्वारा सृजित सभी रासो काव्य इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। दूसरी परम्परा का प्रचार जैनियों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सामाजिक वर्ग में रहा है। विद्वानों की यह मान्यता रही है कि इन रासो काव्यों का गायन अभिनय के साथ–साथ होता है।

10.4.1 स्व–मूल्यांकन : (ग)

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में आपको रासो काव्य की विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त हुआ जिसके मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा। यदि आप इन रिक्त स्थानों को भरने में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं, आप इस अध्याय का पुनः अध्ययन कर सकते हैं साथ ही उत्तर कुंजी भी देख सकते हैं।

1. रासो काव्यों में .... की भरपूर प्रशंसा मिलती है।
2. युद्ध, सेना की साज–सज्जा और आक्रमण आदि का वर्णन .... शैली में किया गया है।
3. बीसलदेव रासो की .... प्रेम की निष्छल अभिव्यक्ति से सरस है।
4. बारहमासों व ऋतुओं के प्राकृतिक चित्र .... में उद्दीपन का काम करते हैं।
5. रासो काव्यों में शुद्ध .... का अभाव दिखाई देता है।
6. रासो काव्यों की भाषा प्रायः .... रही है।
7. .... में छन्द–वैविध्य पर्याप्त मिलता है।
8. रासो काव्यों में .... का प्रयोग हुआ है।
9. गति–नृत्यपरक परम्परा का प्रचार .... के मध्य अधिक रहा।
10. रासो काव्यों का गायन .... के साथ–साथ होता है।

10.5 सारांश

आदिकालीन साहित्य में रासो साहित्य का विशेष महत्व है। इसी महत्ता के कारण 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति और रासो काव्यों की विशेषताओं को लेकर विद्वानों मे पर्याप्त चर्चा रही है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रासो काव्य पर्याप्त मात्रा में लिखे गए थें इसी पर्याप्त मात्रा ने रासो काव्यों की कुछ विशेषताओं को उद्घाटित कर दिया।

10.6 कठिन शब्द

1. सामंती = सामंत संबंधी
2. प्रवाहित = बहता हुआ
3. स्वाभाविकता = जो स्वभाव से उत्पन्न हुआ हो
4. हस्तलिखित = हाथ से लिखा हुआ
5. नीरसता = एकरसता

10.7. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रासों काव्य और उनके लेखकों का नामोल्लेख कीजिए।

2. रासों काव्य का विस्तापूर्वक विवेचन कीजिए।

10.8 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. जैन कवियों द्वारा 2. मेरूतंग 3. जज्जल 4. वीर 5. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' 6. चार्ल्स इलियट

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. 5000 2. डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त 3. शिवसिंह सेंगर 4. डॉ. माताप्रसाद गुप्त

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. आश्रयदाताओं 2. चित्र–व्यंजनात्मक 3. भावभूमि 4. संयोग–वियोग 5.ऐतिहासिकता 6. डिंगल 7. रासो काव्यों 8. कथानक रूढ़ियों 9. जैन धर्मावलम्बियों 10. अभिनय

10.9. पठनीय पुस्तकें :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

आदिकाल का जैन साहित्य

रूपरेखा

11.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

11.2. प्रस्तावना

11.3. आदिकालीन जैन साहित्य

11.3.1 उपदेश रसायन

11.3.2 भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास

11.3.3 भरतेश्वर बाहुबलि रासो

11.3.4 बुद्धिरास

11.3.5 चन्दनबाला रास

11.3.6 रेवन्तगिरि रास

11.3.7 नेमिनाथ रास

11.3.8 स्थूलिभद्र रास

11.3.9 जिन कुशल सूरि पट्टाभिषेक रास

11.3.10 स्व–मूल्यांकन : (क)

11.3.11 अन्य रास ग्रन्थ

11.3.11.1 स्व–मूल्यांकन : (ख)

11.4. सारांश

11.5 कठिन शब्द

11.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.7 उत्तर कुंजी

11.8 पठनीय पुस्तकें

11.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको–

आदिकालीन जैन साहित्य में जैन धर्म की कथाओं, दार्शनिक मंतव्यों या उपदेशों को आधार बनाया गया है इस बात से अवगत करवाना है।

- जैन कवियों की रचनाएँ विभिन्न शैलियों में उपलब्ध है, इस तथ्य की जानकारी देना।
- इन रचनाओं में राजाओं की वीरता, युद्धों आदि का वर्णन मिलता है, इसका ज्ञान देना है।

इस अध्याय का पूर्ण अध्ययन करने के पश्चात आप इन तथ्यों को समझने में सक्षम होंगे कि आदिकालीन जैन साहित्य में जैन धर्म की कथाओं, दार्शनिक मंतव्यों या उपदेशों को आधार बनाया गया है तथा इन रचनाओं में राजाओं की वीरता, युद्धों आदि का वर्णन होने के साथ–साथ विभिन्न शैलियाँ भी उपलब्ध होती हैं।

11.2 प्रस्तावना

जैन साहित्य में हिन्दी की वे रचनाएँ आती हैं जिनके अन्तर्गत जैन धर्म की कथाओं, दार्शनिक मंतव्यों या उपदेशों को आधार बनाया गया है। 'श्रावकाचार', 'भरतेश्वर बाहुबलि रास', 'चन्दनबाला रास', 'स्थूलिभद्र रास', रेवन्तगिरिरास और 'नेमिनाथ रास' इसी वर्ग की रचनाएँ हैं। जैन कवियों की रचनाएँ आचार, रासो, फागु और चरित आदि विभिन्न शैलियों में उपलब्ध हैं। जो आचार–शैली में लिखी गई हैं, उनमें उपदेशात्मकता है। कुछ रचनाओं में उपदेश के साथ–साथ नीति कथन भी देखने को मिलता है। मुनि जिनि विजय द्वारा मान्यता–प्राप्त 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' में राजाओं की वीरता, युद्धों आदि का वर्णन मिलता है। हाँ, इतना अवश्य है कि हिंसा और वीरता के बाद विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित करना इन कवियों का लक्ष्य रहा है।

11.3 आदिकालीन जैन साहित्य

श्री अगरचन्द नाहटा की मान्यता है कि जैन मुनियों का जीवन बहुत ही संयमित होता है। भिक्षा के भोजन द्वारा वे अपनी क्षुधा–निवृत्त करके प्रायः सारा समय स्वाध्याय, धर्म–प्रचार, ग्रंथ–लेखन आदि धार्मिक और सत्कार्यों में लगाते रहे हैं। इसलिए उनका साहित्य बहुत अधिक मिलता है। प्राचीन राजस्थानी साहित्य तो जैन–कवियों की ही देन है। तेरहवीं शताब्दी से इनकी रचनाओं का प्रारम्भ होता है। और अविच्छिन्न रूप से प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण में रची गई उनकी छोटी–बड़ी रचनाएं आज भी प्राप्त हैं। जैन कवियों की रचनाएँ गुजरात और राजस्थान में बराबर सृजित होती रही हैं। भाषा की दृष्टि से भी इनमें पर्याप्त समानता रही है। जैन कवियों की रचनाएँ अधिकांशतः धर्म–प्रचार के निमित्त लिखी जाती थीं और सात्विक एवं आडम्बरहीन जीवन पर सर्वाधिक बल दिया जाता था। जैन कवियों द्वारा रचित रचनाओं का स्वर अधिकांशतः प्रचारात्मक और उपदेशात्मक रहा है, किन्तु यह निर्भ्रान्त रूप से नहीं कहा जा सकता है कि काव्य–सौंदर्य का मार्मिक अंकन देखने को नहीं मिलता है, वहीं दूसरी ओर वस्तु–जगत और उत्सवों आदि का प्रभावी अंकन भी देखने को मिल जाता है। जैन कवियों की रचनाएँ प्रबंधात्मकता से भी संयुक्त हैं और कुछ ऐसी भी हैं जो खण्डकाव्य की श्रेणी में आती हैं। प्रायः इन रचनाओं में नायक अन्त में जैन धर्म ग्रहण कर लेता है अथवा उसके प्रभाव से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इन रचनाओं का समापन अधिकांशतः शांत रस में हुआ है। रास संज्ञक रचनाओं में छन्द–वैविध्य भी मिलता है, किन्तु वह रास काव्यों की तुलना में पर्याप्त सीमित दिखाई देता है। जैन–साहित्य की जो सर्वप्रथम रचना प्राप्त होती है, वह देवसेन (संवत् 990) की ''श्रावकाचार'' है। इसका उल्लेख आचार्य शुक्ल ने भी अपने ''हिन्दी साहित्य का इतिहास'' में किया है। इस पुस्तक में 250 दोहों में श्रावक धर्म का आख्यान किया गया है। श्रावकाचार से उद्धृत यह अंश देखिए–

जो जिण सासण भाषियउ, सो मइ कहियउ सारू।
जो पालइ सइ भाउ करि, सो सरि पावइ पारू।।

जैन कवियों द्वारा निर्मित गीत–नृत्यप्रधान रास काव्य परम्परा की प्रमुख कृतियों का परिचय निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है–

11.3.1 उपदेश रसायन

यह जिनदत्त सूरि की रचना है। यह प्राचीन उपलब्ध रासो–काव्य है। इसका रचनाकाल कवि के एक अन्य काव्य ''कालस्वरूप कुलक'' के आधार पर निश्चित किया गया है जिसमें संवत् 1200 विक्रम की एक घटना का उल्लेख निम्नांकित रूप में किया गया है–

विक्रम संवच्छरि सय बारह।
हुयहइ पणठठ्उ सुहु घर बाहर।।

कवि ने इस रचना के अंत में इसे ''रसायन'' कहा है किन्तु इसके टीकाकार जितपाल उपाध्याय ने इसे रासक माना है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इसके दो संस्करणों का उल्लेख किया है जिनमें से एक में केवल 32 छंद हैं और दूसरे में 80 छंद हैं। इसका वर्ण्य–विषय जैन धर्म सम्बन्धी उपदेश हैं। रचना का शीर्षक भी इसी ओर संकेत कर रहा है।

11.3.2 भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास

इस रचना की खोज का श्रेय अगरचन्द नाहटा को है। इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति नाहटा जी को जैसलमेर से प्राप्त हुई है। इसके रचयिता देवसूरि के शिष्य वज्रसेन सूरि थे। नाहटाजी ने इसका रचनाकाल संवत् 1225 वि. में अनुमानित किया है। 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' में केवल 45 छंद हैं। इनमें भगवान ऋषिदेव के पुत्रों – भरत एवं बाहुबलि–के घोर युद्ध का वर्णन है। ग्रंथ में 'रास' शब्द का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। यह रास डॉ. दशरथ ओझा और डॉ. दशरथ शर्मा द्वारा सम्पादित ''रास और रासान्वयी'' ग्रंथ में प्रकाशित हो चुका है। इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भी हुआ है तथा इसकी भाषा अपभ्रंश और राजस्थानी से प्रभावित हिन्दी है।

11.3.3 भरतेश्वर बाहुबलि रासो

डॉ. गणपतिचन्द गुप्त ने इसी ग्रंथ से हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ माना है। इसके रचयिता शालिभद्र सूरि हैं। यह 203 छंदों की रचना है और इसमें प्रयुक्त प्रमुख छंद रासो है। इस कृति में जो कथा वर्णित है, वह भरतेश्वर और बाहुबलि को अध्योध्यावासी ऋषि जिनेश्वर के यहाँ सुनन्दा और सुमंगला से उत्पन्न बताया गया है। भरत आयु में बड़े थे और पर्याप्त पराक्रमी थे। भरत को अयोध्या का राजा बनाया गया और बाहुबलि को तक्षशिला का राज्य मिला। कवि ने इन दोनों राजाओं की वीरता और युद्धों आदि का वर्णन विस्तार से किया है, किन्तु हिंसा और वीरता के पश्चात विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित करना कवि का प्रमुख लक्ष्य रहा है। इसकी भाषा में नाटकीयता, उक्ति–वैचित्र्य और रसात्मकता सर्वत्र दिखाई देती है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ देखिए–

बोलत बाहुबली बलवन्त। लोह खण्डि तउ गरवीउ हंत।।

चक्र सरीसउ चूनउ करिउँ। सयलहँ गोत्रह कुल संहरऊँ।।

11.3.4 बुद्धिरास

शालिभद्र सूरि द्वारा रचित एक छोटी–सी रचना ''बुद्धिरास'' भी प्राप्त हुई है। इसमें मात्र 63 छंद हैं। इसका वर्णय–विषय धर्मापदेश है। प्राचीन जैन ग्रंथगारों में इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। बुद्धिरासो का उद्देश्य पथभ्रष्ट लोगों का मार्गदर्शन करना रहा है। इस रचना को पढ़ने और सुनने का माहात्म्य अन्तिम छंद में यह बतलाया गया है–

शालिभद्र गुरू संकुललीय सिवि हूँ, गुरू उपदेसि।
पढहि गुणहि जे सं लहिं ताहइ विघ्न टलेसि।।

इसकी भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण तो है ही, गेय भी है। इसमें रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। विद्वानों ने निष्कर्ष रूप में इसका रचनाकाल संवत् 1238 से 1244 वि. के बीच अनुमानित किया है।

11.3.5 चन्दनबाला रास

''चन्दनबाला रास'' कवि आसगु द्वारा रचित एक छोटी–सी रचना है। इसकी छंद संख्या मात्र 35 है। इसकी रचना कवि ने जालौह (पश्चिमी राजस्थान) में की थी। इसका रचनाकाल संवत् 1255 से 1260 के मध्य स्वीकार किया जाता है। इसमें कथा–नायिका राजकुमारी चन्दनबाला के अपहरण, विक्रय, उत्पीड़न, सतीत्व तथा मोक्ष–प्राप्ति का वर्णन किया गया है। कतिपय विद्वानों ने इस कृति का साहित्यिक महत्व स्वीकार किया है। कवि ने इसमें भाव–सौन्दर्य के अनेक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं।

11.3.6 रेवन्तगिरि रास

इसकी रचना विजयसेन सूरि ने की थी। इसका रचनाकाल संवत् 1288 वि. के आसपास माना गया है। इसका वर्णय–विषय जैनधर्म से सम्बन्धित है। इस रास में गिरनार के जैन–मंदिरों के जीर्णोंद्धार, रेवतंगिरि तीर्थ का यात्रा और नेमिनाथ की प्रतिमा की स्थापना आदि का वर्णन किया गया है। इसमें कुल 72 छंद हैं। रचना में तीर्थाटन, मूर्ति–स्थापना, वास्तुकला के सौंदर्य–वर्णन के साथ–साथ प्राकृतिक सुषमा के आकर्षक चित्र भी देखने को मिलते हैं। प्रकृति का एक सहज और गतिशील बिम्ब इन पंक्तियों में देखा जा सकता है–

कोयल कलयलो मोर के कारयो,

सम्मए महुयर महुर गुँजारवो।

कवि ने वनराजि का वर्णन करते समय वस्तु–परिगणन प्रणाली का प्रयोग किया है और शब्दावली आनुप्रासिक है। इस रचना के दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं। एक संस्करण 'रासो और रासान्वयी काव्य' में प्रकाशित है और दूसरी प्राचीन गुर्जर काव्य भाग–एक में गायकवाड़ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

11.3.7 नेमिनाथ रास

इसकी रचना सुमतिमणि ने की थी। यह 58 छंदों की एक छोटी रचना है जिसके अन्तर्गत नेमिनाथ का चरित्र–वर्णन सरस और आकर्षक शैली में किया गया है। विद्वानों की मान्यता है कि इसकी भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिन्दी है। अनुमानित किया गया है कि यह रचना 13वीं शती के अन्तिम दशक की रही होगी। इसका प्रकाशन भी 'रास और रासान्वयी काव्य' में हो चुका है।

11.3.8 स्थूलिभद्र रास

यह ग्रंथ 1209 ई. में रचित है और इसके रचयिता जिनधर्म सूरि माने गए हैं। स्थूलिभद्र और कोशा वेश्या के विषय में और भी रचनाएँ मिलती हैं, किन्तु इस कृति की सभी घटनाओं से उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' की मान्यता है कि अवान्तर घटनाओं के माध्यम से लौहघट के रूप में स्थूलिभद्र का संयम चित्रित करके कवि ने काव्य को विशिष्ट बना दिया है। कोशा वेश्या के पास भोगलिप्त रहने वाले स्थूलिभद्र को कवि

ने जैनधर्म की दीक्षा लेने के बाद मोक्ष का अधिकारी सिद्ध किया है। काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अवश्य है, फिर भी इसकी भाषा का मूल रूप हिन्दी है। धार्मिक दृष्टि से प्रेरित होने पर भी इसकी भावभूमि और अभिव्यंजना काव्यानुकूल है।

11.3.9 जिन कुशल सूरि पट्टाभिषेक रास

इस ग्रंथ के रचयिता धर्मकलश मुनि माने जाते हैं। इसमें मात्र 38 छंद हैं। कृति के अन्तर्गत जिन कुशल सूरि के पट्टाभिषेक (संवत् 1377) की ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। यह रास श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन–काव्य संग्रह' में प्रकाशित हो चुका है इसी क्रम में कतिपय अन्य जैन कवियों द्वारा रचित रासो काव्यों की चर्चा की जा सकती है। ऐसे रास ग्रंथों में ''जम्बूस्वामी रास'' जिनके रचयिता धर्मसूरि (संवत् 1266) माने गए हैं, 'आबूरास' जिसका दूसरा नाम 'नेमिजिणन्द रास' भी है तथा जिसके रचयिता पाल्हड़ आदि प्रमुख हैं।

11.3.10 स्व–मूल्यांकन : (क)

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय में आपने आदिकालीन जैन साहित्य का अध्ययन किया है। अब आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा अपने अध्ययन का निरीक्षण करें।

1. **उपदेश रसायन किसकी रचना है?**

   (क) जिनदत्त सूरि (ख) देवसूरि (ग) शालिभद्र सूरि (घ) आसगु

2. **भरतेश्वर बाहुबलि घोर रस के रचियता हैं –**

   (क) जिनदत्त सूरि (ख) वज्रसेन सूरि (ग) आसगु (घ) शालिभद्र सूरि

3. **भरतेश्वर बाहुबलि रासो के रचियता हैं –**

   (क) शालिभद्र सूरि (ख) आसगु (ग) देवसूरि (घ) जिनधर्म सूरि

4. **बुद्धिरस के रचियता हैं –**

   (क) सुमतिमणि (ख) शालिभद्र सूरि (ग) जिनधर्म (घ) नेमिनाथ

5. **चन्दनबाला रास के रचियता कौन हैं ?**

   (क) आसगु (ख) शालिभद्र सूरि (ग) जिनधर्म (घ) नेमिनाथ

6. **नेमिनाथ कितने छन्दों की छोटी रचना है?**

   (क) 58 (ख) 62 (ग) 65 (घ) 103

7. **स्थूलिभद्र रास ग्रन्थ के रचयिता हैं –**

   (क) जिनधर्म सूरि (ख) धर्मकलश मुनि (ग) पाल्हड़ (घ) विजय सेन

8. **रेवन्तगिरि रास के रचयिता हैं –**

   (क) विजयसेन सूरि (ख) सुमतिमणि (ग) जिनधर्म सूरि (घ) धर्मकलश मुनि

9. धर्मकलश मुनि की रचना का क्या नाम है?

(क) गयसुकुमार रास (ख) बारह व्रत रास

(ग) जिन कुशल सूरि पट्टाभिषेक (घ) बीस बिहरमाण रास

11.3.11 अन्य रास ग्रंथ

जैन कवियों द्वारा रचित और शोध कर्ताओं द्वारा अन्वेषित कतिपय अन्य जैन रास ग्रंथ अग्रांकित हैं–

(1) गयसुकुमार रास (रचनाकार देल्हणि, रचनाकाल 1300 वि. के आसपास) इसकी छंद संख्या मात्र 38 है।

(2) महावीर रासो (रचनाकार अभयतिलक मणि, रचनाकाल 1307 वि.)

(3) शांतिनाथ देव रासो (रचनाकाल लक्ष्मीतिलक उपाध्याय, रचनाकाल सं. 1313 वि.)

(4) सप्त क्षेत्र रासो (रचनाकर का नाम अज्ञात), इसमें जैन धर्म से सम्बन्धित सात प्रसिद्ध घटकों–साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका, जिन मंदिर तथा ज्ञान का वर्णन करने के साथ–साथ उनकी उपासना का उपदेश दिया गया है।

(5) बारह व्रत रास (रचनाकार विनयचन्द सूरि, रचनाकाल सं. 1338), कुल छंद संख्या 53 है।

(6) कच्छुली रास (रचनाकार का नाम अज्ञात, रचनाकाल वि. 1363 छंद सं. 35)

(7) बीस बिहरमाणरास (रचनाकार श्रावक वस्तिग, रचनाकाल सं. 1368 वि.)

(8) श्रावकविधि रास (रचनाकार गुणाकर सूरि, रचनाकाल सं. 1371 वि.)

(9) समरारासो (रचनाकार अम्बदेव सूरि, रचनाकाल सं. 1371 वि)

अनेक जैन कवियों ने फागु–काव्यों की भी रचना की है।

अद्यावधि उपलब्ध फागु काव्यों में सबसे प्राचीन जिनचंद सूरि फागु है जिसके लेखक का पता नहीं है। जिन पद्यसूरि रचित थूलिभट्ट फागु, एक अज्ञात कवि की जम्बू स्वामी फागु इस काल की सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य–कृतियाँ हैं। इस काल का एकमात्र जैनेतर फागु–काव्य वसंत विलास फागु भी मिलता है।

फागुन और चैत मास में मस्ती और उल्लास से गाये जाने वाले इन लोकगीतों को जैनियों ने कुछ विशेष साहित्यिक रूप देकर फागु–काव्य की संज्ञा से अभिहित कर दिया। ये फागु–काव्य चाहे जैनियों के हों या जैनेतर इनमें वसंतश्री की शोभा का, कामीजनों के क्रीड़ा, लोकजीवन के उल्लास और आनन्दमय जीवन, शृंगार के संयोग और वियोग पक्षों का बड़ा ही सरस, मार्मिक और मधुर चित्रण मिलता है।

ये फागु–काव्य प्रायः आकार में छोटे लगभग 2527 छंदों में रचित होते हैं। केवल वसंत विलास के ही छंदों की संख्या चौरासी है। जैनियों ने किसी न किसी कथा का आधार देकर इन्हें प्रबन्धात्मकता का रूप प्रदान कर दिया है। इस रूप में ये गेयरूपक खंड–काव्य बन गये हैं। कहीं–कहीं इनकी कथा 'भासो' में विभक्त है जैसा कि थूलिभद्द फागु सात भासों में निबद्ध है।

जैनियों ने इन फागु–गीतों का उपयोग अपनी धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही किया। इन्होंने उन्मादक वातावरण में भी शील, संयम, त्याग, अहिंसा की विजय दिखलाई। इन जैन फागु–काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें धार्मिक वातावरण रहने के बावजूद इनका काव्य–सौन्दर्य प्रायः अक्षुण्ण मिलता है।

इसी प्रकार चउपई काव्यरूप में भी जैनियों ने अपनी रचनाएँ की। नेमिनाथ चउपई जैसे काव्य तो बडे ही सरस बन पड़े हैं। बारहमासा के माध्यम से राजुल का जो विरह–वर्णन विनय चन्दसूरि ने किया है बड़ा ही मर्मस्पर्शी है।

इन जैनाचार्यों द्वारा रचित 'चर्चरी' नामक काव्यरूप की भी कतिपय रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। कवि सोममूर्ति द्वारा रचित ''जिनप्रबोध सूरि चर्चरी'' रचना उल्लेखनीय है। इसी प्रकार ''रेलुआ'' संज्ञक रचनाएँ (यथा–''गुरावली रेलुआ'', ''धवल'' (उत्साह प्रकट करने वाला मंगल गीत) भी उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त जैन कवियों ने कतिपय चरित काव्यों की भी रचना की है।

11.3.11.1 स्व–मूल्यांकन : (ख)

प्रिय विद्यार्थियों! आदिकालीन जैन साहित्य का अध्ययन कर आपने जो ज्ञान प्राप्त किया उसके मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. 'उपदेश रसायन' का वर्णय–विषय .... सम्बन्धी उपदेश हैं।
2. 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' में केवल ....छंद हैं।
3. 'बुद्धिरासो' का उद्देश्य .... लोगों का मार्गदर्शन करना रहा है।
4. 'चन्दनबाला रास' का रचनाकाल .... के मध्य स्वीकार किया जाता है।
5. 'रेवन्तगिरि रास' में कुल .... छंद हैं।
6. 'नेमिनाथ रास' की रचना .... ने की थी।
7. .... के पास भोगलिप्त रहने वाले स्थूलिभद्र को कवि ने जैनधर्म की दीक्षा लेने के बाद मोक्ष का अधिकारी सिद्ध किया है।
8. 'कच्छुली रास' .... छंदों की रचना है।
9. समरारासो के रचनाकार .... हैं।
10. अनेक जैन कवियों ने .... की भी रचना की है।
11. फागु–काव्य प्रायः आकार में छोटे लगभग .... छंदों में रचित होते हैं।
12. इन .... द्वारा रचित 'चर्चरी' नामक काव्यरूप की भी कतिपय रचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

11.4 सारांश

संक्षेप में कह सकते हैं कि हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में जैन कवियों द्वारा सृजित हिन्दी साहित्य अपनी विविधता और गुणवत्ता की दृष्टि से पर्याप्त महत्व रखता है। भले ही इस साहित्य में उपदेश, प्रचार, सत्परामर्श और धर्म आदि की शिक्षा दी गई हो, किन्तु फिर भी उपेक्षणीय नहीं है। कारण यह है कि इस प्रकार के काव्यों में काव्यत्व भी स्थान–स्थान पर देखने को मिलता है। इन ग्रंथों के सम्बन्ध में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त का यह कथन उल्लेखनीय है–''वस्तुतः इनका काव्य केवल सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं है, अपितु उसमें नारी सौंदर्य, यौवन, प्रणय, विरह जैसे विषयों एवं प्रकृति के नाना दृश्यों का भी निरूपण आकर्षक अलंकारपूर्ण शैली में हुआ है। अतः वे काव्यत्व की कसौटी पर खरे सिद्ध होते हैं। इनकी विषय –वस्तु पौराणिक है, तथा पात्र धार्मिक साधक हैं, साथ ही इनमें शांत रस की प्रधानता है। जनता में प्रचलित रासो–शैली को अपनाकर उन्होंने उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया।''

11.5 कठिन शब्द

1. स्वाध्याय = स्वयं अध्ययन करना
2. प्रतिदिन = नित नूतन दिवस
3. अक्षुण्ण = क्षीण न होने वाला
4. क्षुधा = भूख, अतृप्ति
5. वैविध्य = विविधता, अनेकरूपता

11.6. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आदिकालीन जैन साहित्य पर प्रकाश डालिए।

____

____

____

____

____

2. आदिकालीन किन्हीं तीन रचनाओं पर प्रकाश डालिए।

____

____

____

____

____

11.7 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. जिनदत्त सूरि 2. वज्रसेन सूरि 3.शालिभद्र सूरि 4. शालिभद्र सूरि 5.शालिभद्र सूरि 6. 58 7. जिनधर्म सूरि 8. विजयसेन सूरि 9. जिन कुशल सूरि पट्टाभिषेक

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. जैन धर्म 2. 45 3. पथभ्रष्ट 4. संवत् 1255 से 1260 5. 72 6. सुमतिमणि 7. कोशा वेश्या 8. 35 9. अम्बदेव सूरि 10. फागु–काव्यों 11. 2527 12. जैनाचार्यों

11.8. पठनीय पुस्तकें :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985

4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक चेतना एवं भक्ति आंदोलन

रूपरेखा

12.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
12.2. प्रस्तावना
12.3. भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
12.3.1 स्व–मूल्यांकन (क)
12.4. परिस्थितियाँ
12.4.1 स्व–मूल्यांकन (ख)
12.5. सांस्कृतिक चेतना और भक्ति आन्दोलन
12.5.1 स्व–मूल्यांकन (ग)
12.6. सारांश
12.7. कठिन शब्द
12.8. अभ्यासार्थ प्रश्न
12.9. पठनीय पुस्तकें

12.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम :

इस अध्याय का उद्देश्य आपको भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक चेतना व भक्ति आंदोलन का विस्तृत ज्ञान देना है।

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययनोपरांत आप हिन्दी साहित्य के सबसे वृहद् काल भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। इस काल को उक्त नामकरण देने के पीछे जिन परिस्थितियों का हाथ रहा तथा उत्तर और दक्षिण दोनों के भक्त कवियों की परम्पराओं व आंदोलनों की क्या भूमिका रही उनका परिचय प्राप्त कर सकेंगे। इसके साथ ही भक्तिकाल में उत्तर और दक्षिण के सन्तों के दार्शनिक और जागरूक दृष्टिकोण के अन्तर्गत तत्कालीन व्यवस्था की संक्रमित परिस्थितियों तथा उनके इस काल में किए गये संघर्ष और विद्रोहात्मक प्रवृतियों को समझने में सक्षम होंगे।

12.2. प्रस्तावना :

'भक्ति' शब्द संस्कृत की 'भज' धातु से बना है जिसका अर्थ है अनुराग, श्रद्धा, सम्मान, सेवा। आराध्य के प्रति अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है। इस अनुरक्ति में श्रद्धा, सम्मान और सेवा की भावनाएं स्वाभाविक रुप से निहित रहती हैं। 'भगवद्‌गीता' में भगवान् के प्रति मन और बुद्धि को अर्पित करने वाले व्यक्ति को ही भक्त कहा गया है। 'नारद भक्ति सूत्र' में भक्ति को परम प्रेमरूपा और अमृत स्वरूपा कहा गया है। ''सा त्वस्मिन परम प्रेमरूपा, अमृत स्वरूपा च'' शांडिल्य भक्ति सूत्र के अनुसार ईश्वर से परम अनुरक्ति ही भक्ति है। नारद भक्ति सूत्र के अनुसार यह प्रेमाभक्ति कर्म, ज्ञान और योग से भी बढ़ कर है, क्योंकि वह साधन न होकर स्वयं फलरूपा है। वल्लभाचार्य ने भगवान् में महात्मयपूर्वक

सुदृढ़ और सतत् स्नेह को ही भक्ति माना है। आचार्य शुक्ल के अनुसार श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जिसमें उन्होंने प्रेम को व्यक्तिगत और श्रद्धा को सामाजिक भाव माना है। परमात्मा के निर्गुण या सगुण रूप में महानता के दर्शन करते हुए उस महत्ता के प्रति श्रद्धा से अवनत होना ही भक्ति है। महत्ता के प्रति इस पूजा में, बुद्धि में महान जीवन–मूल्यों के प्रति असीम आस्था व्यक्त होती है। इसीलिए शुक्ल जी ने भक्ति को धर्म की रसात्मक अनुभूति माना है। हिंदी विद्वान् आचार्य शुक्ल की भक्ति धारणा का विरोध शाब्दिक रूप में अवश्य करते हैं पर वे इससे अधिक सटीक धारणा प्रस्तुत नहीं कर पाए। अतः यह मानना उचित है कि भक्ति के विकास के स्त्रोत प्राचीन धर्म–साधना और साहित्य में मिलते हैं। शांडिल्य भक्ति सूत्र में ''भक्ति प्रमेया श्रुतिभ्यः कहकर संकेत किया गया है कि भक्ति के बीज वेदों में विद्यमान है।''

12.3. भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

भारतीय धर्म–साधना के इतिहास में भक्ति–मार्ग का विशिष्ट स्थान है, यद्यपि संहिता भाग के रचना–काल तक उसके अस्तित्व का कोई परिचय नहीं मिलता। वैदिक युग में यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड के माध्यम से धर्मानुष्ठान हुआ करते थे। आगे लोग प्रायः प्राकृतिक वस्तुओं अथवा घटनाओं के मूल में किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने के लिए यज्ञादि का आयोजन करते थे। विनय अथवा प्रार्थना भी उनके दैनिक जीवन की उल्लासमयी अभिव्यक्ति थी। उनका ध्यान मुख्यतः ऐहिक सुखों की प्राप्ति पर केन्द्रित था और वे अन्तःकरण की साधना की अपेक्षा बाह्य विधानों का अनुसरण करने की ओर अधिक प्रवृत रहते थे, फिर भी, शुभाशुभ परिणामों में उनका विश्वास था, जिस कारण उनके यज्ञादि कर्मकाण्ड श्रद्धा से अनुप्राणित रहते थे। श्रद्धाविहीन यज्ञ का कोई अर्थ न था। इसी से श्रद्धामूलक भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और आगे चलकर बहुदेववाद भी एकदेववाद में परिणत हो गया। भक्त के लिए यह स्वाभाविक हो गया कि वह बिखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य लाकर अपनी दृष्टि किसी एक में निर्विष्ट करे। फलस्वरूप बहुदेवों की कल्पना सिमटकर धीरे–धीरे एक में ही समाहित होने लगी और कहा जाने लगा कि विद्वान लोग उसी (सत) को इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार सार्वभौम मौलिक एकता के प्रतिपादन द्वारा परमात्व–तत्त्व की प्रतिष्ठा हो गयी। प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण के बाद देवताओं का मानवीकरण होने लगा, जिसकी परिणति अवतारवाद में हुई। हिंस्र तथा कठोर वृत्तियां का स्थान क्रमशः कोमल वृत्तियां लेने लगीं, जिसका प्रभाव भक्ति–साधना की विधियों पर पड़ना स्वाभाविक था। श्रमण–संस्कृति द्वारा इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला।

आर्यों की अनेक सभाएं तथा परिषदें हुआ करती थीं जिनमें उपस्थित किये गये तर्क–वितर्क एवं दार्शनिक विवेचन के परिणामस्वरूप ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषद नामक भागों की रचना हुई। जीवात्मा तथा अव्यक्त प्रकृति की भावना का उदय सम्भवतः इसी अवधि में हुआ। कर्मफल तथा जन्मान्तरवाद की कल्पना के आधार पर कर्म–बन्धन से जीवात्मा को उन्मुक्त करने के उपाय सोचे जाने लगे। कर्म–जाल से पृथक् रहकर परमात्म–चिन्तन में तल्लीन रहने के लिए तपादि की व्याख्या हो गयी। भक्ति–भावना आर्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप क्रमशः श्रद्धा–उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य में भाग लेना (भज=भाग लेना) जैसे व्यापक भाव में परिणत हुई। वैसे 'भक्ति' का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वेतर 'उपनिषद' (6133) में मिलता है। यह भी उल्लेखनीय है कि आर्यों के भारत आने पर उन्हें यहां के किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, असुर, व्रात्य, विद्याधर आदि जातियों की नागर संस्कृति का परिचय मिला था। आर्य लोग मुख्यतः सैनिक जीवन के अभ्यासी थे और उनका जातीय जीवन ग्रामीण संस्कृति पर आधारित था। इन दोनों के मिलन और पारस्परिक आदान–प्रदान से भारतीय संस्कृति का विकास हुआ, जिसकी छत्र–छाया में भक्ति–परम्परा का बीज विकसित हुआ।

वैदिक भक्ति–परम्परा के समानान्तर दक्षिण भारत में द्रविड़– संस्कृतिगर्भित पृथक् भक्ति–परम्परा का सूत्रपात हो चुका था। यह परम्परा ईसा–पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही थी, जिसमें शरणागति और समर्पण की भावना प्रबल रूप में पायी जाती थी और जो कालान्तर में दाक्षिणात्य आचार्यों द्वारा उत्तर भारत में भी लोकप्रिय बनी। वास्तव में ईस्वी सन् के प्रारम्भिक काल में ही उत्तर और दक्षिण की दोनों परम्पराओं का मिलन हो गया था, जिसका निदर्शन आडयारों तथा अडियारों के भक्ति–साहित्य में सुलभ है। इसके अन्तर्गत 'पूजा' को भक्ति का मुख्य साधन माना गया है, जिसे 'शिव' की भांति तमिल भाषा का शब्द ठहराया गया है। 'मायोन' तथा 'तिरुमाल' को भी विष्णु का पर्याय बतलाया जाता है। स्वयं 'भागवत' को भी कन्नड़ प्रदेश में रचित कहा गया है। यह ग्रन्थ मध्यकालीन भक्ति–परम्परा का मुख्य प्रेरणा–स्त्रोत बना।

भक्ति–भावना के सन्दर्भ में पंच रात्र भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। इनका मुख्य उद्देश्य भक्ति–मार्ग के साधन का निरूपण करना रहा है। संहिताओं ने देवालयों के निर्माण, उनमें आराध्य देव की प्रतिष्ठा और विधिवत पूजन–अर्चन की व्यवस्था दी थी। इससे अवतारवाद को प्रचुर प्रश्रय मिला। ईसाई मत और इस्लाम धर्म की देन के रूप में भक्ति की स्थापना बहुत पहले से ही अप्रमाणित हो चुकी है। इधर श्रमण–संस्कृति और साहित्य के आधुनिक विद्वानों ने भी परम्परा से अपना प्राचीन सम्बन्ध–सूत्र दिखलाने के यत्न किये हैं, जिन्हें किसी एक ही उत्स के भिन्न–भिन्न स्रोत समझा जा सकता है। फिर भी, इनमें रागात्मक शरणागति और समर्पण के वैसे विविधतापूर्ण भाव विकसित नहीं हो पाये जिनके दर्शन एतद् विषयक साहित्य में अन्यत्र सुलभ हैं।

हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से है जिसमें मुख्यतः भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति–आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था और उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे–धीरे लोक–प्रचलित भाषाएं भक्ति–भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गयीं और कालान्तर में भक्ति विषयक विपुल साहित्य की बाढ़ सी आ गई। परन्तु यह भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित न थी शैव, शाक्त आदि धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन सम्प्रदाय तक इस प्रवाह से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। इस काल में भक्ति परक रचनाओं की ही प्रधानता रही है। कुछ विद्वानों ने इस काल को हिन्दी साहित्य का 'स्वर्ण युग' भी कहा है। उनकी दृष्टि में हिन्दी काव्य का श्रेष्ठतम अंश इसी काल में उपलब्ध होता है। वस्तुतः निर्गुण और सगुण दो धाराओं में प्रवाहित होने वाला यह काव्य गुणवत्ता और परिमाण दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। काव्य–विधाओं के आधार पर भी इस काल को हम अन्य कालों के काव्य से अधिक समृद्ध पाते हैं। जिस समय इस काल के लिए 'स्वर्ण युग' शब्द का प्रयोग किया गया था तब उन विद्वानों के समक्ष वर्तमान युग का प्रचुर साहित्य नहीं था अर्थात् यह शब्द आज से लगभग अर्ध शताब्दी पूर्व प्रयोग में आया था और तत्कालीन सीमाओं में भक्तिकाल से श्रेष्ठ काव्य की कल्पना करना सम्भव नहीं था। इस काल में उन सन्त कवियों का स्थान है जिन्होंने एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण–निराकार ईश्वर की भक्ति का संदेश दिया। भक्तिकाल के सभी कवियों की दृष्टि सामाजिक–राजनीतिक सुधार के प्रति थी। भक्ति–साहित्य सामंत विरोधी लोक जागरण का क्रांतिकारी साहित्य है। वस्तुतः इसकी उत्पत्ति के पीछे एक ओर तो हिन्दू समाज का अपनी भीतरी विकृतियों से रुग्ण होना था तथा दूसरी ओर विधर्मियों के तलवार के बल पर धर्म प्रचार से आत्मरक्षा हेतु सचेत होना था। भक्तिकाल में हिन्दू–मुस्लिम दोनों जातियों में उदात्त मानव–मूल्यों की प्रतिष्ठा द्वारा उनके धर्म के भेद को मिटाने का प्रयत्न किया गया एवं समाज के इन दोनों महत्वपूर्ण वर्गों की विषमताओं और दुर्बलताओं पर प्रहार करके पूरे समाज को सुधारने की चेष्टा और सैद्धान्तिक स्तर पर तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था और मुसलमान शासकों की अन्यायी नीतियों के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त किया गया तथा हिंसा, दुराचार, अनाचार, सामाजिक कुरीतियों, भेदभाव और अन्धविश्वासों के प्रति भी आवाज उठाई गयी। निम्न और अछूत समझे जाने वाले भक्तों को भी भक्तिकाल में भक्तों में सम्मिलत होने की छूट मिली। युग के दवाब ने उन्हें प्रगतिशील तत्वों को अपनाने की छूट दी। भारतीय

सन्तों और सूफी कवियों ने साम्प्रदायिक सीमाओं से ऊपर उठकर हिन्दू धर्म, दर्शन, संस्कृति और साहित्य के प्रति उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया तथा ईश्वर के निराकार रूप की प्रतिष्ठा की। इस काल की दो प्रमुख शाखाओं के अन्तर्गत उत्पन्न चारों काव्यधाराओं अर्थात् सन्त, प्रेम, राम तथा कृष्ण में ईश्वर अराधना के लिए भक्ति पर समान बल दिया गया यद्यपि सन्त काव्य के प्रतिनिधि कबीर के राम निराकार है और वे ज्ञानगम्य है किन्तु भक्ति के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती, प्रेम काव्य के प्रतिनिधि जायसी ने शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत इन चारों साधनों को भगवद् भक्ति के लिए आवश्यक बताया। इसी प्रकार राम एवं कृष्ण धारा में वैधी तथा प्रेमा भक्ति का विषद चित्रण मिलता है। भक्तिकाल में ही उत्तर और दक्षिण के सन्तों के दार्शनिक और जागरुक दृष्टिकोण के अन्तर्गत तत्कालीन अव्यवस्था, अन्याय और रूढ़ियों के खिलाफ विभिन्न मतों, दार्शनिक सिद्धान्तों और मतों की भी उत्पत्ति हुई। धर्म और उसके मूलाधार की नई व्याख्या करने वालों में शंकर नाथमुनि, यमुनाचार्य, रामानुज एवं मठास्वामी प्रमुख है। उनकी नवीन धारणाओं ने सम्पूर्ण भारत में प्रचार पाया था जिसके फलस्वरूप भारत में भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार हुई तथा जिसने भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन को झकझोर कर रख दिया था। ब्राह्मण धर्म की कर्मकाण्ड पद्धतियों तथा कठोर वर्णाश्रमनीति की प्रतिक्रिया स्वरूप इन्होंने जाति–पाति और ऊंच–नीच के भेद–भाव को भी मिटा कर रख दिया। निर्गुण ब्रह्म की उपासना के साथ–साथ समाज में सगुण आदर्श को प्रस्तुत करने के पीछे भक्तिकाल में वस्तुतः समाज के नियमन की भावना चल रही थी। इसके लिए दो प्रकार के आदर्शों को प्रस्तुत किया गया। राम और कृष्ण को। दोनों को ही पूर्ण ब्रह्म का प्रतीक मान, उनके चरित्रों में लौकिक और अलौकिक शक्तियों, सम्पूर्ण उदात्त मानवीय गुणों, दूरदर्शी राजनीतिक दृष्टि, सामाजिक नियमन की अद्भुत क्षमता और लोकहित की भावना इत्यादि का समन्वय कर उन्हें आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत किया गया।

भक्तिकाल में रचित साहित्य अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कालों के साहित्य से निश्चित रूप से उत्तम है। यह साहित्य एक महती साधना और प्रेमोल्लास का संदेश है। जहां जीवन के सभी विशाद, नैराश्य और कुंठाएं धुल जाती हैं। भारतीय जनता भक्ति–साहित्य के श्रवण से उस युग में आशान्वित होकर सांत्वना प्राप्त करती रही है। आज भी उसे तृप्ति मिल रही है। भविष्य में भी यही साहित्य उसके जीवन का सम्बल बना रहेगा। भक्तिकाल में रचित साहित्य जहां उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है। वहां उसमें उच्च कोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। यह साहित्य परम भक्ति का साहित्य है, इसमें आडम्बरविहीन एवं सुचितापूर्ण सरल जीवन की सरल झांकी है। डॉ. श्याम सुन्दर दास के शब्दों में, ''जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूरदास जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तः करणों से निकल कर देश के कोने–कोने में फैली थी। उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्ति युग कहते हैं। निश्चित ही वह हिन्दी–साहित्य का स्वर्ण युग था।''

हिन्दी के कई विद्वानों का मत है कि हिन्दी साहित्य में भक्ति काल का आविर्भाव राजनीतिक पराजय का परिणाम है जबकि दूसरे कुछ विद्वान इसे एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक भावना का परिणाम मानते हैं। इनके लिए यह एक आन्दोलन है और महाआन्दोलन है जोकि भारतीय साधना के इतिहास में अप्रतिम है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू गुलाबराय ने भक्तिकाल के उद्भव अथवा आन्दोलन को पराजित मनोवृत्त का परिणाम तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया माना है। आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं, ''अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।'' बाबू गुलाबराय का मत है कि ''मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृति में दो बातें सम्भव हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग–विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्ति काल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय धर्म साधना में भक्ति का उदय कब हुआ और क्यों हुआ, इस विषय पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। पाश्चात्य विद्वान बेवर, कीथ, ग्रियर्सन तथा विलसन इत्यादि ने भक्ति को ईसाई धर्म की देन बताया है। बेवर महोदय ने महाभारत में वर्णित 'श्वेत द्वीप' का अर्थ गौरांग जातियों का निवास स्थान (यूरोप) करते हुए तथा जयन्तियां मनाने की प्रथा का सम्बन्ध ईसाईयत से स्थापित करते हुए भारतीय भक्ति भावना को ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित सिद्ध करने का प्रयास किया है। ग्रियर्सन का कहना है कि ईसा की दूसरी–तीसरी शताब्दी में कुछ ईसाई मद्रास आकर बस गए थे जिनके प्रभाव से भक्ति का विकास हुआ। प्रो. विल्सन ने भक्ति को अर्वाचीन युग की वस्तु सिद्ध करते हुए कहा कि विभिन्न आचार्यों ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान ने तो कृष्ण को क्राइस्ट का रूपान्तर कहकर अपनी कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। कुछ विद्वानों ने तो यहां तक भी कह दिया कि समूचे का समूचा भक्तिकाल अथवा इसका आन्दोलन मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क की देन है और शंकराचार्य, निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, आलवार सन्त तथा वीरशैव और लिंगायत आदि शैव सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं पर भी मुस्लिम प्रभाव है। परन्तु भारतीय विद्वानों – श्री बालगंगाधर तिलक, श्रीकृष्ण स्वामी आयंगर और डॉ. एच राय चौधरी ने पाश्चात्य विद्वानों तथा अन्य विद्वानों के उक्त मतों का खण्डन करते हुए भक्ति का मूलोद्‌गम प्राचीन भारतीय स्त्रोतों से सिद्ध किया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य में भक्ति के उदय अथवा भक्तिकाल की पृष्ठभूमि को न तो पराजित मनोवृति का परिणाम मानते हैं और न ही इसे मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया। उनका कहना है, ''यह बात अत्यन्त उपहासस्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिरों को तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार से यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उसे उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई दक्षिण में।''

भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत भक्ति के उदय, और उसकी आरम्भिक अवस्था, हिन्दी साहित्य में भक्ति–भावना का प्रस्फुटन तथा उसके ऐतिहासिक कारणों तथा इस विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मतों को जानने के साथ–साथ भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत भारत की वर्तमान परिस्थितियों को जानना भी आवश्यक है।

12.3.1 स्व–मूल्यांकन (क)

प्रिय विद्यार्थियों! अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. वैदिक युग में ––––––––– के माध्यम से धर्मानुष्ठान हुआ करते थे।
2. ––––––– के सभी कवियों की दृष्टि सामाजिक–राजनीतिक सुधार के प्रति थी।
3. भारतीय जनता भक्ति–साहित्य के ––––––– से उस युग में आशान्वित होकर सांत्वना प्राप्त करती रही है।
4. पाश्चात्य विद्वान बेवर, कीथ, ग्रियर्सन तथा विलसन इत्यादि ने भक्ति को ––––––– धर्म की देन बताया है।
5. डॉ. एच राय चौधरी ने भक्ति का मूलोद्‌गम ––––––– से सिद्ध किया है।

12.4. परिस्थितियाँ :

राजनीतिक परिस्थितियाँ – हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के इस सुदीर्घ समय को राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है (क) प्रथम भाग 1375 से 1583 सं. तक। (ख) 1583 से 1700 सं. तक। प्रथम भाग में दिल्ली पर तुगलक और लोधी वंश के शासकों ने राज्य किया और द्वितीय भाग में मुगलवंश के बाबर, हुमायूं, अकबर, जहांगीर तथा शाहजहां ने। राजनीतिक दृष्टि से प्रायः यह काल विक्षुब्ध, अशांत तथा संघर्षमय काल था।

मुहम्मद गौरी के विजित प्रदेशों पर तुर्कों की सल्तनत स्थापित हुई। बलबन, अलाउद्दीन आदि सुलतान तथा उनके सरदार साम्राज्य–विस्तार के कार्य में सफल भी हुए किन्तु उनके अशक्त उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी रक्षा न हो सकी। अलाउद्दीन खिलजी तथा तुगलक ने सतत प्रयासों से केन्द्रीय शासन को सुदृढ़ बनाकर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया किन्तु उनके आंख मूंदते ही सब कुछ चौपट हो गया। फलतः चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दियों में बहुत से मुसलमानों तथा हिन्दुओं के प्रादेशिक राज्य उठ खड़े हुए। तुर्क शासक विदेशी होते हुए भी इस देश को अपना चुके थे। उनमें कुछ की धमनियों में हिन्दू रक्त था। तुर्कों के पीछे पठानों का राज्य हुआ। उनके पूर्वज हिन्दू या बौद्ध थे। अतएवं ये लोग एक प्रकार से विदेशी नहीं रह गये थे।

1295 में अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसने मालवा और महाराष्ट्र को जीता। गुजरात जीतकर उसने राजपूताना को तीनों ओर से घेर लिया तथा रणथम्भौर, चित्तोड़, सिवाना, जालोर और भिन्नमाल आदि प्रदेश जीत लिए। इस प्रकार दक्षिण भारत में मुस्लिम शासन पहुंचा। अलाउद्दीन के मरते ही दिल्ली का शासन ढीला पड़ गया पर गयासुद्दीन तुगलक ने 1320 में उसमें फिर जान डाली। उसने बंगाल को जीतकर दक्षिण में महाराष्ट्र तथा आंध्र तक अपना राज्य स्थापित किया। कुछ काल के उपरान्त, प्रान्तीय शासकों में स्वतंत्रता की प्रवृत्ति आने लगी। दिन–प्रतिदिन कोई न कोई प्रांतीय शासक स्वतंत्रता की घोषणा करता और दिल्ली सम्राट उस पर चढ़ाई करके उसे अपने अधीन करता। मेवाड़ में हम्मीर सिसोदिया 1326 में स्वतंत्र हो गया। उन्हीं दिनों विजयनगर के हिन्दू राज्य का उदय हुआ। मथुरा और बंगाल में दिल्ली सल्तनत के सूबेदार स्वतंत्र सुलतान बन बैठे, दक्षिण में बहमनी सल्तनत की स्थापना की। फिरोज तुगलक ने इन विद्रोहों को दबाया भी किन्तु उसके उत्तराधिकारी निकम्मे और नालायक निकले और राज्य की शक्ति प्रान्तीय शासकों के हाथों में चली गई। इन्हीं दिनों दक्षिण में विजयनगर और बहमनी राज्यों में संघर्ष चलता रहा। वैसे तो तुर्क राज्य काफी खोखला हो ही चुका था किन्तु 1398 में दिल्ली राज्य तैमूर की निर्मम ठोकर को खाकर सम्भल न सका।

15वीं शताब्दी प्रान्तीय शासकों का युग है। इसमें राजस्थान में मेवाड़ की उन्नति हुई। महाराणा लाखा, चूड़ा और कुंभा के शासन काल में वह एक प्रमुख शक्ति बन गया। मालवा, गुजरात, बंगाल, जौनपुर और कश्मीर में स्वतंत्र रियासतें थीं ही। तिरहुत में कामेश्वर नामक ब्राह्मण ने हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। उसके पौत्र गणेश्वर ने उसे स्वतंत्र कर लिया। गणेश्वर का पुत्र कीर्तिसिंह और पौत्र शिवसिंह स्वतंत्र हिन्दू राजा थे। बुन्देलखण्ड में गाहड़वाल वंशज बुन्देल सरदार राज्य करने लगे। उड़ीसा में सूर्यवंशी कपिलेन्द्र ने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। बहमनी सल्तनत के टूट जाने पर उसके स्थान पर चार छोटे–छोटे राज्य कायम हो गये। 15वीं शताब्दी के मध्य में पठानों ने दिल्ली ले ली और वे बिहार तक फैल गये पर वे दिल्ली के राज्य को साम्राज्य न बना सके। 16वीं शताब्दी के मध्य में जब बाबर ने आक्रमण किया तब उस समय सभी स्वतंत्र प्रादेशिक राज्य थे। उस समय भारत में प्रमुख शासक पश्चिमी मण्डल में मेवाड़ का राणा सांगा और दक्षिण में विजयनगर का कृष्ण देव राय थे। बाबर ने 1526 में पानीपत के मैदान में युद्ध के नवीन उपकरणों के प्रयोग से इब्राहीम लोधी को पराजित किया। दिल्ली से आगे बढ़ते ही उसकी राणा

सांगा से मुठभेड़ हुई किन्तु वहां पर भाग्य ने बाबर का साथ दिया। सांगा के पश्चात राजपूतों में प्रतिरोध की शक्ति न रही पर पठानों ने हिम्मत न हारी और प्रतिरोध जारी रखा। पठान शासक शेरशाह सूरी ने साधनों के बिना हुमायूं को पूरी तरह पराजित किया। शेरशाह के समय में ही हिन्दी का अमर काव्य पद्मावत लिखा गया। शेरशाह के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले और उधर मुगलों का नेतृत्व अकबर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथ में था। हेमचन्द्र के नेतृत्व में पठानों ने पानीपत के दूसरे युद्ध में अकबर का डटकर मुकाबला किया किन्तु अन्ततोगत्वा अकबर का पलड़ा भारी रहा। दिल्ली सम्राट अकबर के सामने देश के छोटे–छोटे हिन्दू और मुसलमान राजाओं ने एक–एक कर घुटने टेक दिए। अकबर के समय में भी मेवाड़ के राणा प्रताप ने उसकी अधीनता न मानी और आजीवन लड़ता रहा। प्रताप का पुत्र अमरसिंह जहांगीर से 16 वर्ष लड़ा पर अन्त में उसने अधीनता मान ली। शाहजहां के शासन के अन्तिम दिनों में बुन्देलखण्ड में चंपतराय और महाराष्ट्र में शिवाजी की स्वतंत्रता की चेष्टाएं प्रगट हुईं।

प्रस्तुत काल के इस विस्तृत ब्यौरे से एक बात नितांत स्पष्ट है कि विदेशी आक्रांताओं के द्वारा ''आया, देखा और नष्ट कर दिया'' के समान कुछ क्षणों, घण्टों या दिनों में भारत पर आधिपत्य स्थापित नहीं हुआ बल्कि उन्हें देशी शासकों के प्रतिरोध का बुरी तरह सामना करना पड़ा। यहां के देशी शासक अन्तिम दम तक प्राणप्रण से स्वाधीनता के लिए जूझते रहे। उनमें किसी भी प्रकार की निराशामय पराजित मनोवृत्त नहीं थी और न ही उस समय का साहित्य निराशामय परिस्थितियों की उपज है।

निःसन्देह इस काल में कतिपय कट्टर तथा साम्प्रदायिक मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दी जनता पर अकथनीय अत्याचार भी ढाये गये किन्तु सभी विदेशी संकीर्ण हृदय थे, ऐसी बात नहीं। इसके साथ–साथ मुस्लिम प्रजा भी विशेष सुखी नहीं थी। धर्म के आधार पर शिया और सुन्नी लोगों में विद्वेष की आग सदा सुलगती रही। अरबी, तुर्की, ईरान तथा अफगान आदि मुसलमान आपस में सदा चलते रहते थे। शासक वर्ग में भी राज्य–लिप्सार्थ निर्मम हत्याओं का सिलसिला चलता रहा। अल्तमश के सिर पर आरामशाह का खून है। रजिया तथा नसरूद्धीन ने अपने कई भाइयों को पद से वंचित करके राज्य प्राप्त किया। रजिया और उसके प्रेमी का वध हुआ। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा और मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता की हत्या करके राज्य प्राप्त किया। अलाउद्दीन की मलिक काफूर के द्वारा मृत्यु हुई। सिकन्दर लोधी ने अपने भाई बरबक को ठिकाने लगाया। मुगल सम्राटों में शाहजादा खुर्रम को अपने कुल के बहुत से आदमियों को ठिकाने लगाना पड़ा और औरंगजेब ने राज्य–प्राप्ति के लिए क्या कुछ नहीं किया। अकबर, जहांगीर और शाहजहां के समय को छोड़कर मुस्लिम–काल का शेष सारा समय मारकाट, गृह–कलह, विदेशी आक्रमणों के आतंक तथा युद्ध का काल रहा है।

ऐसी बात भी नहीं है कि सभी मुसलमान शासक हिन्दुओं के प्रति अनुदार और असहिष्णु रहे हों। बहुत से मुस्लिम शासकों ने संस्कृत तथा देशी भाषाओं के साहित्य, संगीत और कला को प्रोत्साहन दिया। कश्मीर के जैनुलाबुद्दीन के प्रोत्साहन से जोनराज ने संस्कृत में दूसरी राजतरंगिणी लिखी। जौनपुर के सुलतानों ने शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार करवाया और संगीत शिरोमणि नामक ग्रन्थ संस्कृत में तैयार हुआ। हुसैन शाह बंगाली ने महाभारत और भागवत का बंगाली में अनुवाद करवाया। सच यह है कि अधिकांश मुसलमान शासक भारतीय थे।

इन मुसलमान शासकों के मन्त्री और सलाहकार अधिकांश हिन्दू थे। हुसैन शाह बंगाली का मन्त्री गोपीनाथ वसु था। काश्मीर के सुलतान शहाबुद्दीन के मुख्यमंत्री उदय श्री और चंद्रडामर थे। वहीं के सुलतान सिकन्दर का मंत्री सूह भट्ट ब्राह्मण था जो कि मूर्ति–पूजा का विरोधी था। उसने कई मन्दिरों की मूर्तियां तुड़वा दी थी। इस करतूत से सिकन्दर बुतषिकन के नाम से प्रसिद्ध हुआ परन्तु उसके बेटे जैनुलाबुद्दीन ने उन मन्दिरों का जीर्णाद्धार करवाया। उस समय हिन्दू शासकों के द्वारा भी साहित्य, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं को प्रोत्साहन मिला। इसमें विजयनगर

के राजाओं और मेवाड़ के राणा कुम्भा का विशिष्ट स्थान है।'' अकबर और उसके वंशजों के प्रशासन में हिन्दी को बराबर आश्रय मिलता रहा। हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी औरंगजेब ने भी अपने दरबार में हिन्दी कवियों को स्थान दिया था। सुना जाता है कि उसने स्वयं भी हिन्दी में कविता की थी।

कोई भी साहित्य परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है किन्तु भक्तिकालीन साहित्य इस बात का अपवाद है। भक्तिकाल के प्रमुख चार कवियों कबीर, जायसी, तुलसी और सूर की वर्ण्य सामग्री युग के राजनीतिक वातावरण के ठीक प्रतिकूल है। उन्हें न तो सीकरी से काम था और न प्राकृत जन गुण–गान से सरोकार था। इन भक्तों की वाणी धर्म और शांति प्रधान रही हां, कुछ एक उद्धरण इन भक्तों की वाणी में इधर–उधर बिखरे हुए अवश्य मिल जाते हैं

(क) वेद धर्म दूर गये, भूमि चोर भूप भये।
साधु सीद्यमान जान रीति पाप पीन की।।

(ख) कलि बारहि बार दुकाल परै, अन्न दुःखी सब लोग मर।

(ग) म्लेच्छनि भार दुखित मेदिनी।

पर ये उद्धरण उनकी रचनाओं के मूल विषय नहीं है।

सामाजिक परिस्थिति – चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दियों में हिन्दू–मुसलमानों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदान–प्रदान हुआ। हिन्दुओं में जात–पात और शादी–ब्याह के बन्धन कड़े हुए। एक ही परिवार के व्यक्ति कुछ हिन्दू रह जाते और कुछ मुसलमान हो जाते। उस समय तक हिन्दू–मुसलमानों के परस्पर विवाहों के उदाहरण मिल जाते हैं। काश्मीर के सुलतान शाहमीर की लड़कियों का विवाह हिन्दू सामन्तों के साथ हुआ था और उसके लड़के अल्लेशर का विवाह हिन्दू सेनापति की लड़की से हुआ था। लड़की पति का धर्म स्वीकार कर लेती थी। जांति–पांति के बन्धन अवश्य दिन–प्रतिदिन कठोर होते जा रहे थे किन्तु इनके प्रति आवाज भी उठ रही थी। रामानन्द और उनके शिष्य कबीर खुलकर इसका विरोध कर रहे थे। खान–पान के बन्धन भी शायद इतने कड़े नहीं थे। जैनराज की राजतरंगिणी में लिखा है कि ''शहाबुद्दीन और उसके मन्त्री उदय श्री और चन्द्रडामर ने एक चषक में मदिरापान किया था।'' चौदहवीं शताब्दी तक खान–पान के बन्धन इतने कड़े नहीं थे पर पीछे छूआछूत और खान–पान के बन्धन अधिक कड़े हो गए।

शेरशाह ने जमींदारी की प्रथा को उठा दिया था किन्तु मुगलों ने इस प्रथा को फिर जारी किया। मुगल दरबार के जागीरदार तथा मनसबदार बड़े समृद्ध थे। बादशाह और जागीरदारों का जीवन भोग–विलास तथा ऐश्वर्यपूर्ण था। बादशाह को प्रजा के सुख–दुख का ध्यान भी था। 1630–31 में जब गुजरात खानदेश और दक्षिण में अकाल पड़ा तो शाहजहां ने उन प्रान्तों के लगान में छूट दे दी और अनाज मुफ्त बंटवाया।

बहुतेरे हिन्दू विविध कारणों से स्वेच्छया मुसलमान बने होंगे। सभी मुसलमान बादशाह और सामन्त इस्लाम को तलवार के बल पर फैलाने के पक्ष में नहीं थे। फिरोज तुगलक, सिकन्दर बुतशिकन, अहमदशाह गुजराती, महमूद वघेड़ा और सिकन्दर लोधी जैसे धर्मान्धों के साथ ही जैनुलाबुद्दीन, हुसैनशाह बंगाली और शेरशाह जैसे उदारचरित शासक भी थे। इस काल के पूर्व तक विधर्मियों को हिन्दू बना लेने के प्रमाण भी मिलते हैं। गौरी के कैदियों का शुद्धिकरण किया गया था। चीन की ओर से अहोम लोग आकर आसाम में आ बसे थे और उनका आर्यीकरण कर लिया गया था। कहीं–कहीं हिन्दू मुसलमान कन्याओं को ब्याह लेते थे परन्तु अपना धर्म बनाए रहते थे। कदाचित् शाहजहां को इसलिए फरमान निकालना पड़ा था कि युवती को ग्रहण करने वाले हिन्दू को मुसलमान होना ही होगा। कदाचित्

इसी कारण हिन्दुओं में जाति–पांति की कट्टरता बढ़ी। उनमें पाचन शक्ति का ह्रास हुआ और उनमें कच्छप वृत्त बढ़ी। विलासी मुस्लिम अधिकारियों को सस्ती रसिकता से रक्षा पाने के लिए हिन्दू समाज में पर्दे और बाल–विवाह का प्रचलन हुआ। जहां हिन्दुओं में ऊंच–नीच का भेद आया, वहां मुसलमानों में शिया–सुन्नी की असमानता ने रंग दिखाया। कुछ मुस्लिम शासकों में रूप–लिप्सा और काम–पिपासा भी कम नहीं थी। अलाउद्दीन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। उस युग के हिन्दुओं की आर्थिक विपन्नता का चित्र खींचते हुए तारीखे फीरोजशाही के लेखक बर्नीयर ने लिखा है ''उन हिन्दुओं के पास धन संचित करने के लिए कोई साधन नहीं रह गए थे और उनमें से अधिकांश को निर्धनता, अभावों एवं आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष में जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा के रहन–सहन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था। करों का सारा भार उन्हीं पर था। राज्य–पद उनको अप्राप्य थे।'' अलाउद्दीन ने दोआब के हिन्दुओं से उपज का 50 प्रतिशत भाग कर के रूप में बड़ी कठोरता से उगाहा था।

जहां हिन्दुओं और मुसलमानों में शासित और शासक का भेद था वहां धीरे–धीरे वे एक दूसरे के प्रति उदार भी होने लगे थे। तत्कालीन वास्तु और चित्र–कला तथा धर्म और काव्य के क्षेत्र में उनमें आदान–प्रदान और समन्वय के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। मुसलमानी इमारतों और राजपूत तथा मुगल शैली के चित्रों को देखने से मुसलमान और हिन्दू–कला के घुल–मिल जाने से नवीन कला शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

धार्मिक परिस्थिति – उस समय की भारतीय धार्मिक परिस्थिति को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है (क) बौद्ध धर्म की विकृत परिस्थिति, और (ख) वैष्णव धर्म की परम्परागत परिस्थिति। इनके अतिरिक्त एक तीसरी विदेशी धार्मिक परिस्थिति ने भी भारत में स्थान बनाया जिसे हम सूफी धर्म कहते हैं।

महात्मा बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ हीनयान और महायान। हीनयान में सिद्धान्त पक्ष की दार्शनिक जटिलता थी अतः कम लोगों की आस्था उस पर टिक सकी। महायान में सिद्धान्त के स्थान पर व्यवहार पक्ष की प्रधानता थी। उसमें आचार सम्बन्धी पवित्रता को ही निर्वाण का साधन माना गया और उसमें सभी वर्गों के लोगों को सम्मिलित होने की आज्ञा मिली। हीनयान अधिक कट्टरता के कारण संकुचित होता चला गया और महायान अधिक उदारता के कारण विकृत। शंकर तथा कुमारिल भट्ट ने बौद्ध धर्म पर प्रखर प्रहार किया और वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया। सुसंस्कृत जनता शंकर धर्म के उपदेशों से आकृष्ट हुई। महायान सम्प्रदाय ने जनता के असंस्कृत वर्ग को जन्त्र–तंत्र, अभिचार तथा चमत्कारी बाजी से वशीभूत किये रखा, इसी कारण उसका नाम कालान्तर में मंत्रयान पड़ा। इसके साथ वाममार्ग भी चल रहा था जिसमें स्त्रियों को वश में करने के लिए नाना प्रकार के जन्त्र–मन्त्र, अभिचार आदि का प्रयोग किया जाता था। मंत्रयान ने वाममार्ग की मद्य, मांस, मैथुन, मुद्रा आदि अनेक मुद्राओं को अपना लिया। उसके महासुखवाद के स्थान को मुद्रा साधनो ने ले लिया। इसके लिए युगबद्धता जैसे गर्हित उपचारों का प्रयोग किया गया और नारी के प्रति वासनात्मक सम्बन्ध को साधना का आवश्यक अंग समझ लिया गया। मन्त्रयान से वज्रयान निकला और उसमें चौरासी सिद्ध दीक्षित हुए। सिद्धों ने जन्त्र–मन्त्र शैली को अपनाते हुए भी उसमें क्रान्तिमूलक परिवर्तन किए। नाथ सम्प्रदाय के सिद्धों का एक बढ़ा हुआ परिष्कृत रूप समझना चाहिए। सिद्धों और नाथों के मुख्य–मुख्य सिद्धान्त थे कर्मकाण्ड और कुछ नहीं। वर्ण व्यवस्था अनावश्यक है। मोक्ष के लिए गुरु की परम आवश्यकता है। ईश्वर एक तथा घट–घट व्यापक है। धर्म की इस दशा को लक्ष्य करके कदाचित् तुलसीदास ने कहा था ''गोरख जगायो जोग, भक्ति भगाओ भोग।''

अस्तु! सिद्धों और नाथों की मुख्य–मुख्य रूढ़ियां सन्त मत की धार्मिक भूमि बनी। सन्त–मत के पनपने का थोड़ा बहुत श्रेय इन सिद्धों और नाथों को जाता है। भक्ति की लहर दक्षिण से आई। शंकर से बहुत पहले दक्षिण देश में आलवार सन्तों में भक्ति का प्रसार एवं प्रचार हुआ। शंकर ने बौद्ध धर्म के विरोध में अद्वैतवाद का प्रचार किया। इसकी

प्रतिक्रिया में अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय चल निकले जिनमें नारायण की भक्ति पर विशेष बल दिया गया और जनता को भक्ति का स्थूल आश्रय मिला। उनमें विष्णु के अवतारों राम और कृष्ण की कल्पना हुई। रामानन्द ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोला और जन–भाषा में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इनसे पूर्व के आचार्यों ने संस्कृत में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया था और उनके उपदेश सुसंस्कृत जनता तक ही सीमित थे। रामानन्द ने तुलसी के लिए बहुत कुछ मार्ग प्रशस्त कर दिया। मन और कर्म की शुद्धता और राम जन तुलसी की भक्ति का निचोड़ कहा जा सकता है।

विष्णु के दूसरे अवतार श्रीकृष्ण की उपासना के विविध भेद और उपभेद लेकर चले हुए अनेक सम्प्रदायों ने भी इस भूभाग को काफी प्रभावित किया। महाभारत में वर्णित दृश्यों के संहारक, अधर्म विनाशक तथा धर्म–रक्षक कृष्ण का ग्रहण न करके भागवत् के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण के रूप का ग्रहण किया गया और इस रूप की आध्यात्मिक व्याख्या करके इसे अलौकिक रूप दिया गया, किन्तु, इसमें शनैःशनैः भोग प्रधान मानसिक तृप्ति के उपादानों का समावेश होता गया, अतः लोग इधर झुके। इस युग में इनके जो उद्गार निकले उनमें भक्ति की आड़ में कुछ विलासवासना छिपी रही, किन्तु आगे चलकर तो इसने कृष्ण को रसिया तथा छैला का रूप दे डाला।

इधर भारत में मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व ही इन सूफियों ने यहां इस्लामी वातावरण तैयार कर लिया था और कुछ सम्प्रदाय भी खड़े कर लिये थे। इन्होंने भारतीय अद्वैतवाद को अपने ढंग से अपनाया और प्रेम–स्वरूप निराकर ईश्वर का प्रचार किया। इन पर योग का प्रभाव भी स्पष्ट है। ये लोग इस्लाम को छोड़े बिना यहां के नाथ सम्प्रदाय तथा ऐकेश्वरवादी विचारों को अपनाते हुए समन्वय करने में अग्रसर हुए तथा हिन्दु–मुस्लिम हृदयों के अजनबीपन को मिटाया। तुलसीदास ने ''उपखान'' शब्द से कदाचित् इन्हीं की ओर संकेत किया है।

साहित्यिक परिस्थिति इस धार्मिक संघर्ष के युग में सभी विचारकों ने गद्य में अपने विचार प्रकट न करके उन्हें छन्दोबद्ध रूप दिया। संस्कृत में इस सम्बन्ध में टीकाओं, व्याख्याओं की सृष्टि होती रही। किसी नवीन मौलिक उद्भावना से काम नहीं लिया गया। सिद्धान्त प्रतिपादन तथा भक्ति प्रचार की भावना उस समय के समस्त साहित्य में काम कर रही है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे भावुक कवि भी इस मनोवृत्त से अछूते नहीं रहे।

उन दिनों हिन्दुओं का उच्च वर्ग संस्कृत में अपने उद्गारों की अभिव्यक्ति करता रहा। इधर मुगलों द्वारा फारसी को राजकाज के लिए स्वीकार किया जा चुका था। अतः फारसी में अनेक इतिहास ग्रन्थों की रचना हुई तथा प्रचुर मात्रा में कविता लिखी गई। फारसी में संस्कृत के अनेक धार्मिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। शेरशाह सूरी मुगल बादशाह और शहजादे तथा अनेक प्रादेशिक मुस्लिम शासकों के अतिरिक्त हिन्दू राजाओं तथा सम्पन्न लोगों ने हिन्दी को भी प्रोत्साहन दिया, परन्तु संस्कृत और फारसी साहित्य के समान हिन्दी को आदर नहीं मिल सका। राजस्थानी की कुछ वचनिकाओं में तथा ब्रजभाषा की वार्ताओं और टीकाओं में गद्य का भी प्रयोग हुआ किन्तु पद्य का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ और उसमें भक्ति साहित्य का अधिक निर्माण हुआ। बादशाहों तथा राजाओं के आश्रित कवियों ने प्रशस्ति, शृंगार, रीति, नीति आदि से सम्बन्धित मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनायें की। इस काल में वीर–रस प्रधान काव्य की रचना नहीं हुई उसका प्रासंगिक रूप से अन्य रसों के साथ वर्णन हुआ है।

भक्ति साहित्य में भारतीय संस्कृति और आचार–विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है। भक्ति काव्य जहां उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है वहां उसमें उच्च कोटि के काव्य के दर्शन होते हैं। इसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन–स्रोत रस है, इसका शरीर मानवीय है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य श्रेष्ठ है। यह साहित्य एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है। यह साहित्य लोक तथा परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। अतः इसे पराजित मनोवृत्त का परिणाम कहना नितांत भूल होगी।

सांस्कृतिक परिस्थिति – समन्वयात्मकता भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पुराणों में समन्वयात्मकता की प्रवृत्ति को पुनर्जाग्रत करने का प्रयास किया गया है। उनमें पूजा–उपासना और कर्मकांड में दर्शन का पुट दिया गया है। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, धर्म–शास्त्रों का सम्मान, कर्मफल में विश्वास, अवतारवाद तथा गौ और ब्राह्मण की पूजा पौराणिक धर्म की प्रमुख विशेषताएँ है जिनका अनुगुंजन सगुण भक्ति साहित्य में सर्वत्र श्रवणगोचर होता है। वादरायण द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र भिन्न–भिन्न उपनिषदों के मतों में समन्वयात्मकता लाने का प्रयास है। शंकर ने इसी पर शारीरिक भाष्य लिखा, जो कि भक्ति काल के सभी संप्रदायों और मतों का प्रेरक तत्त्व बना रहा।

मध्यकालीन धर्म साधना में पूर्ववर्ती सभी धर्म साधनाएं अपने जिस किसी रूप में बनी रहीं। शैव, शाक्त, भागवत सौर गाणपत्य जैसे प्रमुख धर्मों में ज्ञान, योगतंत्र और भक्ति की प्रवृत्तियों का समन्वय होने लगा। योग का प्रभाव उस समय इतना अधिक बढ़ा कि भक्ति, ज्ञान, और कर्म के साथ भी योग शब्द को जोड़ा जाना आवश्यक समझा जाने लगा। राम और शिव, भगवती दुर्गा और वैष्णवी में समन्वय लाने की प्रक्रिया बराबर चलती रही जिसकी प्रतिध्वनि तुलसी के रामचरित मानस में ''शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहिं सपनेहु नहिं पावा'' आदि शब्दों में पाई जाती है।

समन्वयात्मकता की उक्त प्रवृत्ति धर्म के समान मूर्ति एवं वास्तुकलाओं में भी देखी जा सकती है। एलोरा के समीप कैलास मन्दिर में शिव की मूर्ति के सिर के ऊपर बोधिवृक्ष स्थित है। चम्बा नरेश अजय पाल के शासन काल में उत्कीर्ण वरुण, ब्रह्मा और शिव के साथ बुद्ध भी है। खजुराहो से उपलब्ध कोक्कल के वैद्यनाथ मन्दिर वाले शिलालेख में ब्रह्म, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है। भक्ति आन्दोलन कदाचित् इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है।

इसी काल में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियां एक दूसरे के निकट आईं। संगीत, चित्र तथा भवन निर्माण कलाओं में दोनों संस्कृतियों के उपकरणों में समन्वय आरम्भ हो गया। दोनों जातियों के साहित्य व शैलियां यत्किचित् रूप में एक दूसरे को प्रभावित करने लगीं। इस प्रकार मध्य काल में भारत की सामाजिक संस्कृति का रूप और अधिक निखरने लगा। ताजमहल और लाल किला भारतीय तथा ईरानी वास्तुकलाओं के सम्मिश्रण के उत्तम निदर्शन है। नायक–नायिकाओं के नयनाभिराम चित्रों तथा विविध कलाओं के रूप में दोनों जातियों की चित्र कलाओं का समागम दर्शनीय है। भारतीय व ईरानी संगीत कलाओं का भी इस काल में अद्भुत मणिकांचन योग हुआ। काव्यों में भी राग–रागनियों का प्रयोग किया जाने लगा। आदि ग्रन्थ इसका उदाहरण है।

12.4.1 स्व–मूल्यांकन (ख)

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत भारत की तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन कर लिया है। अब आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक कर सकते हैं।

1. **हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से कितनें भागों में विभक्त किया जा सकता है।**

   (क) तीन (ख) दो (ग) चार (घ) पाँच

2. **अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली की गद्दी पर कब बैठा।**

   (क) 1296 (ख) 1290 (ग) 1295 (घ) 1298

3. सूर्यवंशी कपिलेन्द्र ने स्वतंत्र राज्य की स्थापना कहाँ की।

(क) मालवा (ख) बंगाल (ग) गुजरात (घ) उड़ीसा

4. कौन–सी शताब्दियों में हिन्दू–मुसलमानों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदान–प्रदान हुआ।

(क) 14वीं–15वीं (ख) 12वीं–13वीं (ग) 16वीं–17वीं (घ) 11वीं–12वीं

5. महायान सम्प्रदाय ने जनता के असंस्कृत वर्ग को जन्त्र–तंत्र, अभिचार तथा चमत्कारी बाजी से वशीभूत किये रखा

(क) संस्कृत वर्ग (ख) असंस्कृत वर्ग (ग) उच्च वर्ग (घ) निम्न वर्ग

6. शंकर ने बौद्ध धर्म के विरोध में किस वाद का प्रचार किया।

(क) द्वैताद्वैत वाद (ख) द्वैतवाद (ग) अद्वैतवाद (घ) बहुदेववाद

7. भक्ति की लहर कहाँ से आई।

(क) पूर्व (ख) पश्चिम (ग) उत्तर (घ) दक्षिण

8. भक्तिकाल में हिन्दुओं का उच्च वर्ग कौन–सी भाषा में अपने उद्‌गारों की अभिव्यक्ति करता रहा।

(क) प्राकृत (ख) अपभ्रशं (ग) संस्कृत (घ) पालि

9. ''शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहिं सपनेहु नहिं पावा'' पंक्ति तुलसी की किस रचना से ली गई है?

(क) जानकी मंगल (ख) पार्वती मंगल (ग) विनय पत्रिका (घ) रामचरित मानस

10. एलोरा के समीप कैलास मन्दिर में शिव की मूर्ति के सिर के ऊपर क्या स्थित है।

(क) राम मूर्ति (ख) बोधिवृक्ष (ग) वटवृक्ष (घ) सूर्य प्रतिमा

12.5. सांस्कृतिक चेतना और भक्ति आन्दोलन

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल सबसे सशक्त काल माना जाता है। भक्तिकाल से अभिप्राय उस काल से है जिसमें मुख्यतः भागवत धर्म के प्रचार–प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात एवं प्रवर्त्तन हुआ। जहां तक भक्ति के उदय का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि इसका आरम्भ दक्षिण भारत में हुआ परन्तु इसे उत्तर भारत में लाने का श्रेय स्वामी रामानन्द की अपेक्षा इनके गुरु को दिया जाता है। अन्य युगों की भांति भक्तिकाल में भी भक्ति काव्य के साथ–साथ अन्य प्रकार की रचनाएं भी होती रहीं परन्तु प्रधानता भक्तिपरक रचनाओं की ही रही। इसलिए भक्ति की प्रधानता के कारण चौदहवीं शती के मध्य से लेकर सत्रहवीं शती के मध्य तक के काल को भक्तिकाल कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। यह मध्यकालीन भक्ति आंदोलन भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस आंदोलन ने भारतीय जन–मानस को कई शताब्दियों तक अपने प्रभाव में बनाए रखा। केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से भी यह आंदोलन बहुत महत्वपूर्ण है। जिसने तत्कालीन भारतीय समाज और जनता को नई दिशा प्रदान की। ज्यों तो संस्कार रूप में भक्ति के बीज वेदों, उपनिषदों, गीता और पुराणों में मिलते हैं, किन्तु भक्ति की एक आन्दोलन के रूप में सारे देश में व्याप्ति इसी युग में सम्भव हुई। भले ही इस धारणा से कुछ विद्वान सहमत नहीं हैं।

डॉ. ग्रियर्सन ने भक्ति आन्दोलन को पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि इतिहास में पहली बार सारा देश भक्ति के उन्मेष से आंदोलित हो उठा और भावानात्मक एकता के सूत्र में बंध गया। डॉ. ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन की वास्तविकता और महत्ता को पहचानते हुए कहा है, 'हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आंदोलन के सामने पाते हैं जो इन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहां तक कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है क्योंकि इसका प्रभाव आज भी विद्यमान है। इस युग में धर्म, ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था।' इसीलिए आचार्य परशुराम चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ के भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से मानते हैं जिसमें मुख्यतः भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के लिए परिणामस्वरूप भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था। उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे–धीरे प्रचलित भाषाएं भक्ति भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गई और कालांतर में भक्ति विषय क विपुल साहित्य की बाढ़ सी आ गई यहां भक्ति आन्दोलन के मूल में स्थित तत्कालीन परिवेश का संक्षिप्त अध्ययन अपेक्षित है

तेरहवीं चौदहवीं शती के अन्त तक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। रासो काव्य, नाथ, पंथी साहित्य, महाराष्ट्र में उदय होती हुई निर्गुण भक्ति धारा, अमीर खुसरो का जन–मन–रंजनकारी हल्का–फुलका साहित्य और विद्यापति की शृंगारिक धारा उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में हिन्दी भाषा के माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी थी। इस समय तक सगुण भक्ति का स्वरूप हिन्दी में प्रस्फुटित नहीं हो पाया था। परन्तु जब उत्तर भारत मुस्लिम आक्रान्ताओं के निरन्तर होने वाले आक्रमणों से उद्देलित हो रहा था, उस समय निरापद दक्षिण भारत में धर्म और उसके मूलाधार (ब्रह्म) की नई व्याख्या करने के प्रयत्न चल रहे थे। शंकर, नाथमुनि, यामुनाचार्य, रामानुज, मध्वस्वामी प्रभृति दार्शनिक ब्रह्म–उपासना की परस्पर भिन्न परन्तु मूलरूप में एक, विभिन्न उपासना पद्धतियों की स्थापना करने में दत्त–चित्त थे और उनकी ये नवीन धार्मिक व्याख्याएं भारत–व्यापी प्रचार पा रही थीं। उनके इन प्रयत्नों को ही सम्पूर्ण भारत में उस भक्ति आन्दोलन को जन्म देने का श्रेय है, जिसने भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन को झकझोर कर एक नई दिशा की ओर उन्मुख कर दिया था। वस्तुतः यह नवीन चेतना जितनी धार्मिक थी, उससे अधिक सांस्कृतिक थी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक बार धर्म तो जीवन में विरोध और विद्रोह को जन्म दे सकता है परन्तु संस्कृति सदैव समन्वयकारी ही बनी रहती है और दक्षिण भारत का यह नवीन धार्मिक आन्दोलन अपनी मूल चेतना में अखिल भारतीय सांस्कृतिक नव–चेतना का ही नया रूप था और ऐसा नया रूप था जो परम्परा से प्रगाढ रूप से सम्बन्ध और नवीन सामाजिक परिवर्तनों वाली परिस्थितियों में समाज के लिए उपादेय और जन–कल्याणकारी था। भक्ति–आंदोलन में सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्तनधारा के माध्यम से हुई है। भारतीय जीवन में समय–समय पर विदेशी विजातीय तत्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं परन्तु इन्हीं से होकर ऐसी जीवनी–शक्ति का संचार भी होता रहा है भारतीय लोग इसमें से प्रत्येक स्थिति में से उभर कर आने की क्षमता रखते हैं वस्तुतः भक्ति–आन्दोलन की सांस्कृतिक चेतना भक्तिकाल में फैल चुकी विषमताओं, साम्प्रदायिकता तथा धर्म–साधनों की बाढ़ आ जाने के विरोध में नव–जीवन की प्रेरणा से भरी हुई समन्वय साधना की प्रवृत्ति को लेकर उत्पन्न हुई।

पन्द्रहवीं–सोलहवीं शती के इस भक्ति आन्दोलन के मूल में इससे कहीं पहले दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश में बौद्धों और जैनों के आंतक और अत्याचारों की प्रतिक्रिया में शैवों और वैष्णवों ने मिलकर एक धार्मिक क्रान्ति की। छठी से लेकर नौवीं शती तक वहां बौद्धों और जैनों को राज्याश्रय प्राप्त रहा। जिसका दुरुपयोग करते हुए उन्होंने शैवों और वैष्णवों का दमन किया, जिसकी व्यापक प्रतिक्रिया शैवों (नायनमारों) और वैष्णवों (आलवारों) के भक्ति आंदोलन के रूप में हुई। इस सन्तों की भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित थी। इनके उपास्य शिव और विष्णु थे। इन सन्तों ने जैनियों और बौद्धों के अपरिग्रह को भी अस्वीकार करते हुए ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत भक्ति को मुक्ति का मार्ग बताया।

ब्राह्मण धर्म की कठोर वर्णाश्रमनीति की प्रतिक्रिया स्वरूप भी इन्होंने जाति–पाति और ऊंच–नीच का भेद मिटाकर सबके लिए भक्ति का मार्ग खोल दिया। आलवार भक्ति परम्परा में दसवीं से लेकर चौदहवीं शती तक आचार्य युग माना जाता है इस युग में कुछ ऐसे विद्वान भी हुए जो तमिल के अतिरिक्त संस्कृत के भी पंडित थे। इन्हीं के प्रयत्नों और प्रभाव से दक्षिण का वैष्णव भक्ति आन्दोलन ग्यारहवीं – बारहवीं शती के बाद उत्तर भारत में फैलने लगा। आलवार भक्तों की संख्या बारह मानी जाती है। इनके तमिल नामों के साथ ही इनके संस्कृत नामों का भी उल्लेख किया गया है। यहां इनके संस्कृत नाम दिए जा रहे हैं 1. सरायोगी 2. भूतयोगी 3. महद्योगी या भ्रांतयोगी 4. भक्तिसार 5. शठकोप 6. मधुर कवि 7. कुलशेखर 8. विष्णु चित 9. गोदा भक्तिन नामक संत महिला, जिसका तमिल नाम आंडाल था। 1. भक्तांधिरेणु 11. मुनिवहन 12. परकाल। इन भक्तों का समय ईसा की प्रथम शताब्दी बल्कि इससे कुछ पूर्व से लेकर 8वीं, 9वीं शताब्दी तक आंका गया है। इन भक्तों में भक्ति का व्यवहारिक पक्ष विद्यमान है। 1.वीं –11वीं शताब्दी में आचार्य नाथमुनि हुए, जिन्होंने वैष्णवों का संगठन, मन्दिरों में कीर्तन एवं वैष्णव सिद्धातों की दार्शनिक व्याख्या तथा आलवार भक्तों के पदों का संग्रह ''दिव्य प्रबन्धम'' नाम से किया। पूरे संग्रह में पदों की संख्या लगभग चार हजार है। 'दिव्य प्रबन्धम' में विष्णु के दो अवतारों राम और कृष्ण की भक्ति की प्रधानता है। आलवार अथवा वैष्णव भक्तों के कारण ही दक्षिण का जो वैष्णव भक्ति आन्दोलन उत्तर भारत में फैला डॉ. मलिक मोहम्मद ने इन दोनों के कारणों की समता पर प्रकाश डालते हुए कहा है। ''जिन परिस्थितियों ने तमिल प्रदेश में वैष्णव भक्ति आन्दोलन को (आलवारों के द्वारा) जन्म दिया लगभग वे ही परिस्थितियां तेरहवीं–चौदहवीं शताब्दियों में हिन्दी प्रदेश में विद्यमान थीं, हां, उत्तर की परिस्थितियों में एक बात और थी और वह थी मुसलमान विदेशी शासकों की धर्मांधता और इस्लाम के प्रचार के हेतु उनके द्वारा अपनाई गई क्रूर धार्मिक नीति। अन्य सभी बातें लगभग वही थीं, जो तमिल प्रदेश के भक्ति आंदोलन को जन्म देने के लिए कारणभूत थी ठीक ही यह इतिहास का दुहराना हुआ है।''

इसके साथ ही आठवीं–नवीं सदी में दार्शनिक स्तर पर बौद्ध विचारों से टकराने की भूमिका शंकराचार्य ने निभाई। उन्होंने बौद्धों के प्रभाव को घटाने तथा वेदों और ब्राह्मणों की महत्ता स्थापित करने के लिए अपने दार्शनिक चिंतन में अद्धैतवाद के सिद्धांत पर जोर दिया। वस्तुतः बौद्धों की नास्तिकता, भोगवाद और मीमांसक हिन्दुओं के कर्मकाण्ड की जड़े काटने के लिए आचार्य शंकर ने माया के सिद्धांत का सहारा लेकर जगत को मिथ्या ठहराया और वैराग्यमूलक, निवृत्तमार्ग सन्यास मार्ग का प्रवर्त्तन किया। आचार्य युग के आचार्यों–नाथमुनि, यमुनाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी और निंबार्कचार्य ने शंकर अद्वैत के मूल तत्त्व आत्मा–परमात्मा की एकता को ग्रहण करते हुए भी उनके मायावाद और जगत के मिथ्यात्व के सिद्धान्त का खण्डन किया। इन सभी आचार्यों ने ब्रह्म के समान ही जीव और जगत को भी सत् बतलाया और इस प्रकार शंकर के निवृत्तमार्गी चिंतन के स्थान पर प्रवृत्ति मार्गी चिंतन को प्रश्रय दिया। यही आशामूलक दृष्टि उस समय की निराशामूलक परिस्थितियों का स्वाभाविक मार्ग थी। आचार्यों ने निर्गुण की सत्ता और महत्ता को स्वीकारते हुए ब्रह्म के सगुण रूप को विशेष गौरव प्रदान किया तथा ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को बढ़कर माना।

इस प्रकार 10वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन ने बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म पर तो विजय प्राप्त कर ली। परन्तु आगे चलकर दक्षिण भारत का भक्ति आंदोलन धीरे–धीरे अपना उन्मुक्त और समतावादी चरित्र खोने लगा। सन्तों द्वारा जातिगत प्रतिबंध की उपेक्षा करने के बावजूद जाति–व्यवस्था और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती नहीं दी गई। मन्दिरों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। वृहत अनुष्ठान एवं कर्मकाण्ड की अधिकता होने लगी। इन अनुष्ठानों एवं कर्मकाण्ड के माध्यम से ब्राह्मणों की जो शक्ति बढ़ गई, उसे सुधारने के लिए दक्षिण की वैष्णव आचार्य परम्परा में सर्वप्रथम रामानुजाचार्य ने प्रयास किया। रामानुज (सन् 1107–1137 ई) ने शंकर के मायावाद के खंडन तथा प्रवृत्ति मार्गी, आस्थामूलक सगुणोपासना की स्थापना के लिए श्री सम्प्रदाय के अंतर्गत विशिष्टताद्वैतवादी दर्शन की स्थापना

की। नयनाट और आलवार सन्त पुस्तकीय ज्ञान की उपेक्षा करते थे, जबकि रामानुजाचार्य ने भक्ति को वेदों की परम्परा के साथ जोड़ने का प्रयास किया। आलवारों की भक्ति रामानुज के यहां दार्शनिक आधार पाकर नए युग की चुनौतियों का मुकाबला करने में सक्षम हुई। भक्ति आंदोलन के इस विकास क्रम में शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन और विरोध करने वाले कई वैष्णव सम्प्रदाय उत्पन्न हुए जिनमें आस्थामूलक सगुणोपासना की स्थापना के लिए रामानुज के बाद श्री मध्वाचार्य ने ब्रह्म सम्प्रदाय के अंतर्गत द्वैतवाद का प्रवर्त्तन किया। मध्वाचार्य ने शंकर के मायावाद का खण्डन करते हुए विष्णु की भक्ति का प्रचार किया जिससे भक्तिपथ निष्कंटक हुआ। इस परम्परा में आगे चैतन्य सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक महाप्रभु चैतन्य हुए जो माध्व सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इसके पश्चात शुद्धाद्वैतवादी दर्शन का विकास इस सम्प्रदाय के विष्णु गोस्वामी से ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु इसके वास्तविक प्रवर्त्तक तेलुगु ब्राह्मण वल्लभाचार्य (सन् 1479–1530) थे जिन्होंने इसका भक्ति–सम्प्रदाय 'पुष्टि मार्ग' चलाया। इसके पश्चात तेलगु ब्राह्मण निम्बार्क (ग्यारहवीं–बारहवीं शती) ने सनक अथवा निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया। इस सम्प्रदाय के दार्शनिक मत का नाम द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद वाद है। इन सभी आचार्यों ने 'दिव्य प्रबन्धम' से तो प्रेरणा ली ही, साथ में श्रीमद भागवत, गीता, उपनिषद और ब्रह्मसूत्र को भी अपने चिंतन का आधार बनाया।

दक्षिण भारत के उक्त सभी आचार्यों ने उत्तर भारत की यात्राएं की और ब्रज प्रदेश को अपने धर्मप्रचार का केन्द्र बनाया। इनमें कृष्ण भक्ति की उत्तर भारत में पताका फहराने का सबसे अधिक श्रेय आचार्य वल्लभाचार्य को है। इनकी मृत्यु के उपरांत इनके कार्य को इनके पुत्र विट्ठलनाथ (सन् 1515–1581) ने आगे बढ़ाया। उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति की धारा को प्रवाहित करने वाले सम्प्रदायों में राधावल्ल सम्प्रदाय का विशेष योगदान है जिसके प्रवर्त्तक गोस्वामी हित हरिवंश जी (सन 1502–1552 ई.) थे। इसके अतिरिक्त हरिदास स्वामी (सन् 1490–1575 ई.) द्वारा चलाए गए हरिदासी या सखी सम्प्रदाय ने भी कृष्ण भक्ति के प्रसार में योग दिया।

उत्तर और दक्षिण भारत की भक्ति परम्पराओं, और सांस्कृतिक चेतना से जुड़े हुए इस आन्दोलन में सम्बन्ध सेतु का काम करने वाले आचार्य स्वामी रामानन्द (सन् 1299–1410) थे, जिन्होंने रामभक्ति के प्रचार के लिए, रामावत सम्प्रदाय की स्थापना की। रामानन्द के गुरु राघवानंद थे जोकि रामानुज के शिष्य थे। रामानन्द एक ओर रामानुज के श्री सम्प्रदाय की तेन्कलै शाखा से जुड़े थे तो दूसरी ओर उत्तर भारत के नाथों की योग साधना से। डॉ. पीतांबरदत्त बडथ्वाल के अनुसार रामानन्द के गुरु राघवानन्द पर भी योगी नाथों का प्रभाव था। वे कहते हैं, ''राघवानन्द बाहर से रामानुज सम्प्रदाय में होते हुए भी वस्तुतः इन्हीं योगी–नाथों के उत्तराधिकारी हैं और उनसे पाई हुई सामग्री को उन्होंने रामानंद को दिया। यही कारण है कि उनकी शिष्य परम्परा में एक ओर कबीर आते हैं, जिन पर योगियों की परम्परा का प्रचुर प्रभाव है और दूसरी ओर उनकी प्रभाव परम्परा में तुलसीदास आते हैं, जिनमें दक्षिण भारत की प्रपतिमूलक रामभक्ति की प्रधानता है।'' रामानन्द एक क्रांतिकारी महापुरुष थे। उन्होंने भक्ति को जनतान्त्रिक रूप प्रदान किया। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की भक्ति का उपदेश उन्होंने दिया। यही कारण है कि उनके पांच सौ से भी अधिक शिष्य सारे उत्तर भारत में फैले थे और घर–घर में राम मंत्र का निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में प्रचार कर रहे थे। संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी इन्होंने अपनी शिक्षाएं और उपदेश लोकभाषा में ही दिए। यही इनकी विशिष्टता एवं विलक्षणता है।

भक्ति आन्दोलन एवं इसकी सांस्कृतिक चेतना के विकास में रामानन्द की भांति ही उत्तर और दक्षिण की साधना–पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने का श्रेय मराठी संत ज्ञानेश्वर (1275–1296 ई.) तथा नामदेव (सन् 1270–1350 ई.) को है। इनके द्वारा चलाए गए बारकारी सम्प्रदाय का सम्बन्ध दक्षिण भारत में विष्णु स्वामी द्वारा शुरू किए गए विष्णु स्वामी सम्प्रदाय से माना जाता है।

भक्ति आंदोलन के इन विभिन्न आचार्यों, सम्प्रदायों, सिद्धान्तों एवं दार्शनिकताओं के कारण ही भक्तिकाल में संत काव्य परम्परा, सूफी कवियों की प्रेमाख्यान परम्परा, रामभक्ति परम्परा तथा कृष्ण भक्ति परम्परा के रूप में चार परम्पराएं चलती रहीं। निर्गुणोपासकों के राम निर्गुण होने के नाते घट–घट वासी हैं। इसीलिए वे सभी की सत्–शक्तियां और सत्–क्रियाओं के मूल स्रोत हैं तो सगुणोपासकों के राम अपनी सारी शक्ति राक्षसों, म्लेच्छों, अत्याचारियों के दमन में लगाते हुए प्रतीत होते हैं और लोकरक्षण का विश्वास जगाते हैं। इस प्रकार संतों ने हिंदुओं तथा मुसलमानों को सद्भावना और सदाचार के सोपान पर समान रूप से खड़ा कर दिया। भक्तिकालीन संतों का महत्त्व पूर्ण उद्देश्य सम्प्रदाय निरपेक्षता और भावात्मक एकता रहा। इस दिशा में एक ओर सन्तों ने प्रयत्न किए तो दूसरी ओर सूफी साधकों ने। भिन्नता के बावजूद इन चारों में कई सामान्य प्रवृत्तियां भी प्राप्त होती रही क्योंकि सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन का स्वर मानव मात्र की समानता की घोषणा करने वाला रहा है। इस भक्ति आन्दोलन ने धर्म को एक विशेष वर्ग की सम्पित्त न मानकर उसे सभी की सम्पत्ति माना था। ईश्वर की निर्गुण भक्ति को भी मोक्ष का आधार माना गया तथा सगुण भक्ति के आधार को भी। दोनों को मिला कर ईश्वर की उपासना की गई। समस्त भारत में हमें भक्ति–आन्दोलन के जो रूप मिलते हैं एक प्रबुद्ध विचारकों द्वारा प्रचारित रूप दूसरा अशिक्षित, निम्नवर्गीय साधकों द्वारा स्थापित रूप। प्रबुद्ध चिन्तकों द्वारा आरम्भ किया गया भक्ति–आंदोलन समस्त भारत में फैल गया था और इस आन्दोलन ने विभिन्न मतों, धर्मों, सम्प्रदायों में विभक्त भारतीय जन को पुनः एक सूत्र में बांध दिया था, यही इस भक्ति आंदोलन की चरम सामाजिक और सांस्कृतिक उपलब्धि थी। बौद्ध धर्म के परवर्ती सिद्ध साधकों ने दूसरे रूप को जन्म दिया था। इस रूप में सामाजिक अन्याय के प्रति विरोध का उग्र और तीखा स्वर तो अवश्य रहा। परन्तु ये सिद्ध गण धर्म या भक्ति का कोई ऐसा सुचिन्तित स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके जो समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्रभावित कर पाता। कारण यह था कि ये लोग अशिक्षित थे और अशिक्षित होने के कारण तर्क या आस्था का अवलम्ब न ग्रहण कर चमत्कारों द्वारा ही समाज को प्रभावित करने का प्रयत्न करते रहते थे।

भक्ति आंदोलन ने समाज में ईश्वर विश्वास और आस्था के माध्यम से आत्मविश्वास और निर्भयता का संचार किया। साथ ही ज्ञान, सत्कर्म, सत्संकल्प, सदाचार और आदि मूल्यों की प्रतिष्ठा द्वारा सुदृढ़ सामाजिक संगठन की नींव डाली। युग के यथार्थ से टकरा कर भारतीय मनीषा इस युग में चिंतन, भावना और कल्पना की ऊंचाइयों का स्पर्श कर सकी। भगवान की महिमा की भावना से भक्तों ने आत्मगौरव या मानव महिमा का साक्षात्कार किया। भक्ति आंदोलन को आचार्य शुक्ल ने सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं इतिहास दृष्टि के कारण इसका सम्बन्ध जनता के प्रतिरोध से जोड़ा था। लेखक की स्पष्ट धारणा है कि दक्षिण में रामदास स्वामी ने लोक धर्माश्रित भक्ति का संचार करके महाराष्ट्र में भक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिक्खों ने भी लोकधर्म का आश्रय लिया और सिक्ख शक्ति का भी प्रादुर्भाव हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा का भक्ति आंदोलन को जातीय आंदोलन मानना न्यायोचित है क्योंकि इस आन्दोलन में सन्तों ने जातिगत धर्म से ऊपर उठकर ईश्वर के प्रेम–स्वरूप का प्रचार किया तथा हिन्दू–मुस्लिम दोनों के हृदयों के अजनबीपन को मिटाया जिससे सांस्कृतिक द्वन्द्व के उपरान्त सांस्कृतिक समन्वय स्थापित हुआ।

12.5.1 स्व–मूल्यांकन (ग)

प्रिय विद्यार्थियों! निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर (✓ / X) सही या गलत चिह्न द्वारा देकर आप सांस्कृतिक चेतना और भक्ति आन्दोलन के ज्ञान का स्व–मूल्यांकन कर सकते हैं।

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल सबसे सशक्त काल माना जाता है। ( )
2. भक्तिकाल में मात्र भक्ति काव्य की रचनाएं प्राप्त होती हैं। ( )

3. डॉ. ग्रियर्सन ने भक्ति आन्दोलन को पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण स्वीकार किया है। ( )

4. बारकारी सम्प्रदाय का सम्बन्ध रामावत सम्प्रदाय से माना जाता है। ( )

5. निर्गुणोपासकों के राम सगुण होने के नाते घट–घट वासी हैं। ( )

6. भक्ति आंदोलन ने समाज में ईश्वर विश्वास और आस्था के माध्यम से आत्मविश्वास और निर्भयता का संचार किया। ( )

12.6. सारांश :

यहां भक्ति आंदोलन के स्वरूप पर विचार करते समय कुछ बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वस्तुतः कोई भी आन्दोलन समाज से निरपेक्ष नहीं हो सकता। भक्ति उस युग की मांग ही नहीं, लोक जागरण का आधार भी थी। यही कारण है कि भक्ति आन्दोलन को आज सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने पर बल दिया जाता है। इसलिए भक्ति आंदोलन के उद्भव के पीछे जो विभिन्न प्रकार के कारण दिये जाते हैं वह खोखले और निरर्थक साबित हो चुके हैं क्योंकि यह आन्दोलन अपने समय की सहज और स्वाभाविक उपज है जो तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार जन्मी। इसके सारे मूल तत्त्व इसी जमीन पर विद्यमान थे जैसे दक्षिण भारत में तो यह भक्ति की अजस्र धारा प्रबल वेग से बह रही थी, किन्तु उत्तर भारत में भी पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था। गहड़वार राजाओं के समय उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त धर्मावलम्बी था। सगुण भक्ति के आवश्यक उपकरण–वैयक्तितक सम्बन्ध का ईश्वर के प्रति होना तथा अवतारवाद पर विश्वास की भावनाएं इस प्रदेश की जनता में बद्धमूल थी। अतः भक्ति का बिरवा ऐसा नहीं है जोकि विदेश से लाया गया हो अथवा विधर्मियों द्वारा इसका सिंचन और पल्लवन हुआ हो। न तो यह निराशा–प्रवृत्ति जन्य है और न ही किसी प्रतिक्रिया का फल। वस्तुतः यह एक प्राचीन दर्शन–प्रवाह और प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की एक अविच्छिन्न धारा है। इस धारा का प्रस्फुटन आकस्मिक नहीं, इसके लिए तो सुदीर्घ काल से सहस्रों मेघ खण्ड एकत्रित हो चुके थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस भक्ति आन्दोलन के साहित्य के विषय में लिखते हैं, ''समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। वस्तुतः भक्ति युग का आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन है, जो सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी नहीं देखा है। यहां तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलनों से भी अधिक व्यापक और विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी विद्यमान है।''

12.7 कठिन शब्द

1. अनुरक्ति – अति अनुराग
2. सुदृढ़ – अति मजबूत
3. धर्मानुष्ठान – धार्मिक कार्य
4. सार्वभौम – संपूर्ण भूमि से संबंध रखने वाला
5. उत्स – स्रोत
6. प्रतिरोध – विरोध
7. जीर्णोद्धार – सुधार
8. महानिर्वाण – मोक्ष

12.8. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. भक्ति काल की ऐतिहासक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

2. भक्तिकाल की परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

3. भक्तिकाल की सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण कीजिए।

4. भक्ति–आन्दोलन की पृष्ठभूमि के पीछे क्या कारण थे। इस पर सविस्तार प्रकाश डालिए।

12.9. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड 2. भक्तिकाल 3. श्रवण 4. ईसाई धर्म 5. प्राचीन भारतीय स्त्रोतों

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. दो 2. 1295 3. उड़ीसा 4. 14वीं–15वीं 5. असंस्कृत वर्ग 6. अद्वैतवाद 7. दक्षिण 8. संस्कृत 9. रामचरित मानस 10. बोधिवृक्ष

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. सही 2. गलत 3. सही 4. गलत 5. गलत 6. सही

12.10. पठनीय पुस्तकें :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

निर्गुण काव्य की विशेषताएँ

रूपरेखा

13.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
13.2. प्रस्तावना
13.3. निर्गुण शाखा
13.3.1. स्व–मूल्यांकन (क)
13.4. निर्गुण काव्य की विशेषताएँ
13.4.1 स्व–मूल्यांकन (ख)
13.5. सारांश
13.6. कठिन शब्द
13.7. अभ्यासार्थ प्रश्न
13.8. उत्तर कुंजी
13.9. पठनीय पुस्तकें

13.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम :

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय का उद्देश्य आपको भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के काव्य की विशेषताओं से अवगत करवाना है।

इस अध्याय का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात आप भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के काव्य की विशेषताओं से पूर्ण परिचित होंगे।

13.2. प्रस्तावना :

प्रिय विद्यार्थियों! पूर्व अध्याय में आपने हिन्दी साहित्य के सबसे वृहद् काल भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विस्तृत अध्ययन कर लिया है। अब इस अध्याय में आप भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के काव्य की विशेषताओं का अध्ययन करें।

13.3. निर्गुण शाखा :

'निर्गुण' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'गुण रहित' है तथा 'गुण' का अर्थ है विशेषण या लक्षण। इसलिए जिस ब्रह्मा का निरूपण किसी विशेषण या लक्षण द्वारा न किया जा सके वह निर्गुण है। उपनिषदों में ऐसे ब्रह्मा को 'नेति–नेति' अर्थात् 'वह ऐसा नहीं है' कहा गया है। वह गुणातीत है। प्रकृति में सत्व, रज, और तप ये तीन गुण हैं। किन्तु निर्गुण ब्रह्म इन तीनों प्राकृतिक गुणों से रहित है जैसे

''निर्गुण सत्वरजस्तमांसि गुणाः तैः वर्जितः''

अर्थात सत, रज और तम जो गुण है, उनमें वर्जित निर्गुण है।

निर्गुण ब्रह्म निराकार, अलक्ष्य, द्वैताद्वैत विलक्षण, एवं सत्व, रजस और तमस तीनों गुणों से परे है, फिर भी घट–घट में समाया हुआ है। इसे अपनी भक्ति का आलम्बन बनाना बहुत कठिन है। यह निर्गुण 'ब्रह्मा' अनुभूति का विषय है और प्रेम से प्राप्य है। यही निर्गुण 'ब्रह्म' तद्युगीन सामाजिक विसंगतियों और विषमताग्रस्त समाज को ऐक्य की अनुभूति कराने का सशक्त माध्यम बना। 'निर्गुण' भावना से भावित है। अरूप होकर भी सभी रूपों में विद्यमान है। आदि और अन्त से रहित है, फिर भी पिंड और ब्रह्मांड सभी में व्याप्त है। देश –काल से परे है। जिसके स्वरूप का वर्णन करने में वाणी असमर्थ हो जाती है अर्थात जो गूंगे के गुड़ के समान अनुभूति का विषय है, रंग, रूप, रेखा से परे है, घट–घट का निवासी होने पर भी इन्द्रियों से परे है। निर्गुण काव्य में यह शब्द साहित्य का द्योतक न होकर गुणातीत की ओर संकेत करता है तथा किसी निषेधात्मक सत्ता को व्यक्त न करते हुए परब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। निर्गुण के स्वरूप के विषय में कबीर जी की ये पंक्तियां दृष्टव्य हैं

सतों, धोखा कासूं कहिये।
गुन में निरगुन, निरगुन में गुन, बाट छाँड़ि क्यूँ बहिये।
अजर–अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाइ।
नाति–स्वरूप–वरण नींह जाके घटि–घटि रह्यो समाइ।
प्यंड–ब्रह्मांड कथै सब कोई वाके आदि अरु अंत न होइ।
प्यंड–ब्रह्मांड छांडि जे कीहयै कहै कबीर हरि सोइ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'निर्गुण' शब्द को 'ब्रह्मा' का पर्याय माना है। अव्यक्त, निराकार, अरूप यह 'निर्गुण' अनुभूति का विषय है और प्रेम से प्राप्य है। जो भक्तिकाल में निर्मित साहित्य के अन्तर्गत मनुष्य–जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। तीन सौ वर्ष के लम्बे समय में प्रवाहित होती हुई भक्ति–भावना एक रूप में प्रवाहित नहीं हो सकती थी। प्राचीन परम्परा के परिणाम–स्वरूप भक्ति–भावना दक्षिण भारत में चल रही थी। जब वह उत्तर भारत में आई तो उस पर मुसलमानों के बस जाने के परिणाम–स्वरूप एक ऐसे धर्म की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, जो दोनों वर्गों को समान रूप से ग्राह्य हो सके। इसलिए हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के एकेश्वरवाद को मिला कर भक्ति के क्षेत्र में 'निर्गुण भक्तिधारा' का प्रारम्भ हुआ। इसके अनुसार भगवान् निर्गुण है, निराकार है, उसकी प्राप्ति के लिए आचरणों की आवश्यकता नहीं, बल्कि अन्तः साधना की आवश्यकता है। निर्गुण काव्य धारा के कवियों में उन कवियों का स्थान है, जिन्होंने एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण–निराकार ईश्वर की भक्ति का संदेश दिया। सामाजिक स्तर पर इन कवियों ने पाखण्ड के विरोध एवं हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल दिया। निर्गुण काव्यधारा के कवियों द्वारा तत्कालीन समाज में एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति का उदय हुआ। इन कवियों के पास धर्म, दर्शन, भक्ति और चरित्र–निर्माण के लिए अपना निजी संदेश था। ये धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता के भी घोर विरोधी थे। निर्गुण कवियों में समन्वय–दृष्टि का स्वस्थ रूप से विकास हुआ था। कबीर, दादू, हरिदास, जायसी, मुल्ला दाऊद इत्यादि कवियों ने जिस रूप में अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनका आधार कोई एक विचारधारा या मतवाद नहीं है। अद्वैतवाद, वैष्णवों की भक्ति–भावना, सिद्धों–नाथों की सहज–सरल साधना आदि की पद्धति का इनके द्वारा किया गया समन्वय सर्वजन सुलभ था। कविता के माध्यम से इन्होंने जो कुछ लिखा, उसे साधारण और सहज भाषा में प्रस्तुत किया जोकि जनभाषा के रूप में इस्तेमाल होती थी। आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न निर्गुण धारा के इन कवियों में ज्ञानमार्गी कवियों ने अपने काव्य में जहाँ पर तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों और मिथ्या आडम्बरों पर प्रहार करते हुए ईश्वर के निर्गुण रूप की सत्ता को प्रतिष्ठापित किया। वहीं पर प्रेम मार्गी कवियों ने अपने काव्य में हिन्दू जनता में प्रचलित कथाओं के आधार पर अपने काव्य की रचना करते हुए ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया।

इस प्रकार भक्ति की दो प्रमुख धाराएं हो गईं (1) निर्गुण भक्तिधारा (2) सगुण भक्तिधारा

निर्गुण भक्तिधारा आगे चल कर दो उपशाखाओं में बंट गई (1) ज्ञानमार्गी शाखा और (2) प्रेममार्गी शाखा।

इन्हें विद्वान् क्रमशः सन्त काव्यधारा और सूफी प्रेम काव्य धारा का नाम देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सन्त काव्य को "निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा" का नाम देते हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी इस शाखा को निर्गुण भक्ति साहित्य कहते हैं। डॉ. राम कुमार वर्मा इसे 'सन्त काव्य परम्परा' का नाम देते हैं।

13.3.1. स्व–मूल्यांकन (क)

प्रिय विद्यार्थियों! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें।

1. निर्गुण ब्रह्म सत, रज और तम तीनों प्राकृतिक गुणों से युक्त है। ( )
2. निर्गुण 'ब्रह्मा' अनुभूति का विषय है और प्रेम से प्राप्य है। ( )
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'निर्गुण' शब्द को 'ब्रह्मा' का पर्याय माना है। ( )
4. हिन्दुओं के एकेश्वरवाद और मुसलमानों के अद्वैतवाद को मिलाकर भक्ति के क्षेत्र में 'निर्गुण भक्तिधारा' का प्रारम्भ हुआ। ( )
5. सामाजिक स्तर पर निर्गुण कवियों ने पाखण्ड के विरोध एवं हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल नहीं दिया। ( )
6. निर्गुण कवि धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता के भी घोर विरोधी थे। ( )
7. प्रेम मार्गी कवियों ने अपने काव्य में हिन्दू जनता में प्रचलित कथाओं के आधार पर अपने काव्य की रचना की। ( )
8. ज्ञानमार्गी कवियों ने अपने काव्य में तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों और मिथ्या आडम्बरों पर प्रहार किया। ( )

13.4. निर्गुण काव्य की विशेषताएँ :

भक्तिकाल की निर्गुण शाखा में सन्त काव्य और सूफी काव्य दोनों धाराएँ शामिल होती हैं। इनका विस्तारपूर्वक पृथक्–पृथक् अध्ययन हम अगले दो अध्यायों में करेंगे। यहाँ पर दोनों में पाई जाने वाली समान प्रवृत्तियों की चर्चा की जाएगी। निसन्देह भक्तिकाल में निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं के परस्पर भिन्न मत, विश्वास, विचार और मान्यताएँ थीं। परन्तु उनकी मतों, विचारों और मान्यताओं में पाई जाने वाली समान प्रवृत्तियों का परिचय इस प्रकार है

1. **भक्ति की प्रधानताः**– निर्गुण काव्य में अर्थात् सन्त और सूफी काव्य में ईश्वराराधन के लिए भक्ति पर समान बल दिया गया है। यद्यपि कबीर के ईश्वर निराकार है और वे ज्ञानगम्य हैं किन्तु भक्ति के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। भक्ति ज्ञान का प्रमुख साधन है 'हरि भक्ति जाने बिना बुड़ि मुआ संसार' जायसी ने शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत इन चारों साधनों को भगवद्शक्ति के लिए आवश्यक बताया है।
2. **अहंकार का त्यागः**– निर्गुण काव्य में ईश्वर प्राप्ति के लिए अहं के त्याग को भी आवश्यक माना गया। कबीर का कहना है कि मान और प्रेम परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। कबीर के शब्दों में–

पिया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान
इक म्यान में दुई खड्ग देखी सुनी न कान।

इसी प्रकार जायसी ने भी अहं को त्यागे बिना ईश्वर प्राप्ति को सम्भव नहीं माना।

3. **नाम की महिमाः**— निर्गुण सन्तों, साधकों ने समान कीर्तन, भजन तथा नाम स्मरण को समान रूप से महत्व दिया है। जायसी स्मरण की महत्ता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि सुमिरो आदि इक करतारु जेहि जिउ दीन्हे कीन्ह संसारु''। कबीर ने नाम के महत्व को अनेकत्र स्वीकार किया है

निर्गुण नाम जपहु रे भाई।
अविगत की गति लखि न जाई।।

4. **गुरु की महिमाः**— निर्गुण काव्य में गुरु महिमा का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है जहां पर कबीर ने गुरु को गोविन्द से बड़ा बताया है

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागू पाय
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो दिखाय
वहाँ पर जायसी का कहना है
बिन—गुरु जगत का निरगुन पावा

इन सन्तों, साधकों को गुरु के बिना अपना जीवन अन्धकारमय लगता है। ये मानते हैं कि गुरु के बिना जीव की गति सम्भव नहीं है, गुरु ही है जो मनुष्य के ज्ञान चक्षु खोलकर उसके हृदय के अन्धकार को दूर कर सकता है तथा पग—पग पर उसका मार्गदर्शन कराने वाला प्रत्यक्ष ब्रह्म भी है।

5. **बहुजन हितायः**— निर्गुण काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता बहुजन हित संपादन रहा है। भक्ति की शाखाओं में सदाचार तथा नैतिक भावना पर यथेष्ट बल दिया गया। अनु वाश्रयी निर्गुण साहित्य व्यक्तिगत उत्कर्ष के साथ निरन्तर आध्यात्मिक प्रेरणा देता रहा है। निर्गुण काव्य ने सदाचार, नैतिक भावना तथा वैयक्तिक अभ्युत्थान के साथ तत्कालीन जनता के लिए आत्मनिरीक्षण तथा परिस्थिति परीक्षण का अवसर प्रदान किया। निर्गुण काव्य ने बिना किसी वर्ग भेद के जन सामान्य के लिए श्रेय एवं प्रेय का मार्ग उद्घाटित किया। समूचे निर्गुण काव्य ने भेद भाव को कम कर समन्वयात्मकता को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया।

6. **समन्वयात्मकताः**— निर्गुण काव्य की एक बड़ी प्रवृत्ति समन्वयात्मकता है। सन्तों की वाणी में यद्यपि चुनौती भरी कड़वाहट है किन्तु उनका अन्तिम उद्देश्य वर्गभेद मिटाकर समन्वयात्मकता ही लाना है। सन्तों की इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति के समान ही सूफी मत में भी इस प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया गया है। सहिष्णु समन्वय का आवश्यक उपबन्ध भारतीय परम्परा के अनुसार सन्त काव्य में जहां इष्ट देव को प्रियतम कहा गया है वहाँ सूफी काव्यों में उस पर प्रियतमा का आरोप लगाया गया है। इस प्रकार दोनों मतों में धार्मिक सांप्रदायिकता का स्तर उत्तरोत्तर क्षीण प्रायः हो गया। निर्गुण काव्य में बहुधा उनके रचयिताओं का नामोल्लेख समन्वयात्मक सहिष्णुता का उपलक्षक है। भले ही इस के और भी अनेक कारण हों।

7. **लोक भाषाओं की प्रधानताः**— निर्गुण काव्य की सर्वमहती विशेषता लोक भाषाओं को प्रश्रय देना भी है। सभी निर्गुण सन्तों ने अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के सक्षम माध्यम के रूप में प्रचलित भाषा के विभिन्न रूपों का सफल प्रयोग किया। कबीर आदि सन्त कवियों ने सधुक्कड़ी भाषा के माध्यम से अपना संदेश जन

सामान्य तक पहुंचाया। जायसी इत्यादि कवियों के प्रेम काव्यों में लोक प्रचलित अवधी का प्रयोग हुआ। वर्ण्य विषय को जन सामान्य तक पहुंचा कर उसे लोकप्रिय बनाने के लिए निर्गुण कवियों द्वारा किया गया जन–भाषाओं का उपयोग अतीव उपयोगी और हितकर सिद्ध हुआ। उक्त काव्य में लोकगीतों और लोककथाओं को यथेष्ट सम्मान मिला। लोकपरिचित दृष्टान्तों, रूपकों, प्रतीकों तथा लोकोक्तियों का यथायोग्य प्रयोग किया गया। इस प्रकार अपनी–अपनी अनुभूतियों को जनमानस तक पहुंचाने के लिए लोक–प्रचलित भाषा शैली का प्रयोग करना निर्गुण काव्य के प्रणेताओं का प्रमुख उद्देश्य रहा है।

8. **नीति काव्यः**– भारतीय साहित्य में नीतिकाव्यों के निर्माण की परम्परा बहुत पुरातन है। वेद, रामायण, महाभारत, पुराणों तथा अन्यत्र नीतिपरक उपदेश मिल जाते हैं। संस्कृत साहित्य में नीति के अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यह परम्परा पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों में भी बराबर मिलती है। निर्गुण काव्य में सिद्धों व नाथों के साहित्य में अनेक नीतिपरक सूक्तियां मिलती हैं। निर्गुण काव्य के अन्तर्गत कबीर, नानक और दादू दयाल आदि सन्तों की वाणियों तथा 'पद्मावत' आदि प्रबन्ध काव्यों में नीति सम्बन्धी उपदेश प्रासंगिक रूप से मिल जाते हैं। निर्गुण कवियों में कुछ ऐसे कवि भी हुए हैं जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से नीति ग्रन्थों की रचना की। इन कवियों में बनारसी दास, पद्मना, देवीदास, उत्थैरा, वाजिद राज समुद्र, कुशलबीर तथा जमाल आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने भृतृहरि के नीतिशतक तथा वैराग्य शतक के समान लोकव्यवहार, नैतिकता और अध्यात्मोन्मुख उपदेशों को काव्योचित भाषा में निबद्ध किया।

13.4.1 स्व–मूल्यांकन (ख)

प्रिय विद्यार्थियों! आपने प्रेममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं का अध्ययन कर लिया है। अब आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक कर सकते हैं। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं। आप इन विशेषताओं का पुनः अध्ययन कर सकते हैं साथ ही उत्तर कुंजी भी देख सकते हैं।

1. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'निर्गुण' शब्द का पर्याय क्या माना है–**

   (क) साक्षी (ख) ब्रह्मा (ग) प्रत्यक्ष (घ) दर्शन

2. **भक्तिकाल की निर्गुण शाखा की कितनी धाराएँ हैं?**

   (क) एक (ख) तीन (ग) दो (घ) चार

3. **निर्गुण काव्य में ईश्वराराधन के लिए किस पर समान बल दिया गया है।**

   (क) भक्ति (ख) मन्त्र (ग) ध्यान (घ) तन्त्र

4. **निर्गुण काव्य में अहं का त्याग क्यों आवश्यक है।**

   (क) माया से मुक्ति (ख) ध्यान हेतु (ग) ईश्वर प्राप्ति (घ) दर्शन के लिए

5. **'निर्गुण नाम जपहु रे भाई। अविगत की गति लखि न जाई।।' इस पंक्ति में किस पर बल दिया गया है?**

   (क) भक्ति (ख) नाम (ग) ध्यान (घ) मन्त्र

6. 'बिन–गुरु जगत का निरगुन पावा' पंक्ति के रचियता कौन हैं?

(क) कबीर (ख) जायसी (ग) रामानन्द (घ) नन्ददास

7. समूचे निर्गुण काव्य ने भेद भाव के स्थान पर किसे अधिकाधिक प्रोत्साहित किया।

(क) वर्गवाद (ख) एकता (ग) समन्वयात्मकता (घ) खण्डन

8. निर्गुण काव्य में किस भाषा को प्रश्रय मिला है?

(क) लोक प्रचलित (ख) प्राकृत (ग) संस्कृत (घ) साहित्यिक ब्रज

13.5. सारांश

निर्गुण काव्य की ज्ञानमार्गी धारा के प्रवर्त्तक कबीर तथा प्रेममार्गी धारा के प्रर्वत्तक जायसी और उनके समकालीन अन्य सन्तों की दार्शनिकता इस अध्याय का मुख्य भाव है जो निर्गुण काव्य की विशेषताओं के रूप में सामने आया है। इसके अतिरिक्त इन कवियों ने भक्ति साहित्य में जो योगदान दिया तथा अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों में जकड़े समाज में ज्ञान की अलख जलाने का जो प्रयास किया तथा सबसे बढ़ कर तत्कालीन समाज की सबसे बुरी और बड़ी बुराई ऊंच–नीच और जातिगत भेदभाव की खाई को पाटने का प्रयत्न तथा हिन्दु–मुस्लिम एकता के समन्वय का जो प्रयत्न किया, उस पर इस अध्याय में विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

13.6 कठिन शब्द

1. विलक्षण – असाधारण
2. निषेधात्मक – नकारात्मक
3. महत्ता – उपयोगिता
4. प्रतिपादन – किसी विषय का सप्रमाण कथन
5. यथेष्ट – जितना आवश्यक हो
6. अभ्युत्थान – ऊँचे पद या सत्ता की प्राप्ति
7. पुरातन – प्राचीन

13.7. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. निर्गुण काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

____

____

____

____

____

2. निर्गुण काव्य की प्रमुख विशेषताएँ बताइएं।

13.8. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1.गलत 2. सही 3. सही 4. गलत 5. गलत 6. सही 7. सही 8. सही

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. ब्रह्मा 2. दो 3. भक्ति 4. ईश्वर प्राप्ति 5. नाम 6. जायसी 7. समन्वयात्मकता 8.लोक प्रचलित

13.9. पठनीय पुस्तकें

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

ज्ञानमार्गी शाखा अथवा सन्त काव्य की विशेषताएँ एवं प्रमुख कवियों का योगदान

रूपरेखा

14.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
14.2. प्रस्तावना
14.3. ज्ञानमार्गी शाखा अथवा सन्त काव्य
14.3.1. स्व–मूल्यांकन (क)
14.4. ज्ञानमार्गी शाखा अथवा सन्त काव्य की प्रमुख विशेषताएँ
14.4.1. स्व–मूल्यांकन (ख)
14.5. ज्ञानमार्गी धारा के प्रमुख कवि
14.5.1 स्व–मूल्यांकन (ग)
14.6. सारांश
14.7. कठिन शब्द
14.8. अभ्यासार्थ प्रश्न
14.9. उत्तर कुंजी
14.10. पठनीय पुस्तकें

14.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम :

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय का उद्देश्य आपको भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के अंतर्गत आने वाली ज्ञानमार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान से परिचित करवाना है।

इस अध्याय का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात आप भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के अंतर्गत आने वाली ज्ञानमार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान को समझने में सक्षम होंगे।

14.2. प्रस्तावना :

प्रिय विद्यार्थियों! पूर्व अध्याय में आपने भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के काव्य की विशेषतायों का अध्ययन किया। इस अध्याय में आप भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के अंतर्गत आने वाली ज्ञानमार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान का अध्ययन करेंगे।

14.3. ज्ञानमार्गी शाखा अथवा सन्त काव्य :

ज्ञानमार्गी शाखा कालक्रम की दृष्टि से भक्ति–काव्य में सर्वप्रथम ज्ञानाश्रयी शाखा का उदय हुआ। ज्ञानमार्ग की प्रतिष्ठा आचार्य शंकर ने की थी उन्होंने ज्ञान और भक्ति तथा निर्गुण और सगुण भक्ति के विरोध की स्थापना करते हुए निर्गुण को ज्ञान से संबद्ध किया है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म तथा ज्ञान साधना को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार किया। इसलिए निर्गुण काव्यधारा में ज्ञान की अनुभूति को ही भक्ति माना जाता है अर्थात् निर्गुण ब्रह्मा को

प्राप्त करने का साधन ज्ञान को बताया गया है। ज्ञानमार्गी शाखा की निर्गुण भक्ति ने समानता का संदेश दिया। निर्गुण भक्त कवियों का उद्देश्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना था जहां किसी प्रकार का भेद नहीं हो। इस शाखा के कवियों ने समाज–सुधार पर विशेष बल दिया है। इसलिए इस शाखा के साहित्य को सन्त साहित्य भी कहते हैं। 'सन्त' शब्द उस व्यक्तित्व की ओर संकेत करता है जिसने परमतत्व का अनुभव कर लिया हो, जो अपने अहं से ऊपर उठकर उसके अस्तित्व में विलीन हो गया हो। कबीर की एक साखी के अनुसार–निरबैरी, निहकामता, सांई सेंती नेह। विशया सून्दरा रहे, संतनि को अंग एह। अर्थात् संतों का लक्षण उनका निबैरी निष्काम, प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है। भक्तिकाल में इस शब्द का प्रयोग उन भक्तों के लिए होने लगा जो वारकरी सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे और उनकी साधना–पद्धति निर्गुण भक्ति के आधार पर चलती थी। इनमें नामदेव, ज्ञानदेव, एकनाथ इत्यादि महाराष्ट्रीय प्रान्त से सम्बन्धित भक्तों के नाम आते हैं। उनके सिद्धान्तों और स्थापनाओं में समानता होने के कारण, उत्तरी भारत में कबीर इत्यादि भक्त कवियों के लिए भी यह शब्द प्रचलित हो गया।

भक्तिकाल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों की अत्यन्त विषम अवस्था में अपनी भक्तिभावना द्वारा समाज में एक नयी अलख जगाने का महत्वपूर्ण कार्य सन्त काव्यधारा के कवियों ने किया। अपनी ज्ञानाधारित भक्तिभावना और धार्मिक निष्पक्षता एवं न्यायप्रियता से इन कवियों ने तत्कालीन मान्यताओं को जन–साधारण के लिए बोधगम्य और आसान बनाया। इन कवियों के साहित्य में आध्यात्मिक प्रेरणा और चेतना के साथ–साथ सामाजिक चेतना भी अग्रणी थी। जातिवाद सामाजिक विसंगतियों और विषमताओं को उत्पन्न करता है। संत कवि इसके सख्त विरुद्ध थे वे सदैव एक मानवतावादी और समानतावादी समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील तथा जागरूक रहे। इसीलिए उन्होंने समाज–सुधार पर विशेष बल दिया तथा हिन्दू–मुस्लिम दोनों की निरर्थक रूढियों और संस्कारों का विरोध कर दोनों जातियों में अविरोध–भाव उत्पन्न करने का प्रयास किया। हिन्दू–मुस्लिम दोनों में भावात्मक एकता लाने के लिए इन्होंने निर्गुणवाद के आधार पर राम और रहीम की एकता और समरूपता का संदेश दिया। सन्त अथवा ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के उद्भव में तत्कालीन परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सन्त कवियों ने पांडित्य और पुस्तकीय ज्ञान को व्यर्थ मानते हुए मानवीयता और मनुष्य के विवेक और अनुभव पर बल दिया तथा अपने साहित्य में लौकिक अनुभूतियों को स्थान दिया। सन्त कवियों ने अपने साहित्य में निर्गुण मार्ग और ज्ञान मार्ग को सैद्धान्तिक रूप में अपनाते हुए उसके व्यावहारिक पक्षों पर भी बल दिया। सन्त मत भक्ति–आन्दोलन की वह शाखा है जिसका नेतृत्व उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों द्वारा न होकर निम्नवर्ग के अशिक्षित लोगों द्वारा हुआ। सन्त काव्य में आध्यात्मिक विषयों की अभिव्यक्ति हुई है परन्तु वह जन–जीवन पर आधारित अनुभूतियों से सम्पन्न है। सन्त काव्य किसी विदेशी धर्म साधनाओं के प्रभाव से विकसित साहित्य नहीं है बल्कि यह तत्कालीन आन्दोलन से प्रभावित अपभ्रंश की काव्य–धारा विशेष का विकसित रूप है, जो महाराष्ट्र से होता हुआ हिन्दी प्रदेश में पहुंचा और इसने अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव को आत्मसात् किया है, किन्तु इसमें धर्म अथवा साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं बल्कि जन–भाषा में उसका मर्म है। इस काव्य में जन–जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति अलंकार विहीन सीधी–सादी भाषा में है, यहां पग–पग पर स्वाधीन चिंतन प्रतिफलित हुआ है। सन्त साहित्य साधना, लोक पक्ष तथा काव्य–वैभव सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। नाथ–सम्प्रदाय की पद्धति शास्त्रीय और साधना व्यक्तिगत थी, किन्तु सन्त–सम्प्रदाय की पद्धति स्वतन्त्र और साधना सामाजिक थी। सन्त कवियों की विचार–सरणि निजी अनुभूतियों पर आधारित थीं, अतः उसमें दर्शन की शुष्कता न होकर काव्य की कोमलता है। सन्त साहित्य में एक अद्भुत विचारगत साम्य है।

सन्त साहित्य में सभी सन्त कवि निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल देते थे। निर्गुण ईश्वर की उपासना का उपदेश देकर निर्गुण पंथ के इन कवियों ने भक्ति को जन–साधारण और लोक के साथ स्थापित करने का माध्यम बनाया तथा यह उपदेश भी दिया कि निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति सद्गुरू द्वारा दिए गए ज्ञान से ही हो सकती है। सन्तों की साधना

अपने युग की विषम समस्याओं का समाधान थी। सन्तों की गंभीर, सत्यनिष्ठ दृष्टि व्यापक लोकहित की भावना से भी अनुप्रेरित थी। इसलिए लोक और जन–साधारण को उन्होंने सांसारिक माया जाल के आवरण से मुक्त होकर, ज्ञान चक्षुओं को खोल कर साक्षात् सत्य रूपी परब्रह्म का साक्षात्कार सद्गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान के उपदेश से सम्भव होना बताया। लोकहित, सामाजिक नैतिकता और मर्यादा के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास से इन कवियों की विशिष्टता है। सन्त काव्य की प्रवृत्तियाँ अथवा विशेषताओं को सभी ने अपने–अपने ढंग से विवेचित–विभाजित किया है किन्तु इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

14.3.1. स्व–मूल्यांकन (क)

प्रिय विद्यार्थियों ! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें।

1. कालक्रम की दृष्टि से भक्ति–काव्य में सर्वप्रथम ज्ञानाश्रयी शाखा का उदय हुआ। ( )
2. निर्गुण काव्यधारा में ज्ञान की अनुभूति को भक्ति नहीं माना गया। ( )
3. ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों ने समाज–सुधार पर विशेष बल दिया है। ( )
4. 'सन्त' शब्द उस व्यक्तित्व की ओर संकेत करता है जिसने सत्रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो। ( )
5. इन कवियों के साहित्य में आध्यात्मिक प्रेरणा और चेतना के साथ–साथ सामाजिक चेतना भी अग्रणी थी। ( )
6. जातिवाद से सामाजिक विसंगतियाँ और विषमता उत्पन्न नहीं होती। ( )
7. हिन्दू–मुस्लिम में भावात्मक एकता हेतु इन्होंने निर्गुणवाद के आधार पर राम–रहीम की एकता और समरूपता का संदेश दिया। ( )
8. सन्त कवियों ने पांडित्य और पुस्तकीय ज्ञान पर बल दिया है। ( )
9. सन्त साहित्य में एक अद्भुत विचारगत साम्य है। ( )
10. सन्तों की गंभीर, सत्यनिष्ठ दृष्टि व्यापक लोकहित की भावना से अनुप्रेरित नहीं थी। ( )

14.4. ज्ञानमार्गी शाखा अथवा सन्त काव्य की प्रमुख विशेषताएँ:

1. भक्ति निरूपण – सन्त कवियों ने भक्ति के अनुभूति–पक्ष को ही मुख्य रूप से चित्रित किया है। निर्गुण ब्रह्मा की प्राप्ति ज्ञान के द्वारा ही की जा सकती है। इसी कारण इन कवियों को ज्ञानमार्गी कहा गया। इन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, बहुदेववाद तथा सगुणवाद इत्यादि को त्याज्य बताया और केवल निर्गुण ब्रह्मा की सत्ता को ही स्वीकार किया। सन्तों की भक्ति के उपास्य परब्रह्मा परमेश्वर हैं। इन्होंने एकमात्र उन्हीं की भक्ति को भवसागर से मुक्ति का साधन बताया। ईश्वर के प्रति प्रेम और अनुराग को व्यक्त करने की इनकी साधना पद्धति नामस्मरण की साधना तथा स्वानुभूतिपरक आत्मनिवेदन को स्वीकार करती है। अपने निरंजन के प्रति वे अपनी भक्ति और श्रद्धा तथा उससे अपने हृदय को दास्य, दैन्य, सख्य, रति, वात्सल्य इत्यादि सभी भावों से जोड़ते हैं। इनके भक्ति भाव में सर्वप्रथम अहम् का त्याग आवश्यक है क्योंकि इनकी दृष्टि में अहम् का नाश होते ही भक्त और भगवान् का अन्तर समाप्त होकर दोनों एकाकार हो जाते हैं। सन्त भक्तों की भक्ति साधना कठिन और दुश्कर है क्योंकि इसमें भक्त को मोह–माया और सांसारिकता को त्याग कर अपने भीतर छिपे दुर्गुणों और सांसारिक शत्रुओं को मारना पड़ता है तथा हृदय को धार्मिक और आध्यात्मिक

चेतना की तरफ अग्रसर करना पड़ता है। सन्त भक्तों के लिए भक्ति उनके हृदय की प्रवृत्ति है क्योंकि इसका लक्ष्य और दिशा आध्यात्मिक है। इनके अनुसार भगवान् का सामीप्य प्राप्त कर उसके साथ तादात्मय स्थापित करना तथा उसके साथ एकात्मक हो जाना ही भक्त का लक्ष्य है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर परमात्मा और जीवात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता। प्रभु प्रेम की सुखानुभूति का आनन्द मात्र अनुभव किया जा सकता है व्यक्त नहीं किया जा सकता :

''अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाय
गूंगे केरी सरकरा, खाए और मुसकाय।।''

निर्गुण भक्ति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता निष्काम भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति करने से जीवनकाल में जीवनमुक्ति और देह त्यागने पर मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है इसलिए सन्त भक्तों ने प्रपित्तपरक भक्ति भाव के विविध सोपानों का चित्रण किया है जिसमें प्रथम हैं–'आनुकूल्यस्य संकल्पः' अर्थात् भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प। द्वितीय है 'प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्' अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि माया जन्य भावों की प्रतिकूलता या त्याग। तृतीय है, 'रक्षित्यतीति विश्वास ' अर्थात् भक्त ईश्वर की रक्षणशीलता पर पूर्ण विश्वास करे। इसी प्रकार 'मोहि राम भरोसो तेरो, और कौन का करूं निहोरो,' आदि उक्तियाँ ईश्वर पर अड़िग आस्था का संकेत करती है। प्रपित्त भाव की भक्ति की अन्य विशेषता एकमात्र भगवान् के गुणों का वरदान तथा वर्णन करना है। इसलिए सन्त भक्तों की वाणी यही प्रस्फुटित करती है'निर्गुण राम जपहु रे भाई'। इसका अन्य अंग 'आत्मनिक्षेप' है अर्थात् अपने को पूर्णतया भगवान् के अधीन कर देना जैसे'तन मन जीवन सौंपि सरीरा। ताहि सुहागिनी कहै कबीरा।।' सन्त कवियों का प्रमुख लक्ष्य सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार करना था। जिससे जातिगत भेद–भाव की भावना का परिहार हो सके। इसलिए सभी सन्त कवियों ने मनुष्य मात्र को समान मानते हुए सबको भगवद् भक्ति का समान अधिकारी बताया है

जाति–पाति पूछे नहीं कोई,
हरि को भजै सो हरि का होई

सन्त भक्तों ने प्रभु के नाम स्मरण को साधना का आधार माना है। इनके अनुसार नाम सुमिरन ही मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। इस प्रकार की साधना भक्ति मनुष्य के अंतःकरण को शुद्ध कर उसे सांसारिक आडम्बरों और कर्मकाण्डों की व्यर्थता से दूर कर देती है।

2. सामाजिक चेतना

भक्ति काव्य अपने मूल में सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन को समेटे हुए था। यह मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन लोक जागरण, भारतीय जागरण अथवा जन आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। इस युग में समाज में विभिन्न वर्ग एवं जातियां रूढ़ि–ग्रस्तता, धार्मिक भेदभाव एवं कई सामाजिक विषमताओं एवं अव्यवस्थाओं से जूझ रही थी। भक्ति आन्दोलन इस रूढ़िग्रस्त, समाज और उसकी अमानवीय व्यवस्थाओं के प्रति आक्रोशात्मक एवं सामाजिक जागरुकता और चेतना से भरपूर अभिव्यक्ति था। इस भक्ति आन्दोलन का जन–साधारण पर व्यापक और तीव्र प्रभाव हुआ था। समाज की निम्न, शुद्र और हेय समझी जाने वाली जातियों में सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ। कबीर, रैदास, सेना, पीपा इत्यादि सन्तों ने जातिवाद और वर्ण–व्यवस्था के प्रतिरोध में अपनी सामाजिक और वैचारिक प्रखरता का परिचय दिया। जिससे अपनी जाति और पहचान के लिए इनमें किसी भी प्रकार की कोई हीन भावना नहीं थी अपितु अपने साहित्य सृजन में भी इन्होंने अपनी व्यक्तिगत पहचान को ही बनाए रखा। रविदास के शब्दों में

''जाके कुटुम्ब ढोर ढोवंत फिरहिं अजहुँ बानारसी आसपास।
आचार सहित विप्र करहिं डंड डीत तिन तनै रविदास दासानुदासा।।''

सन्त भक्तों का समय सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से घोर अव्यवस्था का समय था। हिन्दू समाज शास्त्रीय धर्म पर आधारित था जिसमें जातिवादी और वर्णश्रमवादी व्यवस्था थी तो दूसरी ओर इस्लाम धर्म की धार्मिक कट्टरता, उग्रता और सामाजिक विषमता भी अपने पूरे प्रभाव पर थी। ऐसे में मानव मूल्यों और मनुष्यता को सबसे बड़े धर्म और आस्था में बनाये रखने के लिए सन्त कवियों ने अपना साहित्य सामाजिक अव्यवस्था, अनैतिकता, तथा अनावश्यक आडम्बरों, रूढ़ियों और परम्परागत परम्पराओं के विरोध में रचा। समाज शास्त्रीय आडम्बरों और कर्मकाण्डों से चल रहा था। लोकाचार सम्बन्धी कुरीतियां भी यत्र–तत्र विद्यमान थीं। युगचेता सन्त कवियों ने रूढ़ियों और व्यर्थ के आड़म्बरों में जकड़े हुए मनुष्यों और समाज के भीतर सामाजिक चेतना भरने का भरपूर प्रयास किया।

3. निर्गुण ब्रह्मा में विश्वास

सन्त साहित्य की महत्वपूर्ण विशेषता निर्गुणोपासना अथवा निर्गुण ईश्वर में विश्वास है। परन्तु सन्त कवियों का युगीन परिवेश दो स्तरों पर सामाजिक विषमताओं से ग्रस्त था। एक ओर अवतारवाद जन्म–जन्मांतर तथा मूर्तिपूजा में विश्वास रखने वाला हिन्दू समाज था तो दूसरी ओर इस्लामिक कट्टरताओं से जकड़ा हुआ मूर्ति भंजक मुस्लिम समाज था। विषमता का दूसरा स्तर हिन्दू समाज की आंतरिक विषमताओं से सम्बन्धित था। मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थाटन तथा कर्मकाण्ड इत्यादि सगुणोपासना से सम्बन्धित थे और सगुणोपासना विषमता के प्रसार का मूल कारण बनी हुई थी। समाजचेता सन्तकवियों ने समस्या के स्वरूप का बिल्कुल वस्तुनिष्ठ और मंगलमूलक दृष्टि से अध्ययन किया और सगुणोपासना के स्थान पर निर्गुणोपासना का पथ प्रशस्त किया क्योंकि उनके अनुसार निर्गुणोपासना को स्वीकार करते हुए ही सगुणोपासना, अवतारवाद, मूर्ति–पूजा, धार्मिक, कुरीतियों इत्यादि का स्वतः निराकरण हो जाता है। इनका विरोध करते हुए सन्त कवियों ने राम–नाम के मर्म पर ही बल दिया। कबीर का कहना है

दशरथ सुत तिहूं लोक बखाना,
राम नाम का मरम है आना।

सन्त कवियों ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना का मार्ग हिन्दू–मुस्लिम के साथ–साथ अन्य जातियों और वर्णों के लिए भी समान रूप से खुला रखा। निर्गुण ईश्वर को इन सन्तों ने वर्णनातीत माना तथा इसे अनुभवजन्य कहा, क्योंकि निराकार ईश्वर सृष्टि के प्रत्येक कण–कण में विद्यमान है। अतः उसे बाहर ढूंढना मूर्खता है। केवल ज्ञान द्वारा ही उसे हम अपने हृदय के भीतर ही प्राप्त कर सकते है। चाहे उसे परमात्मा कहो, राम कहो अथवा खुदा या रहीम कहो, कोई अन्तर नहीं पड़ता। ईश्वर तो अविगत हैं। नाम, रूप, रंग, आकार इत्यादि से परे हैं। वेद, पुराण तथा स्मृतियाँ वहाँ तक नहीं पहुंच सकती। कबीर का कहना है

निर्गुणनाम जपहु रे भाई।
अविगत की गति लखि न जाई।।

सन्त कवियों के अनुसार 'ब्रह्मा' अजन्मा और निर्विकार है। जिसे मन्दिरों–मस्जिदों अथवा जंगलों–पर्वतों पर कठिन तपस्या करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह तो मनुष्य के हृदय में ही विद्यमान है। इस विषय में कबीर का कहना है

कस्तूरी कुंड़ली बसै मृग ढूंढे वन माहिं।
ऐसे घट–घट राम है, दुनिया देखे नाहिं।।

सन्त कवियों ने धार्मिक कट्टरता को सांप्रदायिक सीमाओं से निकाल कर मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इसीलिए सन्तों का निर्गुण ब्रह्मा निराकार, अगोचर और निरंजन होते हुए भी मानवीय गुणों से सम्पन्न है। सन्त कवि दादू दयाल निर्गुण ब्रह्मा की दीन–दयालुता का उल्लेख करते हुए कहते हैं

देखत दीन दुखी क्यों कीजे,
तुम हो दीन दयाल।।

इसके साथ ही सन्तों की दृष्टि में वह व्यक्ति भी राम–रूप हो जाता है जिसमें मानवीय गुणों का उत्कर्ष हो जाता है। सन्त कवि रज्जब के शब्दों में

शील रहे सुमिरण गहै, सतय सन्तोषण नेह।
रज्जब प्रत्यक्ष राम जी, प्रगट भये तेहि गेह

4. सद्गुरु की महत्ता

ज्ञानमार्गी सन्त कवियों ने सद्गुरु की महत्ता पर अत्यधिक बल दिया है। उन्होंने गुरु को ईश्वर से अधिक मान दिया है। इनके अनुसार राम की कृपा भी भक्त पर तभी होती है, जब गुरु की कृपा होती है। कबीर के शब्दों में

गुरु गोबिन्द दोउ खड़े काके लागूं पायं।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताइ।।

सन्त कवियों ने सांसारिक मोह–माया के आवरण से मुक्ति तथा परब्रह्मा निरुपाधि ईश्वर के साक्षात्कार के लिए सद्गुरु के महत्व को स्वीकार किया है। उन्होंने गुरु की महिमा को अनंत माना है क्योंकि वही अंनत से मिलाप कराने वाला है तथा गुरु ही मनुष्य के ज्ञान चक्षु खोल कर उसके ह्रदय में छाये हुए अन्धकार को दूर कर सकता है। कबीर के शब्दों में

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अंग उघाडिया, अनंत दिखावण हार।।

सन्त कवियों के अनुसार गुरु पग–पग पर मार्ग–दर्शन कराने वाला प्रत्यक्ष ब्रह्मा है। जो संसार में जीवन रूपी खेल खेलने तथा उसमें हार–जीत के सारे दांव मात्र ईश्वर के प्रेम से हासिल करने के गुर बताता चला जाता है

पासा पकड़ा प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुरु दांव बताइया, खेलै दास कबीर।।

सन्त कवि यह भी मानते थे कि बिना गुरु की शिक्षा से कोई ज्ञानवान नहीं हो सकता। मनुष्य की शंकाओं का समाधान बिना गुरु के कोई नहीं कर सकता और प्रभु राम से सच्चा सम्बन्ध स्थापित करवा सकता है। सद्गुरु ही ज्ञान की अग्नि में तपाकर शिष्य के सार भूत अंश को, उसके वास्तविक स्वरूप को, माया के विजातीय तत्व से अलग कर देता है। कबीर के शब्दों में

सतगुरु मेरा सूरिबाँ, ज्यों तातैं लोहि लुहार।
कसनी दै कंचन किया, ताइ लिया ततसार।।

सन्त कवि गुरु और ब्रह्मा में अन्तर नहीं मानते। वे मानते हैं कि बह्म तो फिर भी परोक्ष सत्ता है परन्तु गुरु तो प्रत्यक्ष ब्रह्मा है। गुरु महिमा और ब्रह्मा में अभेदता स्पष्ट करते हुए सन्त रज्जब ने कहा है

जन्म सफल तब का भया, चरणो चित्त लाया।
रज्जब राम दया करी, दादू गुर पाया।।

सन्त कवियों ने ज्ञान, भक्ति और योग इत्यादि समस्त सन्दर्भों में गुरु के महत्व को प्रतिपादित किया है तथा माना है कि गुरु की कृपा से ही मनुष्य संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त हो सकता है। इन्होंने गुरु को मुक्ति के पर्याय के रूप में भी स्वीकार किया है

5. बहुदेववाद तथा अवतारवाद का विरोध–

प्रायः सभी सन्त कवियों ने बहुदेववाद तथा अवतारवाद का विरोध किया है। इस अवधारणा पर अविश्वास प्रकट करते हुए उन्होंने इसका निर्भीकतापूर्वक खण्डन किया तथा हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने के उद्देश्य से एकेश्वरवाद का समर्थन किया। इन निर्गुणवादी सन्त कवियों ने 'राम' और 'रहीम' तथा 'कृष्ण ' और 'करीम' को एक ही ईश्वर का रूप बताया। इस विषय में कबीर की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं

जन्म मरन से रहित है मेरा साहिब सोय।
बलिहारी वहि पीव की, जिन सिरजा सब कोय।।

बहुदेववाद तथा अवतारवाद के विरोध के पीछे एक तो शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव शेष था तथा दूसरे यह सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आवश्यकता भी थी क्योंकि तत्कालीन मुसलमान शासक वर्ग एकेश्वरवादी था तथा समाज का दूसरा महत्वपूर्ण हिन्दू वर्ग बहुदेववादी तथा अवतारवाद के सिद्धान्तों पर आस्था रखने वाला था। इन दोनों जातियों में फैली वैमनस्यता तथा धार्मिक कट्टरता को दूर कर उनमें शांति एवं एकता की स्थापना हेतु ही इन्होंने एकेश्वरवाद का उपदेश दिया तथा बहुदेववाद का घोर विरोध किया। सन्त चरनदास के शब्दों में

यह सिर नवे न राम कूं, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहि परसिये, यह तन जाये छूट।।

सन्त कवियों का यह भी विश्वास था कि 'अवतार' भी जन्म–मरण के बन्धन में ग्रस्त होते हैं। इसलिए वे भी परम ब्रह्मा की भक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। मुख्य हिन्दू अवतारों के साथ–साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश की इन सन्तों ने प्रशंसा नहीं की और उन्हें मायाग्रस्त घोषित किया क्योंकि इनके अनुसार उनका भी कर्ता निराकार परम ब्रह्मा ही है। कबीर के शब्दों में

अक्षय पुरुष इक पेड़ है, निरंजन बाकी डार।
त्रिदेवा शाखा भये पात भया संसार।।

6. जाति–पाति के भेद–भाव का विरोध

सन्त कवियों के अनुसार ईश्वर की दृष्टि में, मनुष्य की संरचना में कोई भेद नहीं है। जाति और वर्ण–व्यवस्था मानवकृत है, ईश्वर रचित नहीं। जो शुद्ध मन से ईश्वर का भजन करता है, वही भक्त है। ईश्वर अपने भक्तों को भक्ति के अन्तर्गत स्वीकार करता है, जातियों के अन्तर्गत नहीं। उनका यह भी विश्वास था कि ऊंच–नीच और जाति–पाति की दीवारें तो मनुष्य ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए खड़ी की हैं जबकि ईश्वर तो सबका सांझा है

जाति–पाति पूछे नहीं कोई,
हरि को भजे सो हरि का होय

सन्त कवि जो स्मृति–आधारित वर्ण व्यवस्था के पीड़ित वर्ग से उठ कर आये थे। उन्होंने जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शुद्र होने की बात को नकार दिया। ये चारों जातियां हजारों वर्षों से वर्णसंकर अथवा जाति–बहिष्कृत लोगों की संख्या बढ़ने के साथ ही हजारों उपजातियों में विभक्त हो गई थीं। जाति का शिकंजा समाज पर बुरी तरह से कसा हुआ था। सन्त कवियों ने इस स्थिति के निवारण के लिए ही जातिव्यवस्था पर प्रहार किया। समाज का यह दृष्टिकोण भी उन्हें कदाचित अखरा कि ब्राह्मण से उत्पन्न व्यक्ति ही ब्राह्मण कहलाए, भले ही उसके कर्म शुद्रों वाले हों, तथा अन्य उच्च जातियों के कर्म भी भले ही उनकी जाति के अनुसार न हो परन्तु वह उच्च जाति के ही कहलवायेंगे तथा शुद्र जाति के लोग बुद्धिमान अथवा विवेकशील होने के बावजूद भी पढ़ने–लिखने से वंचित रखे जायें तथा धर्मक्षेत्रों में उनका प्रवेश वर्जित हो। इन सामाजिक और धार्मिक विसंगतियों को दूर करने के लिए भी उन्होंने जाति–पाति और वर्ण–व्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट किया

ऊंचे कुल का जनमिया, जे करनी ऊंच न होई
सुबरन कलस सुरा भरा, साधुनिंदा सोई

वे चाहते थे कि विवेकशील और ज्ञानवान व्यक्ति का आदर होना चाहिए और उसे समाज में उचित स्थान मिलना चाहिए, भले ही वह किसी भी जाति वर्ण या धर्म से हो। इसीलिए उन्होंने कहा

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।।

उनके अनुसार पंडित और विद्वान वह नहीं है, जो वेद–पुराण पढ़ता है और शास्त्रों का ज्ञान रखता है। उनके अनुसार पंडित वह भी है जो मानवीय गुणों से परिपूर्ण है, एकता में विश्वास रखता है तथा ब्रह्मा को जानता है

पोथी पढि–पढि जग मुआ, पंडित भया न कोय,
ढाई अच्छर प्रेम के पढ़े सो पंडित होय।।

7. रुढ़ियों और आडम्बरों का विरोध –

सिद्धों और नाथ पंथियों से प्रभावित होने के कारण प्रायः सभी सन्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में प्रचलित रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और मिथ्या आडम्बरों की कटु भर्त्सना की है। इन्होंने धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, बहुदेववाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थ, व्रत तथा रोजा, नमाज, हज इत्यादि विधि–विधानों का कड़ा विरोध करते हुए अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं। हिन्दुओं की मूर्तिपूजा पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने कहा

पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजूं पहार।
ताते वह चाकी भली, पीस खाय संसार।।

हिन्दुओं की तीर्थ सम्बन्धी अवधारणा पर भी कटाक्ष करते हुए कहा

तीरथ करि–करि जग मुआ, जूड़ै पानी न्हाइ।
राम नाम जानै बिना, काल गरासा जाइ।।

इसी प्रकार उन्होंने मुसलमानों की नमाज पर कटाक्ष करते हुए कहा

कांकर पत्थर जोरि के मस्जिद लई बनाय।
तां चढि मुल्ला बांग दे, क्या बहिए हुआ खुदाय।।

तथा उनके खुदा को हज करके प्राप्त करने की अवधारणा पर भी कटाक्ष किया

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाई।
जाको दिल साबित नहीं, ताकि कहां खुदाई।

8. मानवतावादी दृष्टि –

सन्त कवियों की धर्म भावना मानवतावादी दृष्टिकोण पर टिकी है। उनके द्वारा स्थापित मानव धर्म में सारी सृष्टि ईश्वर का स्वरूप है। उसके द्वारा बनाए गये मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर देखने वाली दृष्टि में है। उनका सिद्धान्त था कि ''साईं के सब जीव हैं''। इस युग में जाति प्रथा की कुप्रवृति के साथ–साथ व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके वर्ण अथवा व्यवसाय के आधार पर परखी जाती थी। सन्त कवियों ने इसका विरोध कर मात्र भक्ति के आधार पर व्यक्ति को ऊंचा या नीचा स्थान दिया। मात्र जाति के आधार पर कोई ऊंचा या श्रेष्ठ नहीं हो सकता, जब तक कि उसका कर्म न श्रेष्ठ है। शायद इसीलिए कबीर ने तीखे स्वर में ब्राह्मण की श्रेष्ठता पर कटाक्ष करते हुए कहा है

तू ब्राह्मण हौं काशी का जुलाहा चीन्ह न मोर गियाना।
जौ तू बामण बामणी जाया, तौ आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।।

सन्त कवियों द्वारा स्थापित मानव धर्म के दो पहलू उभर कर सामने आये हैं। अपने सकारात्मक पहलू में उन्होंने प्रेम, अहिंसा, सत्य, सहानुभूति, करुणा, दया और मानवीयता इत्यादि शाश्वत मानव मूल्यों की स्थापना की है तथा नकारात्मक, पहलू में उन्होंने सामाजिक विषमता, छूआछूत, जाति–पाति, पाखंड, अत्याचार, अन्धविश्वासों तथा किसी भी प्रकार की हिंसा का विरोध किया है। बिना किसी भेदभाव के उन्होंने हिन्दु–मुसलमान दोनों की सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते हुए मानव धर्म की स्थापना की है तथा सत्य, नैतिकता, नैतिक आचरण तथा वैयक्तिक शुद्धता से बढ़कर इनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है यथा

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप।।

9. रहस्यवाद –

दर्शन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है भावना अथवा साधना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। सन्त कवियों का रहस्यवाद भी अद्वैतवादी चिंतन पर आधारित है। शंकर के अद्वैतवाद के मूलभूत सिद्धातों का प्रभाव संतों की विचारधारा पर दिखलाई पड़ता है। संतों के अनुसार ब्रह्मा, अगोचर, सर्वव्यापी, निर्गुण, निरंजन, शून्य सर्वज्ञ और निराकार है। इसलिए नामरूप–विहीन, अदृश्य तथा अजन्मे ईश्वर से सम्बन्धित रहस्यात्मक उक्तियों को उन्होंने विभिन्न स्तरों पर अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया है। आत्मा–परमात्मा के सम्बन्ध का कथन करके जब आत्मा का परमात्मा के प्रति अनुराग व्यक्त किया जाता है तो उसे रहस्यवाद कहा जाता है। रहस्यानुभूति अथवा रहस्य चेतना के कारण इनकी रचनाएं अधिक काव्यात्मक हुई है। इनकी दार्शनिक अभिव्यक्ति इसी पर आधारित है। सर्वत्र उस निर्गुण और निराकार ब्रह्मा की व्यापकता और विद्यमानता से ज्ञान और प्रेम के साथ इन सन्त कवियों की उसमें पूर्ण आस्था दृष्टव्य है। शरीर क्या है? ईश्वर क्या है? अद्वैत भावना रहस्यानुभूति का मूल है। इसीलिए कबीर कहते हैं–

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत कथ्यौ गियानी।।

सन्त कवियों का रहस्यवाद मूलतः ज्ञान प्रधान है। निर्गुण ब्रह्मा की भक्ति विभिन्न भावों में व्यक्त की है। सन्तों ने ब्रह्म को स्वामी, मित्र, माता–पिता, गुरु, पति, प्रियतम इत्यादि अनेक रुपों में अंकित किया है। कबीर द्वारा परमात्मा को पति रूप में तथा अपनी आत्मा को पत्नी के रूप में किया गया चित्रण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा

दुलहनि गावहु मंगलाचार।
हमारे घर आए हो राजा राम भरतार।।

सन्त कवि गुरु नानक की रहस्यवादी उक्ति भी दृष्टव्य है

नानकु कहै सहेली हो सहु खरा पिआरा।
हम सह केरीआ दासीआ साचा खसमु हमारा।

सन्त कवियों ने विशुद्ध भावात्मक रहस्यवाद का भी चित्रण किया है। जहां पर प्रेम और प्रणयानुभूति का भी समावेश हुआ है प्रिय अर्थात प्रभु मिलन को व्याकुल विरहिणी आत्मा की असमर्थता का चित्रण उन्होंने इस प्रकार किया है

आई न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यूं ही लेहुगे, विरह तपई तपाइं।।

10. ज्ञान महिमा

सन्त साहित्य की महत्वपूर्ण विशेषता ज्ञान की महिमा मानी जा सकती है। सन्तों का ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान नहीं है। उन्होंने शास्त्रीय और सांसारिक ज्ञान की निंदा की है। उनका ज्ञान आत्मज्ञान है। उनकी ज्ञान महिमा की प्रवृत्ति निर्गुणोपासना से जुड़ी है। सगुणोपासना तो अज्ञानी व्यक्ति भी कर लेता है। परन्तु निर्गुण ब्रह्मा की उपासना कर पाना सबके लिए सम्भव नहीं है। निर्गुण ब्रह्मा की उपासना ज्ञान चक्षु खोलकर ही की जा सकती है। संतों के पास ज्ञान चक्षु थे, विवेक था। इसीलिए शास्त्रीय और पांडित्य प्राप्त ज्ञानियों को उन्होंने अनुभव शून्य माना चूंकि उन्होंने अपने आत्मज्ञान को साधना और अनुभव के तौर पर जाना था। अतः उनके लिए उन्होंने स्पष्ट कहा

तेरा मेरा मनुवा कैसे एक होइ रे।
तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता आंखिन की देखी।

उनके ज्ञान का स्वरूप ईश्वर का नाम–स्मरण, आत्मोत्थान, परम सत्ता की पहचान तथा आत्मा–परमात्मा के एकीकरण के प्रयत्न पर आधारित है।

11. नारी के प्रति दृष्टिकोण –

सन्तों का नारी विषयक दृष्टिकोण दो प्रकार का है। एक ओर उन्होंने नारी को माया का प्रतीक कहा है तथा उसे विष की बेल, ठगिनी इत्यादि कहा है तथा उसे कामिनी, कुलटा, कुलक्षिणी कहकर उसकी भर्त्सना करते हुए यहां तक कहा है कि–

नारी की झाई परत अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनको कौन गति नित नारी के संग।।

तो दूसरी ओर पतिव्रता नारियों की केवल प्रशंसा ही नहीं की अपितु उन्हें अपनी एकनिष्ठ भक्ति के आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः सन्त कवियों ने नारी का मूल्यांकन उसके आंतरिक गुणों के आधार पर ही किया है। सत्यनिष्ठ और पतिपरायणता नारी की वे प्रशंसा करते हैं

पतिवरता मैली भली, काली कुचिल कुरूप
पतिवरता के रूप पर वारौ कोटि सरुप।।

12. भाषा एवं शैली :–

प्रायः सभी सन्त कवियों पर ''कागद मसि छूयो नहीं कलम गह्यो न हाथ'' उक्ति चरितार्थ होती है। ये लोग अशिक्षित थे। परन्तु व्यवहारिक ज्ञान में निपुण थे। अतः बोलचाल की साधारण भाषा को ही इन्होंने अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। साहित्यिक भाषा के प्रयोग में ये अक्षम थे। अतः इन्होंने विभिन्न प्रकार की भाषा ओं का अपने काव्य में प्रयोग किया है। जिस कारण इनकी भाषा सधुक्कड़ी या खिचड़ी कहलाती है। इनकी भाषा में अवधी, ब्रज, पूर्वी हिन्दी, अरबी, खड़ी बोली, राजस्थानी तथा पंजाबी इत्यादि शब्दों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है।

इनके काव्य में मुख्यतः गेय मुक्त शैली का प्रयोग हुआ है। गीति–काव्य के सभी तत्व–भावात्मकता, सूक्ष्मता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता इत्यादि इनके काव्य में पाये जाते हैं। उपदेषात्मक पदों में गीति–माधुर्य के स्थान पर बौद्धिकता आ गई है इसके अतिरिक्त इन्होंने दोहा, साखी, चौपाई की शैली का भी प्रयोग किया है। कुल मिला कर इनकी भाषा आडम्बर विहीन है तथा उसे आलंकारिकता और छन्द शास्त्र से लादने का प्रयास नहीं किया गया है।

14.4.1. स्व–मूल्यांकन (ख)

प्रिय विद्यार्थियों! आपने ज्ञानमार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं का अध्ययन कर लिया है। अब आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक कर सकते हैं। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं। आप इन विशेषताओं का पुनः अध्ययन करें साथ ही उत्तर कुंजी भी देख सकते हैं।

1. **ज्ञानमार्गी शाखा में निर्गुण ब्रह्मा की प्राप्ति के लिए क्या आवश्यक है?**

   (क) ज्ञान (ख) मूर्तिपूजा (ग) अवतारवाद (घ) बहुदेववाद

2. **सन्त भक्तों ने प्रभु के नाम स्मरण को किसका आधार माना है।**

   (क) ज्ञान (ख) साधना (ग) मुक्ति (घ) मोक्ष

3. **''जाके कुटुम्ब ढोर ढोवंत फिरहिं अजहुँ बानारसी आसपास।'' पंक्ति के रचयिता कौन हैं?**

   (क) कबीरदास (ख) रविदास (ग) दादू दयाल (घ) मलूक दास

4. **'निर्गुणनाम जपहु रे भाई। अविगत की गति लखि न जाई।।' पंक्ति किसके द्वारा लिखी गई है?**

   (क) मलूक दास (ख) दादू दयाल (ग) रविदास (घ) कबीरदास

5. **सन्त कवियों ने सांसारिक मोह–माया के आवरण से मुक्ति हेतु किस पर बल दिया है?**

   (क) सद्गुरु (ख) ईश्वर (ग) ज्ञान (घ) भक्ति

6. संत कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने के उद्देश्य से किसका समर्थन किया?

(क) बहुदेववाद (ख) खण्डन–मण्डन (ग) ज्ञान (घ) एकेश्वरवाद

7. 'जाति–पाति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होय' पंक्ति में किस पर बल दिया गया है?

(क) ईश्वर की दृष्टि में मनुष्य की संरचना में भेद है।

(ख) जाति और वर्ण–व्यवस्था ईश्वर कृत है।

(ग) ईश्वर अपने भक्तों को भक्ति के अन्तर्गत स्वीकार करता है, जातियों के अन्तर्गत नहीं।

(घ) ऊंच–नीच और जाति–पाति की दीवारें ईश्वर ने बनाई हैं।

8. 'पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजूं पहार।' में किस पर कटाक्ष किया है?

(क) बहुदेववाद पर (ख) हिन्दुओं की मूर्तिपूजा पर (ग) मुसलमानों पर (घ) एकेश्वरवाद पर

9. सन्त कवियों द्वारा स्थापित मानव धर्म के कितने दो पहलू उभर कर सामने आये हैं?

(क) दो (ख) चार (ग) तीन (घ) पाँच

10. सन्तों का ज्ञान कौन–सा है?

(क) सांसारिक ज्ञान (ख) शास्त्रीय ज्ञान (ग) तंत्रज्ञान (घ) आत्मज्ञान

11. सन्तों का नारी विषयक दृष्टिकोण कितने प्रकार का है।

(क) तीन (ख) चार (ग) दो (घ) पाँच

12. सन्तों ने किस भाषा का प्रयोग किया है?

(क) संस्कृत (ख) सधुक्कड़ी या खिचड़ी (ग) प्राकृत (घ) ब्रज

14.5. ज्ञानमार्गी–धारा के प्रमुख सन्त कवि :

सन्त साहित्य में योगदान देने वाले प्रमुख सन्त कवियों का परिचय इस प्रकार है–

1. नामदेव– इनका जन्म 1329 को सतारा के नरसी वमनी (बहमनी) गाँव में हुआ था। अपने पैतृक व्यवसाय में इनकी रुचि नहीं थी। बचपन से ही इनका मन सत्संग एवं साधुसेवा में लगा रहा। संत विसोवा खेचर इनके गुरू थे। प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के प्रति भी इनकी गहरी आस्था थी। मराठी में रचित अभंगों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी इनकी रचनाएं उपलब्ध हैं। सधुक्कड़ी भाषा में रचित इनकी रचनाओं में निर्गुणोपासना, कर्मकाण्डों तथा मिथ्या आडम्बरों का खण्डन तथा ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है–

जल तरंग अरु फेन बुद–बुदा, जलते भिन्न न होई।
इहु परपंचु पार ब्रह्मा की लीला, विचरत आन न होई।।
मिथिआ थरमु अरुसुपव मनोरथ, सति पदारथु जानिआ।
सक्रित मनसा गुर उपदेसी, जागत ही मनु मानिआ।।
कहत नामदेउ हरि की रचना, देशहु रिदै बीचारी।
घट–घट जंतरि सरब निरन्तरि, केवल एक मुरारी।।''

सन्त नामदेव ने दर्जी के पेशे को अपनाया था। अतः वे कैंची, सूई और गज के माध्यम से ही भक्ति–रहस्य उद्घाटित करते थे जैसे–

मन मेरी सूई, तन मेरा धागा।
खेचर जी के चरण पर नामा सिंपी लागा।।

2. कबीर दास :– रामानंद की शिष्य परम्परा में आने वाले सन्तों में कबीर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इनके जन्म काल तथा मृत्यु (सन् 1398–1518 ई.) तथा जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं के विषय में अनेक किवंदतियाँ प्रसिद्ध हैं। जन श्रुति के अनुसार इनका जन्म काशी में एक विधवा ब्राह्माणी के घर में हुआ। लोकभय से वह इन्हें लहरतारा नामक तालाब के किनारे छोड़ आई। इनका पालन–पोषण नीरू–नीमा नामक जुलाहा दम्पति ने किया। लोई नामक साध्वी से इन्होंने विवाह किया जिससे कमाल और कमाली नामक पुत्र–पुत्री का जन्म हुआ।

कबीर निरक्षर थे। परन्तु इन्होंने आत्मचिंतन एवं लोक निरीक्षण से जो ज्ञान प्राप्त किया। उसी को निर्भयतापूर्वक अपने काव्य में अभिव्यक्त किया। कबीर एक क्रान्तिकारी विचारक, सुधारक और सन्त थे। वे मस्तमौला, लापरवाह एवं फक्कड़ फकीर थे। उनका व्यक्तित्व अनेक प्रकार के विरोधी तत्वों का सम्मिश्रण कहा जा सकता है। उनमें वैष्णवों जैसी आस्था और उदारता, अद्वैतवादी दार्शनिकों जैसी ज्ञान गुरुता हठयोगियों जैसी साधना–निष्ठा थी। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल दिया तथा वेद, पुराण और कुरान आदि के रूप में प्राप्त पुस्तकीय या शास्त्रीय ज्ञान का खण्डन किया है। वे कोरे सिद्धान्त ज्ञान में विश्वास नहीं रखते थे। उनका ज्ञान साधना तथा अनुभव जन्य था। इस ज्ञान का निर्गुण ब्रह्म के प्रेम से प्रगाढ सघ्म्बन्ध है। उनके अनुसार ज्ञान से ही मोह–माया का नाश होता है तथा परमात्मा–प्रेम का आरम्भ होता है।

संतो भाई आई ग्यान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बाँधी।

सन्त और कवि के रूप में कबीर जीवन की सहजता के निकट ही हैं। उनके काव्य में छन्द, अलंकार, इत्यादि गौण है तथा लोक मंगल की चिंता प्रधान है। इनका सम्पूर्ण काव्य 'बीजक' नामक संग्रह तीन भागों सबद, रमैनी और साखी में उपलब्ध होता है। अपनी इन रचनाओं में उन्होंने जाति–पाति, छुआ–छूत, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का खण्डन किया है। इनकी अभिव्यंजना शैली बहुत सशक्त थी तथा बहुत सारी भाषाओं के मिश्रण के कारण इनकी भाषा को सधुक्कड़ी कहा जाता है। इनके काव्य में प्रतीक–योजना का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। इसके अलावा इनके काव्य में उलटबाँसियों के भी उदाहरण मिलते हैं।

3. रैदास :– रैदास रामानंद जी के दूसरे प्रमुख शिष्य थे। इनके जीवनकाल की तिथि के विषय में कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता। ऐसा माना जाता है कि यह कबीरदास के समकालीन थे। मीराबाई ने इन्हें अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है। कबीर के समान इनके ईश्वर भी निराकार थे। इनकी भक्ति प्रेम–भाव की है। यह ईश्वर–प्राप्ति के लिए अहंकार का निवारण आवश्यक मानते थे।

रैदास की कविता में भी सामाजिक विषमता के प्रति विरोध है। वर्णवादी व्यवस्था की असमानता के प्रति उन्होंने भी तीव्र आक्रोश व्यक्त किया है तथा जाति–प्रथा और मिथ्या आडम्बरों तथा कर्म–काण्डों को तोड़ने का उपदेश दिया है। उनकी कविता में मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा तीर्थयात्रा इत्यादि बाह्य विधानों का विरोध किया गया है। उन्होंने जन–सामान्य को निश्चल भाव से निर्गुण ब्रह्म की भक्ति की ओर प्रेरित किया है

अब कैसे छुटै राम, नाम रट लागी।
प्रभू जी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग–अंग बास समानी।
प्रभु जी तुम धन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द चकोरा।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती।

इनकी रचनाओं का कोई व्यवस्थित संकलन नहीं है। गुरु ग्रंथ साहिब तथा अन्य कई संग्रहों में इनके पद बिखरे हुए मिलते हैं।

4. गुरु नानक देव :– नानक पंथ के प्रवर्त्तक गुरुनानक देव जी का जन्म स. 1526 वैशाख माह के तलवंड़ी ग्राम में हुआ था। पिता का नाम कालूराम तथा माता का नाम तृप्ता देवी था। इनका विवाह सुलक्खनी से हुआ। जिससे उनके श्रीचंद और लक्ष्मी चंद दो पुत्र हुए। आगे चल कर श्रीचंद ने ''उदासी सम्प्रदाय'' का प्रवर्त्तन किया। गृहस्थी में और किसी व्यवसाय में नानक का मन नहीं रमा। इन्होंने पूरे भारत का भ्रमण किया तथा देशाटन के लिए मक्का, मदीना, बगदाद, बलख, बुखारा, काबुल, कंधार आदि भी गए। यात्रा में अनेक जैन साधुओं, फकीरों, योगियों तथा सन्तों का सत्संग किया। सन् 1539 ई. में गुरु अंगद देव (बाबा लहना) को गुरु गद्दी का भार सौंपकर करतारपुर में अखंड ज्योति में समा गए।

अन्य सन्त कवियों की तरह नानक जी भी अधिक विद्वान् तथा शास्त्रज्ञानी नहीं थे। वे भी बहुश्रुत, साधना तथा अनुभवजन्य ज्ञान को प्राप्त किए हुए थे। वे निराकारवादी थे। उन्होंने भी समाज में फैली कुरीतियों का विरोध किया तथा हिन्दू–मुस्लिम एकता का उपदेश दिया। निर्गुण महिमा, सदगुरु की महत्ता, मूर्तिपूजा, अवतारवाद इत्यादि बाह्याचारों का खण्डन, भक्ति, नाम स्मरण तथा परमात्मा के प्रति समर्पण भाव इत्यादि इनकी वाणियों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इनकी रचनाएं 'गुरू ग्रंथ साहब' में महला के नाम से संकलित हैं। पदों और दोहों के अतिरिक्त जपुजी, आसादीवार, रहिरास और सोहिला उनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इन्होंने आडंबरहीन, सीधी–सादी भाषा में अनुभूतिपूर्ण वाणियों की सृष्टि की है। उपमा, रूपक और अन्योक्ति अलंकारों के प्रयोग में इनको विशेष सफलता मिली है। इनकी वाणियां सिटी, आसा, गूजरी, रामकली इत्यादि उन्नीस रागों में निबद्ध हैं। इनकी वाणी का उदाहरण इस प्रकार है–

1. **गुरू के सबदि तरे मुनि केते, इन्द्रादिक ब्रह्मादि तरे,**
   सनक सनंदन तपसी जन केते, गुरू परसादी पार परे।।
2. **रैण गंवाई सोई कै, दिवसु गवाईया खाई।**
   हीरे जैसा जन्म है, कडड़ी बदले जाइ।।

5. धर्मदास :– धर्मदास का नाम कबीर के प्रमुख शिष्यों में लिया जाता है। इनकी जन्मकाल के सम्बन्ध में भी निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। उनके बारे में संत संप्रदाय में यह मान्यता प्रसिद्ध है कि वे कबीर की मृत्यु से लगभग पच्चीस वर्ष बाद मृत्यु को प्राप्त हुए।

इन्होंने कबीर के उपदेशों को संवाद शैली में लिखा तथा अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनके अनुयायियों की शाखा 'धर्मदासी शाखा' या 'छतीसगढ़ी शाखा' के नाम से प्रसिद्ध है। कबीर की वाणियों का संकलन इन्होंने ही 'बीजक' नामक संग्रह में किया है। इनका प्रमुख ग्रंथ 'सुख निधान' है। जिसे कबीर के अनुयायियों में विशेष महत्व प्राप्त है। इनकी रचनाओं का संग्रह 'धर्मदास की बानी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इनकी रचनाएँ भाषा और अनुभूति की दृष्टि से आडम्बरहीन, सरल तथा सीधी–सादी भाषा में रचित है जैसे–

1. **सूतल रहली मैं सखियाँ तो विश कर आगर हो।**

   सतगुरू दिहलै जगाइ, पायौ सुख सागर हो।।

2. **मितऊ मड़ैया सूनी करी गैलो।**

   अपना बलम परदेश निकरि गैलो,

   हमरा के किछुवौ न गुन दै गैलो।।

6. दादू दयाल :– निर्गुण सन्त कवियों में कबीर के बाद दूसरा महत्वपूर्ण नाम दादूदयाल का है। इनका जन्म सन् 1544 ई. में अहमदाबाद (गुजरात) में हुआ था। इनकी जाति के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। बंगाल के 'बाऊल संप्रदाय' में इनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। तथा बाऊलों के वंदना वाक्य 'श्रीयुत दाऊद वन्दि यारे' नाम के आधार पर इन्हें अधिकतर विद्वानों ने जाति से मुसलमान धुनिया माना है।

सम्भवतः ये निरक्षर थे। इन्हें कबीरपंथी बुडडन बाबा से दीक्षा मिली थी। ये गृहस्थ थे। इन्हें 'परम ब्रह्म सम्प्रदाय' का प्रवर्त्तक माना जाता है। बाद में जो 'दादू संप्रदाय' के नाम से सम्बोधित किया गया। इनकी आध्यात्मिक अनुभूति बड़ी तीव्र थी। इनकी वाणियों का संग्रह 'हरडेवाणी' के नाम से प्रसिद्ध है। जिसे बाद में इनके प्रमुख शिष्य रज्जब ने इसमें पायी जाने वाली त्रुटियों का सुधार कर इसे 'अंग बधु' नाम से प्रस्तुत किया। इन्होंने भी नाम महिमा, संसार का मिथ्यात्व, गुरू–गोविंद की एकता हिन्दु–मुस्लिम एकता, छुआछूत एवं जाति–प्रथा के निराकरण एवं निर्गुण ब्रह्म के प्रति निष्ठा, मोह–माया का त्याग इत्यादि सिद्धान्तों पर बल दिया। इनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। अरबी और फारसी के शब्दों का भी बहुत प्रयोग है। दादू की वाणी का उदाहरण इस प्रकार है जिसमें उनके मत का सार समाहित है–

आपा मेटे हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निबैरी सब जीव सों, दादू यहै मत सार।।

प्रिय अर्थात् परमात्मा रूपी प्रियतम के मिलन को व्याकुल तथा उसके वियोग में तड़पती हुई जीवात्मा की विरह व्यथा का बहुत ही मार्मिक चित्रण उन्होंने किया है–

बिरहिणी बधु न सँभारे।
निश दिन तलफे राम कारण, अन्तर एक विचारे।
आतुर भई मिलन के कारण, कहि–कहि राम पुकारे।
श्वास उश्वास निमेष न बिसरे, जिततित पंथ निहारे।
फिरै उदास चहुं दिश चितवत, नैन नीर भर आवे।
राम–वियोग बिरह की जारी, और न कोई भावे।
व्याकुल भई शरीर न समझे, विषम बाण हरि मोर।
दादु दर्शन बिन क्यों जीवे, राम सनेही हमारे।

7. सुन्दर दास :– दादूदयाल के योग्यतम शिष्यों में सुन्दर दास का नाम लिया जाता है। ये वसुर जाति के खंडेल वाल वैश्य थे। इन्हें शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न माना जाता है। इनका जन्म स. 1653 में जयपुर की प्राचीन राजधानी धौसा नगर में हुआ तथा महा प्रस्थान सांगवेर में स. 1746 ई. में माना जाता है। इन्होंने देशाटन किया था। भ्रमण के समय ये दादू के सिद्धान्तों का प्रचार करते थे और साथ ही काव्य ग्रन्थों की रचना भी करते थे। निर्गुण संत काव्य–धारा

में एक प्रकार की अनगढता मिलती है। इस काव्यधारा की कविता में किसी प्रकार का शास्त्रीय विधान उपलब्ध नहीं होता। परन्तु सुन्दर दास की कविता में शास्त्रीय अनुशासन है। काव्य शास्त्र का सम्यक् ज्ञान होने के कारण इनके काव्य में रस–निरूपण तथा अलंकारों की सृष्टि विधिवत् हुई है। समाज की रीति, नीति तथा भक्ति पर इन्होंने हास्य–व्यंग्य तथा विनोदपूर्ण उक्तियां भी कही हैं। लोक जीवन की रूढ़ियों का विरोध और विद्रोह उनके काव्य में नहीं पाया जाता। इनके बयालीस ग्रन्थ कहे जाते हैं, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'सुन्दर विलाप' है। निर्गुण भक्त कवि होने पर भी इन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को भी मान्यता दी है। इनकी रचनाओं की भाषा राजस्थानी है, जिसमें गुजराती, सिंधी, फारसी तथा पंजाबी के शब्द भी मिलते हैं। उनकी निर्गुण काव्य भक्ति का उदाहरण इस प्रकार है–

'गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह संवारी।
मेह सहे सिर सीत सहे तन धूप सभै जो पंचागिनि बारी।
भूख सही रहि रुख तरे पर सुंदर दास सबे दुख भारी।
डासन छाँडि कै कासन ऊपर आसन मारयो तै आस न मारी।।'

8. मलूक दास :– सन्त मलूक दास का जन्म इलाहाबाद के कड़ा नामक गाँव में स. 1631 में हुआ। और देहाँत स. 1739 में हुआ। जन मानस और समाज पर इनके उपदेशों का इतना प्रभाव पड़ा था कि कड़ा, जयपुर, मुलतान, पटना, नेपाल तथा काबुल में इनकी गद्दियाँ स्थापित की गयीं। सन्त मलूक दास ने सतगुरू को परमात्मा के समान माना है। बाह्याडंबर की अपेक्षा वे सच्चे मन से नित्य स्मरण का महत्व मानते हैं

माला जपो न कर जपोय जिभ्या कहौ न राम।
सुमिरन मेरा हरि कहै, मैं पाया बिसराम।।

मलूक दास की कविता में आख्यानशैली का प्रयोग मिलता है। इन्होंने विविध कथाओं का उदाहरण देकर जन–मानस को अपने उपदेश दिए हैं। अवतारों और चरित्रों से संम्बधित भी इनकी रचनाएं मिलती हैं। आत्मबोध, आत्मज्ञान तथा वैराग्य इनकी कविता में मुख्य रूप से पाया जाता है।

''कहत मलूक जो बिन सिर खेपै सो यह रूप बखानै।
या नैया के अजब कथा, कोई बिरला केवट जानै।
कहत मूलक निरगुन के गुन कोई बड़भागी गावै।।
क्या गिरही और क्या बैरागी जेहि हरि देये सो पावै।।''

इनके प्रमाणिक ग्रन्थ हैं – ज्ञान बोध, ज्ञानपरोछि, राम अवतार लीला, रत्नखान, भक्त वच्छावली, भक्ति विवेक, विभवविभूति, सुख सागर, ब्रजलीला, ध्रुवचरित इत्यादि। इन्होंने अवधी और ब्रजभाषा में काव्य रचना की है तथा इनकी भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है।

सन्त परम्परा में उपर्युक्त प्रमुख संतों के अतिरिक्त और भी बहुत से सन्त हुए हैं जिनके नाम उल्लेखनीय हैं– पीपा, धन्ना, सेन, सदना, भवानंद, सुखानंद, आशानंद, सुरसुरानंद, महानंद, श्री आनंद, अनंतानंद, नरहर्यानंद इत्यादि।

14.5.1 स्व–मूल्यांकन (ग)

प्रिय विद्यार्थियों ! आपने ज्ञानमार्गी धारा के प्रमुख कवियों का अध्ययन कर लिया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. नामदेव का जन्म .... को सतारा के नरसी वमनी (बहमनी) गाँव में हुआ था।
2. .... भाषा में रचित नामदेव की रचनाओं में निर्गुणोपासना, कर्मकाण्डों तथा मिथ्या आडम्बरों का खण्डन तथा ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है।
3. कबीर .... थे परन्तु इन्होंने आत्मचिंतन एवं लोक निरीक्षण से ज्ञान प्राप्त किया।
4. कबीर का पालन–पोषण .... नामक जुलाहा दम्पति ने किया।
5. रैदास .... के शिष्य थे।
6. ....ने रैदास को अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है।
7. गुरुनानक देव का जन्म .... ग्राम में हुआ था।
8. गुरुनानक की रचनाएं 'गुरू ग्रंथ साहब' में .... के नाम से संकलित हैं।
9. कबीर की वाणियों का संकलन धर्मदास ने ही .... नामक संग्रह में किया है।
10. बंगाल के 'बाऊल संप्रदाय' में ....का नाम बड़े आदर से लिया जाता है।
11. कड़ा, जयपुर, मुलतान, पटना, नेपाल तथा काबुल में ....की गद्दियाँ स्थापित की गयीं।

14.6. सारांश

इस अध्याय में आपने निर्गुण धारा के अंतर्गत आने वाली ज्ञानमार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान का विस्तृत अध्ययन किया है।

14.7. कठिन शब्द

1. निष्पक्षता – पक्षपात न करने का भाव या अवस्था।
2. अविरोध – विरोध का अभाव, सामंजस्य।
3. विषम – कठिन।
4. बहुदेववाद – अनेक देवी–देवताओं को मान्यता देने वाला सिद्धांत या मत।
5. प्रपत्ति – अनन्य भक्ति।
6. निरुपाधि – मोह–माया आदि से रहित।
7. निर्भीकतापूर्वक –निडरता।

14.8. अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ज्ञानमार्गी शाखा अथवा सन्त काव्य की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

2. सन्तमार्गी शाखा के प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।

14.9. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1.सही 2. गलत 3. सही 4. सही 5. सही 6. गलत 7. सही 8. गलत 9. सही 10. गलत

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. ज्ञान 2. साधना 3. रविदास 4. कबीरदास 5. सद्‌गुरु 6. एकेश्वरवाद 7. ईश्वर अपने भक्तों को भक्ति के अन्तर्गत स्वीकार करता है, जातियों के अन्तर्गत नहीं 8. हिन्दुओं की मूर्तिपूजा पर 9. दो 10. आत्मज्ञान 11. दो 12. सधुक्कड़ी या खिचड़ी

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. 1329 2. सधुक्कड़ी 3. निरक्षर 4. नीरू–नीमा 5. रामानंद 6. मीराबाई 7. तलवंड़ी 8. महला 9. 'बीजक' 10. दादू दयाल 11. मलूक दास

14.10. पठनीय पुस्तकें

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

प्रेममार्गी धारा के काव्य की विशेषताएँ एवं प्रमुख कवियों का योगदान

रूपरेखा

15.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
15.2. प्रस्तावना
15.3 प्रेम मार्गी शाखा
15.3.1. स्व–मूल्यांकन (क)
15.4. प्रेम मार्गी शाखा के काव्य की विशेषताएँ
15.4.1. स्व–मूल्यांकन (ख)
15.5. प्रेम मार्गी धारा के प्रमुख कवियों का योगदान
15.5.1. स्व–मूल्यांकन (ग)
15.6. सारांश
15.7. कठिन शब्द
15.8. अभ्यासार्थ प्रश्न
15.9. उत्तर कुंजी
15.10. पठनीय पुस्तकें

15.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय का उद्देश्य आपको भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के अंतर्गत आने वाली प्रेममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान से परिचित करवाना है।

इस अध्याय का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात आप भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के अंतर्गत आने वाली प्रेममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान को समझने में सक्षम होंगे।

15.2. प्रस्तावना :

प्रिय विद्यार्थियों ! पूर्व अध्याय में आपने भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के अंतर्गत आने वाली ज्ञानमार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान का अध्ययन किया। इस अध्याय में आप निर्गुण शाखा के अंतर्गत आने वाली प्रेममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान का अध्ययन करेंगे।

15.3. प्रेम मार्गी शाखा :

भक्ति–काव्य की प्रथम शाखा निर्गुण काव्यधारा में ज्ञानमार्गी सन्त काव्यधारा के साथ–साथ ही प्रेम मार्गी शाखा का प्रभुत्व भी छाया रहा। प्रेममार्गी शाखा अथवा प्रेमाश्रयी शाखा वस्तुतः ज्ञानमार्गी काव्यधारा के सन्तों की तरह, सूफी सन्तों पर आधारित थी। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में निर्गुण सन्त कवियों ने जहाँ सर्वसाधारण के लिए भक्ति के सामान्य मार्ग की प्रतिष्ठा की और ईश्वर को ज्ञानग्मय और प्रेम प्राप्य कह कर अपने उदारवादी मानवता धर्म को स्थापित

किया। वहीं पर सूफी सन्तों ने भी उसे विकसित करने में अपना पूर्ण योगदान दिया परन्तु सन्त कवियों के विद्रोही और खण्डनात्मक स्वर की अपेक्षा सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा हिन्दु–मुस्लिम दोनों संस्कृतियों को प्रभावित किया। जिसमें वह सन्त कवियों की अपेक्षा अधिक सफल हुए।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा में प्रयुक्त 'सूफी' शब्द के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इसकी व्युत्पित्त अनेक शब्दों से मानी गयी है। 'सूफी' शब्द के मूल अर्थ तक पहुंचने के लिए विभिन्न मत प्रचलित हैं। पहला मत 'सुफ्फा' या सुंफ से इसका सम्बन्ध मानता है। जिसका अर्थ है– 'चबूतरा'। इस मत के मानने वालों का कहना है कि सऊदी अरब के एक पवित्र नगर मदीना की मस्जिद के सामने चबूतरे पर एकत्र हो कर परमात्मा का चिंतन करने वाले संत ही सूफी कहलाए तथा 'सूफी' शब्द की दूसरी व्युत्पित्त 'संफ' शब्द से मानी गयी है। इस मत के विचारकों के अनुसार जीवन पर्यन्त संफा अर्थात् स्वच्छ एव पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले सन्त ही सूफी है। वस्तुतः सूफी उन्हें ही कहना चाहिए जो सांसारिकता से विरक्त हो खुदा की सेवा में निरत रहते हैं और जो न केवल परमात्मा के प्रति निश्चल भाव रखता है बल्कि सारे प्राणियों के साथ शुद्ध बर्ताव भी रखता है संक्षेप में जो मनसा, वाचा एवं कर्मणा से पवित्र हों, वही सूफी कहलाए जा सकते हैं।

सूफी काव्य अपनी अंतवर्ती विशेषताओं के कारण प्रेमाश्रयी, प्रेममार्गी, प्रेम–काव्य, प्रेमाख्यानक तथा कथा काव्य के नाम से जाना गया। क्योंकि इस काव्यधारा की मूल चेतना प्रेम रही है। इसकी प्राप्ति के लिए ही वे नाना मतों, सिद्धान्तों एवं अवस्थाओं का आश्रय लेते हैं। भारत में सूफी सम्प्रदाय का आगमन एवं विकास मुस्लिम साधकों द्वारा ही हुआ। जिन्हें रहस्यवादी भी कहा जाता था। रहस्यवादियों का जन्म इस्लाम के अंतर्गत बहुत पहले हो गया था। यही रहस्यवादी बाद में सूफी कहलाए। ये कवि विदेशी होते हुए भी भारतीय मानस से जुड़े हैं। भारतीय भूमि पर आकर यहाँ के सूफियों की उदारता, धर्म, प्रेम इत्यादि से प्रभावित हुए। इनमें से अधिकांश महान् भक्त थे। समाज की विषमताओं और इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के बाद उत्पन्न नैतिक पतन के कारण ये सूफी भक्त दुखी थे। उनको राज सत्ता से कोई सरोकार नहीं था। उन्होंने मात्र ईश्वर और व्यक्ति के बीच प्रेम सम्बन्ध पर बहुत बल दिया। उनके द्वारा सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण रखने के कारण उनमें और इस्लामिक परम्परावादी तत्वों के बीच कई बार संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। इसके बावजूद उनका रहस्यवादी विचारों का प्रसार बढ़ता रहा। सूफी साधकों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों पर भारतीय आख्यान परम्परा के साथ–साथ फारसी की मसनवी शैली का भी पर्याप्त प्रभाव रहा। यह प्रभाव विषय वस्तु एवं षिल्प दोनों स्तरों पर दिखाई देता है। इनमें भारतीय लोक कथाओं एवं भारतीय काव्य की कथानक रूढ़ियों को आधार रूप में ग्रहण किया गया है। परन्तु इसके केन्द्रीय भाव में मनुष्यता के सामान्य–स्वरूप को लेकर अग्रसर होने वाली सूफी काव्य परम्परा अत्यन्त समृद्ध रही। सूफी कवियों की मूल दृष्टि सम्प्रदाय सापेक्ष न होकर मूल्य–सापेक्ष रही। ये मूल्य समय सापेक्ष होने के साथ–साथ सार्वभौम भी थे। इसी कारण सूफी कविता अपने प्रभाव में कालजयी कविता है।

सूफियों की सम्पूर्ण साधना प्रेमाश्रित रही है। मुसलमान होने के बावजूद इन की दृष्टि मानवतावादी उदार दृष्टि थी। ज्ञान और साधना की उच्चभूमि पर पहुंचने पर भी इनकी दृष्टि में लोक रक्षा और लोकरंजन का प्रभाव बना रहा। भक्तिमार्ग की परम्परा को ग्रहण करते हुए इन्होंने रूढ़ एवं जर्जर तत्वों की जकड़न को स्वीकार नहीं किया। अपनी उदार एवं स्वच्छंद विचारदृष्टि के कारण सूफी कवि हिन्दु–मुसलमान दोनों में एक समान लोकप्रिय हुए क्योंकि उनका दर्शन एवं सिद्धान्त किसी विशेष सम्प्रदाय या पूर्वाग्रह से निर्मित न होकर उनकी उदार मानवीय दृष्टि का ही प्रतिफलन थे। उनका मार्ग उदार प्रेम मार्ग और मनुष्यता रहा

"प्रेम पहार कठिन विधि गढा। सो पैचढे जो सिर सौं चढा।
पंथ सूरि कर उठा अंकूरू। चोर चंढै की चढ मंसूरु।।"

सूफी कवियों ने प्रेम को जीवन के मूल–तत्व के रूप में पहचाना तथा परमात्मा के साथ–साथ प्राणीमात्र के प्रति भी प्रेम का उपदेश दिया। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत साधना में लीन रहते हुए भी लोक–पक्ष को अनदेखा नहीं किया तथा सन्त कवियों के समान बाह्य आडम्बरों के स्थान पर भीतरी तत्वों, हृदय की शुद्धता इत्यादि पर बल दिया। जिसका प्रतिपादन वे मनसा, वाचा, कर्मणा द्वारा करते थे। सन्त कवियों की भाँति सूफी कवियों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों में भी ईश्वर निर्विकार तथा निर्विकल्प है। तथा उसके साथ तादात्मय स्थापित करने के लिए विरह एवं प्रेम की पीड़ा का होना आवश्यक है। वे ईश्वर और जगत को भिन्न नहीं मानते बल्कि ईश्वर ही जगत का रूप है ऐसा स्वीकार करते हैं।

प्रेमाश्रयी शाखा के इन सूफी कवियों ने गुरू को भी मान्यता प्रदान की है तथा शैतान की सत्ता को भी स्वीकार किया है तथा माना है कि पीर या गुरू ही साधक को शैतान के शिकंजे से मुक्त करवा कर इसे प्रगति की ओर अग्रसर करता है।

15.3.1. स्व–मूल्यांकन (क)

प्रिय विद्यार्थियों! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें।

1. प्रेममार्गी शाखा अथवा प्रेमाश्रयी शाखा सूफी सन्तों पर आधारित थी। ( )
2. सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा मात्र मुस्लिम संस्कृति को प्रभावित किया। ( )
3. जो मनसा, वाचा एवं कर्मणा से पवित्र हों, वही सूफी कहलाए जा सकते हैं। ( )
4. प्रेममार्गी काव्यधारा की मूल चेतना प्रेम रही है। ( )
5. सूफी साधकों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों पर भारतीय आख्यान परम्परा के साथ–साथ फारसी की मसनवी शैली का भी पर्याप्त प्रभाव रहा। ( )
6. सूफी कवियों की मूल दृष्टि सम्प्रदाय सापेक्ष रही। ( )
7. सूफियों की सम्पूर्ण साधना ज्ञानाश्रित रही है। ( )
8. सूफी कवियों ने व्यक्तिगत साधना में लीन रहते हुए लोक–पक्ष को अनदेखा किया। ( )
9. सूफी कवियों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों में ईश्वर निर्विकार तथा निर्विकल्प है। ( )
10. सूफी कवि ईश्वर और जगत को भिन्न नहीं मानते। ( )
11. सूफियों ने माना है कि पीर या गुरू ही साधक को शैतान के षिकंजे से मुक्त करवाकर इसे प्रगति की ओर अग्रसर करता है। ( )

15.4. प्रेममार्गी अथवा सूफी काव्य की विशेषताएँ

1. सांस्कृतिक उदारता :– सूफी कवियों की विचार दृष्टि सरल, उदार और मानवतावादी थी। उन्होंने सबको एक दृष्टि से देखा और विदेशी होने के बावजूद बिना धर्म, भाषा और देश का ध्यान किये हुए मानवता के सामान्य–स्वरूप

को स्थापित किया। समाज में घर कर चुकी कुरीतियों और विसंगतियों को उन्होंने सन्त कवियों की भांति ही दूर करने का प्रयास किया। हिन्दू–मुस्लिम के बीच फैली वैमनस्य की आग को बुझाने तथा उनमें सांस्कृतिक एकता स्थापित करने में उनके समानतावादी स्वर का विशेष योगदान रहा। उनके प्रेमाख्यानों में जितने भी चरित्र मिलते हैं वह हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं। उन्होंने दोनों जातियों हिन्दू और मुस्लिम के साथ–साथ समाज की अन्य उपेक्षित कही जाने वाली निम्न जातियों को भी स्वजाति की श्रेष्ठता अथवा हीनता से मुक्त करने का यत्न किया। उनके अनुसार सभी मनुष्य एक ही ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं और जब ईश्वर का ही कोई रूप, रंग, रेखा अथवा आकार नहीं है तथा वह भी धर्म, जाति, वंश, गोत्र से मुक्त है तो जिन प्राणियों की उसने सृष्टि की है वह उससे भिन्न कैसे हो सकता है। इसलिए उनका मानना था कि सभी जीवों में एक ही ईश्वर अथवा अल्लाह का नूर है। उनके अनुसार मानव में ही ईश्वर के पूर्ण रूप की अभिव्यक्ति हुई है। सूफी काव्य में समाज की मानवतावादी प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह नहीं है बल्कि उन्होंने उसे दूर करने के लिए 'प्रेम' के शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने उस अव्यक्त सत्ता परम ब्रह्म को भी 'प्रेम' के द्वारा ही गम्य बताया और कहा कि यह प्रेम की साधना हिन्दु–मुस्लिम दोनों के लिए समान है। हिन्दु–मुस्लिम के ब्राह्य भेदों की भीतर तात्त्विक एकता की घोषणा करते हुए कहा – ''विधिना के मार्ग हैं तेते, सागर, नखत तन रोवां जेते''

2. मुसलमान कवि :– प्रेमश्रायी धारा के सभी सूफी कवि मुसलमान थे। सूफी काव्य के रचयिता भले ही मुसलमान हैं परन्तु हिन्दू परिवेश और संस्कारों के वर्णन में वे पूर्णतया भारतीय ही हैं। हिन्दू–मुस्लिम दोनों की संस्कृतियों को मिलाने के इन्होंने जो प्रयास किए वे सराहनीय हैं। मुसलमान होकर भी अपने प्रेमाख्यानों में हिन्दू चरित्रों, रीति–रिवाजों तथा उनके धर्म को अपने काव्य में यथोचित स्थान देते हुए उनके द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की उनकी वैचारिक उदारता और सहृदयता का प्रतीक है। उन्होंने अपने हिन्दू पृष्ठभूमि पर रचे काव्य में हिन्दुओं की सभ्यता और संस्कृति के अन्तर्गत उनके व्रतों, तीज–त्यौहारों, ज्योनार, बंसत, सावन, गौना, गीत, तथा विभिन्न देवी–देवताओं के पूजन सम्बन्धी प्रसंग बड़े विस्तारपूर्वक चित्रित किए हैं। सूफी कवियों की यह हिन्दू धर्म से सम्बन्धित लेखन परम्परा निश्चय ही उनके अद्‌भुत साहस और बहुज्ञता का परिचय देती है कि कैसे उस समय के कट्टर इस्लामी साम्राज्य के हिन्दू–विरोधी वातावरण में उन्होंने मुसलमान होकर भी प्रत्येक प्रकार की संकीर्णता से ऊपर उठ कर मात्र मानव–प्रेम की स्थापना के लक्ष्य को सामने रखा।

यद्यपि सभी सूफी संत मुसलमान थे तथा अपने मत को कुरान से सम्बन्धित मानते थे। परन्तु इस्लाम की मात्र अपने अल्लाह के प्रति एकेश्वरवादी धारणा सूफी कवियों को स्वीकार्य नहीं थी। फारस के सूफी सन्तों ने अल्लाह और इन्सान को एक ही सत्ता होने की घोषणा की जो इस्लाम के मूल सिद्धांतों के विपरीत थी क्योंकि इस धर्म में अल्लाह और इन्सान को पृथक–पृथक् सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी कारण सूफी मत कट्टर मुसलमानों द्वारा षरीयत या इस्लामी धर्मशास्त्र के विरुद्ध माना जाता है तथा इन कवियों को भी इसीलिए सूफी अथवा असूफी कवियों के रूप में विभाजित किया जाता है।

3. मसनवी शैली और भारतीय परिवेश के कथानकों का समन्वय :– सूफी कवियों ने अपने काव्य में यद्यपि अरब और फारस की प्रेमकथाओं की अपेक्षा भारतीय प्रेम–कथानकों का चयन किया है परन्तु उन्हें भारतीय चरित–काव्यों की सर्गबद्ध शैली के स्थान पर फारसी की मसनवी शैली का अनुकरण करते हुए प्रस्तुत किया है। इस शैली के अनुसार उन्होंने अपने काव्यों में नायक के रूप में आत्मा को प्रेमिका (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील दिखाया है तो भारतीय पद्धति के अनुसार प्रेमिका (स्त्री) प्रेमी (पुरुष) की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहती है। सूफी कवि जायसी ने अपने प्रेम–काव्य 'पद्‌मावत' में पदमावती के सतीत्व एवं पति–प्रेम के दृश्य चित्रित कर भारतीय पद्धति का निर्वाह किया है। इस विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का भी कहना है, ''कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों

ने प्रायः उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती आई हैं। जैसे चित्र–दर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक–सारिका द्वारा नायिका का रूप देखकर या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु–पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मन्दिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना इत्यादि।''

सूफी कवियों ने मुसलमान होकर भी हिन्दुओं की प्रचलित कहानियों को चुना। भारतीय लोक–साहित्य और परम्परा के निकट आने के प्रयास में सूफी कवियों ने भारतीय साहित्य पद्धति पर बारहमासा, षटऋतु, ज्योतिष, कामशास्त्र, शकुन–विचार लोक विश्वास, जादू–टोना, तीर्थ, व्रत–त्यौहार इत्यादि का भी अपने काव्य में समावेश किया तथा इस माध्यम से हिन्दू–मुस्लिम दोनों संस्कृतियों को मिलाने का भी प्रयास किया।

4. लोक–पक्ष एवं हिन्दू–संस्कृति :– प्रेम मार्गी सूफी कवियों ने अपने काव्य में लोक–पक्ष एवं हिन्दू–संस्कृति का बड़ा सुन्दर समन्वय किया है। अपने काव्य के माध्यम से इन्होंने भारतीय लोक साहित्य और परम्परा के निकट आने का प्रयास किया सन्त कवियों के प्रेम में वैयक्तिकता अधिक है जबकि सूफी कवियों के प्रेम के परिवेश में वैयक्तिकता के साथ–साथ समष्टिगतता तथा और भी बहुत कुछ है। यही कारण है कि इनके प्रेम–काव्यों में लोक जीवन का भी चित्रण है जैसे इन काव्यों में जिनकी अधिकांश कथाएँ हिन्दू प्रसंगों पर आधारित हैं, इनमें हिन्दू आचार–विचार रहन–सहन, लोक व्यवहार, लोकोत्सव, तीर्थ, व्रत इत्यादि का चित्रण किया गया है। सूफी कवियों को हिन्दू संस्कृति एवं धर्म का ज्ञान था इसलिए इन्होंने हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का भी अपने काव्य में प्रतिपादन किया है। हिन्दू पात्रों में हिन्दू तथा मुस्लिम पात्रों में मुस्लिम आदर्शों की प्रतिष्ठा की गयी है जोकि युगानुकूल है। हिन्दू संस्कृति से जुड़े इनके काव्यों में आये प्रसंग और वर्णन भारतीय पद्धति पर ही आधारित हैं। जैसे सूफी कवि जायसी के विख्यात प्रेमाख्यान 'पद्मावत' में आये विभिन्न प्रसंग भारतीय संस्कृति से ही जुड़े हुए हैं। प्रसंगानुसार इन कवियों ने षट–ऋतुओं तथा बारहमासा का वर्णन भी भारतीय पद्धति के अनुसार किया है तथा भारतीय ज्योतिष, रसायन–शास्त्र तथा आयुर्वेद के ज्ञान का भी परिचय दिया है। जिससे सिद्ध होता है कि इन्हें हिन्दू धर्म और संस्कृति का ज्ञान था जिसके सुन्दर चित्रण के साथ–साथ इन्होंने लोक–पक्ष को भी अनदेखा नहीं किया। इनके काव्यों में वर्णित सांस्कृतिक वातावरण से तत्कालीन जीवन को समझने में भी सहायता मिलती है। इनके प्रेमाख्यानों में भारतीय इतिहास और कल्पना का भी सुन्दर समन्वय हुआ है।

5. मंडनात्मकता :– निर्गुण सन्त कवियों ने भक्ति के सामान्य मार्ग की प्रतिष्ठा से हिन्दू–मुस्लिम एकता को स्थापित करने तथा सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए विद्रोही और खण्डनात्मक स्वर का आश्रय लिया। जिससे समाज का कुछ हिन्दू–मुस्लिम मिश्रित वर्ग उनसे चिढ़ भी गया था किन्तु उदार और कोमल स्वभाव के सूफी कवियों ने किसी धर्म, जाति या किसी भी प्रकार का साम्प्रदायिक खण्डन–मण्डन नहीं किया। बल्कि अपनी प्रेम–भावना के बल पर समाज और लोगों के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं को सरल सहज स्वाभाविकता के साथ अपने काव्यों में चित्रित कर दिया। जिससे हिन्दू–मुस्लिम दोनों जातियों की एकता का अधिक प्रभाव उभर कर सामने आया, क्योंकि इन्होंने कहीं पर भी सीधा प्रहार करने की अपेक्षा एक मनोवैज्ञानिकता का सहारा लिया, जिसमें इन्हें अधिक सफलता मिली। आचार्य शुक्ल इस विषय में कहते हैं, ''प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।''

6. चरित्र–चित्रण :– ऐसे प्रेमाख्यानों में विभिन्न प्रकार के पात्र प्राप्त होते हैं। जैसे मानवीय तथा अमानवीय पात्र, मुख्य, गौण तथा अनावश्यक पात्र, ऐतिहासिक, एवं काल्पनिक पात्र। इन प्रेम काव्यों में नायक और नायिकाओं के जीवन के उतने अंशों को ग्रहण किया गया है, जिनसे प्रेम के विविध प्रसंगों और व्यापारों की अभिव्यक्ति सम्भव थी। परिवेश की संदर्भ–सापेक्षता का बोध सूफी कवियों को था। यही कारण है कि उनके मानवीय–चरित्र भारतीय

परिवेश की उपज है। इनके मानवीय श्रेणी से सम्बन्धित पात्रों में राजकुमार, राजकुमारी तथा उनसे सम्बन्धित अन्य पात्र आते हैं। मानवीय चरित्र की तमाम विशेषताओं से यह पात्र युक्त दिखाई देते हैं। नायिकाएं ह्वासोन्मुख संस्कृत–साहित्य की नायिकाओं के समान एक ही सांचे में ढली हुई हैं। उनमें जीवन के विविध घात–प्रतिघातों का अभाव है। जैसे जायसी के 'पद्मावत' में नागमती और पद्मावती के विवाद में नारी सुलभ असूदा भाव का, नागमती के विरह में भारत की मध्यकालीन नारी और उसके भावों का प्रकाशन हुआ है। नायक का स्वरूप भी प्रायः पूर्व से ही निश्चित –सा दृष्टिगोचर होता है। इनके काव्यों में नायक के प्रतिद्वंद्वी के रूप में प्रतिनायक का अस्तित्व प्रायः नहीं है– नायक का विरोध प्रायः नायिका के पिता या संरक्षक के द्वारा ही होता है। संस्कृत साहित्य के समान इनके नायक वातावरण से सम्बद्ध हैं। वे राजकुमार होने के नाते पराक्रमशील भी हैं किन्तु उनका यह पक्ष गौण भी है क्योंकि वे सभी साधक के नाते प्रेम के टेढ़े–मेढ़े रास्ते पर भी बढ़ने वाले हैं। मुख्य, गौण अथवा अनावश्यक पात्र ऐतिहासिक एवं काल्पनिक दोनों प्रकार के उपलब्ध हो जाते हैं। ऐतिहासिक पात्रों यथा राघव, चेतन के चित्रण में तो इन्होंने कल्पना का रंग चढ़ा ही दिया है, काल्पनिक पात्रों के अन्तर्गत देवताओं, परियों, परेवा इत्यादि का चित्रण किया है। मानवेतर प्राणियों के वर्ग में राक्षस, असुर, बैताल, हंस, तोता, अप्सराएँ, परियाँ इत्यादि आते हैं। ये चरित्र स्थिति विशेष को आगे बढ़ाने की सहायक भूमिका में इनके काव्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनके प्रेम–काव्यों का अर्थ और इति प्रेम है और सभी पात्र उसकी साधना एवं सिद्धि में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में लीन रहते हैं।

7. प्रेम–भावना :– सूफी कवियों की प्रेम–भावना अभिनव रूप में फारसी की प्रेम पद्धति से प्रभावित है। सूफी प्रेमाख्यानकारों अथवा कवियों ने भारतीय और विदेशी प्रेम पद्धतियों को मिला कर प्रेम का आदर्श रूप स्थापित किया है। दाम्पत्य प्रेम की चारों पद्धतियों में से चौथी पद्धति जिसमें कि गुण, श्रवण, चित्र, दर्शन, स्वप्न इत्यादि से प्रेम उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को संयोग के लिए प्रयत्नवान करता है। सूफी कवियों ने इसी पद्धति को अपनाया है। फारस के प्रेम में नायक के प्रेम का वेग अधिक तीव्र दिखाई देता है और भारत के प्रेम में नायिका के प्रेम का। सूफी कवि जायसी ने आगे चलकर नायक और नायिका दोनों के प्रेम की तीव्रता को समान करके दोनों आदर्शों का एक में मेल कर दिया है। यहीं नहीं इन्होंने फारसी की मसनवियों के ऐकांतिक, लोक बाह्य और आदर्शात्मक प्रेम को भारतीय प्रेम पद्धति के लोकसंबद्ध और व्यवहारात्मक रूप में समन्वित कर दिया है। सूफी कवियों ने भारतीय प्रेमाख्यानों को ही अधिकांशतः अपने काव्य का विषय बनाया है एवं इन काव्यों में लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की गई है। सूफी कवियों के अनुसार ईश्वर एक है और आत्मा उसी का अंश है। इन प्रेम कथाओं में चित्रित अलौकिक प्रेम द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के प्रति तीव्र प्रेम के साधना मार्ग की कठिनाइयों का चित्रण किया गया है।

8. प्रबन्ध कल्पना :– सूफी कवियों का काव्य प्रबन्ध काव्यों की कोटि में आता है जिसमें अलौकिक प्रेम के माध्यम से लौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की गई है तथा मात्र प्रेम कहानी का चित्रण न करते हुए प्रेम तत्व के सार रूप का निरूपण करना भी इन कवियों का उद्देश्य रहा है। जहाँ पर उन्होंने प्रबन्ध संगठन आदि का ध्यान रखा है। अपने उद्देश्य की अनुकूलता के लिए इन्होंने कहानी की घटनाओं में अपनी सुविधानुसार परिवर्तन एव परिवर्धन भी किया तथा नये–नये दृश्य, पात्र, प्रसंग, वातावरण एवं घटनाओं का निर्माण भी किया। प्रबन्ध काव्योचित वस्तु एवं घटना–वर्णन में जो प्रवाह और गति अपेक्षित होती है, प्रायः इन काव्यों में उसका अभाव है। परन्तु कथावस्तु के निर्वाह एवं वस्तु–वर्णन में सभी सूफी कवियों ने प्रबन्ध रूढ़ियों की सहायता ली है काव्यों की क्रम योजना में भी प्रायः रूढ़ियों की सहायता ली है। काव्यों की क्रम–योजना भी प्रायः समान ही है। सर्वप्रथम मंगलाचरण में ईश्वर की सर्वशक्ति मत्त का वर्णन, तत्पष्चात हजरत मुहम्मद और उनके सहयोगियों की प्रशंसा कर दी जाती है।

9. भाव–व्यंजना एवं रस निरूपण :– सूफी कवियों का काव्य मूल विषय –वस्तु के रूप में 'प्रेम' से जुड़ा है। काव्यशास्त्र की भाषा में जिसे 'शृंगार' कहा जा सकता है। शृंगार के मुख्य दो पक्ष हैं संयोग तथा वियोग। इन्होंने

प्रेम के वियोग पक्ष को अधिक महत्व दिया है। वस्तुतः इस माध्यम से वह ईश्वर से मिलन–संयोग के विविध सोपानों के वर्णन का मार्ग निकाल लेते हैं। यही कारण है कि प्रेमी–प्रेमिका की वियोगावस्था में पाये जाने वाले कष्टों का अन्त करने के लिए जितने विभिन्न प्रकार के प्रयत्न उन्होंने किये हैं उतना संयोगावस्था के अंतिम मिलन पर नहीं। विरहावस्था का वर्णन करते समय उन्होंने भारतीय पद्धति के अनुसार ही बारहमासे का बड़ा मार्मिक और सुन्दर चित्रण किया है। संयोगावस्था का यह कवि कोई उत्कृष्ट परिचय नहीं दे पाये हैं। इसे इन्होंने कभी भोग–विलास का साधन माना है तो कभी उसका रहस्यात्मक अर्थ कर डाला है। इसके अतिरिक्त इन काव्यों में प्रेम भावना के साथ–साथ प्रसंगवश शोक, उत्साह, भय, वीभत्स, हास, ईर्श्या, उत्सुकता, सहानुभूति, दया, विवश ता इत्यादि अन्य जीवन के प्रमुख भावों की भी अभिव्यंजना हुई है।

10. शैतान :– सूफी कवियों ने अपने काव्य में शैतान को माया के रूप में चित्रित किया है जो साधक को प्रेम के साधना–मार्ग से भटकाने वाला है। तत्पश्चात् साधक की मुक्ति को उन्होंने पीर अथवा गुरू की कृपा से सम्भव माना है। जायसी के 'पद्मावत' में राघवचेतन को शैतान के रूप में ही चित्रित किया गया है। सन्त कवियों ने जहां पर माया को हेय सिद्ध कर त्यागने की बात कही है वहीं पर सूफियों ने शैतान की उपस्थिति को साधक की परम ब्रह्म तक पहुंचने की अवस्था में अग्निपरीक्षा के समान माना है क्योंकि इनके अनुसार उसके द्वारा उत्पन्न किए गये व्यवधानों से ही साधक के प्रेम में दृढ़ता और निश्चलता आती है।

11. सूफी रहस्यवाद :– सूफी कवियों का रहस्यवाद अपनी प्रभावोत्पादकता एवं सरलता के कारण विशेष महत्व रखता है। यद्यपि यह रहस्यवाद प्रेमाख्यानों पर ही आधारित है। जिसमें प्रेमी–प्रेमिका के माध्यम से आत्मा और परमात्मा का मिलन दिखाया जाता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, ''सूफियों का रहस्यवाद शुद्ध भावात्मक कोटि में आता है जबकि सन्तों का रहस्यवाद साधनावाद कोटि में, क्योंकि उसमें विविध यौगिक प्रतिक्रियाओं का उल्लेख है।'' सूफी कवियों का रहस्यवाद प्रेम के भावनात्मक रूप पर आधारित है। जिसे प्रेम–कहानियों और नायक–नायिका के वियोग, एक दूसरे को पाने के प्रयत्नों में अनेक प्रकार की विघ्न–बाधाओं तथा अन्त में मिलन इत्यादि स्थितियों के अन्तर्गत इन कवियों ने आध्यात्मिक संकेत भर दिए हैं। लौकिक प्रेम–कथाओं का यह अलौकिक और आध्यात्मिक रूप रहस्यवाद की अवस्था का प्रतीक है। सूफी कवियों का रहस्यवाद भक्त को पुरुष और परमात्मा को स्त्री के रूप में चित्रित करता है। सूफियों का रहस्यवाद शृंगारिक वर्णनों से भी युक्त है जहाँ पर संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष का अत्यधिक चित्रण हुआ है। इनका रहस्यवाद सन्त कवियों से भिन्न है क्योंकि उनका रहस्यवाद ज्ञान पर आधारित था और इनका रहस्यवाद सरल और हृदय की विभिन्न अनुभूतियों से जुड़ा हुआ है। सूफियों ने ईश्वर और जगत दोनों को ही सत्य मान कर अपने रहस्यवाद की रचना की है।

12. भाषा शैली, अलंकार एवं छन्द :– सूफियों की भाषा शैली ठेठ अवधी रही है। वस्तुतः जन–साधारण में प्रचलित भाषा का सरल एवं सरस रूप ही इनके यहाँ प्रयोग में लाया गया है। लोक प्रचलित देशज एवं विदेशी शब्द भी इनके यहाँ देखे जा सकते हैं। इनमें अरबी, फारसी, तुर्की, तद्भव, भोजपुरी आदि भाषा के शब्द प्रमुख हैं। सूफी कवियों ने अवधी भाषा के मुहावरों तथा लोकोक्तियों का भी अच्छा प्रयोग किया है। अलंकारों के प्रयोग में परम्परा पालन की प्रवृति ही प्रमुख रही है। विषय की अपेक्षा के अनुरूप ही इन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अन्योक्ति तथा अतिशयोक्ति इत्यादि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग अपने काव्यों में किया है। इसके अतिरिक्त अन्य अलंकार भी यथोचित रूप में इनके काव्य में उपलब्ध हैं। छन्द प्रयोग की दृष्टि से सूफी कवियों ने फारसी के बहरों को छुट–पुट प्रयोग करते हुए भाषा के अपने छंद विधान को अपनाया है। इनके द्वारा प्रयुक्त मुख्य छंद दोहा–चौपाई छन्द है। कितनी अर्द्धालियों के बाद धता देने के लिए दोहा या अरिल्ल इत्यादि छन्द का प्रयोग किया जाये, इस सम्बन्ध में किसी

एक नियम का पालन नहीं किया गया। इनके काव्यों में दोहा–चौपाई के प्रयोग के अतिरिक्त सोरठा, बरवै, कवित्त, सवैया, कुण्डलिया तथा झूलना इत्यादि का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है।

15.4.1. स्व–मूल्यांकन (ख)

प्रिय विद्यार्थियों ! आपने प्रेममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं का अध्ययन कर लिया है। अब आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें। यह स्व–मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. प्रेमाख्यानों में जितने भी चरित्र मिलते हैं वह ....दोनों हैं।
2. प्रेमश्रायी धारा के सभी सूफी कवि .... थे।
3. सूफी कवियों ने अपने काव्य में .... प्रेम–कथानकों का चयन किया है।
4. सूफी कवियों के प्रेम–काव्यों में ....का भी चित्रण है।
5. इनके प्रेमाख्यानों में .... इतिहास और कल्पना का भी सुन्दर समन्वय हुआ है।
6. ....ने किसी धर्म, जाति या किसी भी प्रकार का साम्प्रदायिक खण्डन–मण्डन नहीं किया।
7. सूफी कवियों के काव्यों में नायक का विरोध प्रायः नायिका के ....के द्वारा ही होता है।
8. सूफी कवियों के काव्यों में लौकिक प्रेम के द्वारा ....की अभिव्यंजना की गई है।
9. कथावस्तु के निर्वाह एवं वस्तु–वर्णन में सभी सूफी कवियों ने ....की सहायता ली है।
10. सूफी कवियों ने प्रेम के ....पक्ष को अधिक महत्व दिया है।
11. सूफियों का रहस्यवाद शुद्ध .... कोटि में आता है।
12. सूफियों की भाषा शैली ....रही है।
13. सूफियों द्वारा प्रयुक्त मुख्य छंद ....है।

15.5. प्रेममार्गी धारा के प्रमुख सूफी कवि :

1. मुल्ला दाऊद :– सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा का आरम्भ मुल्ला दाऊद या मौलाना दाऊद की रचना 'चंदायन' से माना जाता है। इसलिए मुल्ला दाऊद को प्रेममार्गी काव्यधारा का प्रथम कवि कहा जा सकता है। ये अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन थे। इनकी प्रसिद्ध रचना 'चंदायन' का काल सं. 1375 वि. के लगभग माना जाता है। मिश्रबन्धु इसका रचना काल सं. 1385 वि. के लगभग स्वीकार करते हैं। 'चंदायन' की कथावस्तु में एक प्रचलित लोक गाथा है। इसके पात्र एवं घटनाएँ निम्न वर्ग के समाज के साथ सम्बद्ध है। यह लोर या लोरिक तथा चन्दा की प्रेमकथा है। विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें भारतीय प्रेमाख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों का निरूपण हुआ है तथा लोक प्रचलित विश्वासों के साथ–साथ परम तत्व से प्रेम की व्यंजना की गई है। 'चंदायन' में से एक दोहा दृष्टव्य है–

''पियर पात जस बन जर, रहेऊँ काँप कुँभ लाई।
विरह पवन जो डोलेउ, टूट परेउं घहराई।।''

इस काव्य की भाषा अवधी है तथा इसमें दोहा, चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है।

2. कुतुबन :– सूफी कवि कुतुबन चिश्ती संप्रदाय के प्रमुख प्रचारक शेख बुरहान के शिष्य थे। ये जौनपुर के मुसलमान सुलतान हुसैनशाह के समकालीन और आश्रित थे। इन्होंने अपने प्रसिद्ध प्रेमाख्यान 'मृगावती' की रचना 99 हिजरी (संवत् 1558) में की। इसमें चंद्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगवती की प्रेम कथा का वर्णन है। इस कहानी की नायिका जो उड़ने की विद्या में निपुण बतायी गयी है। नायक का उस पर आसक्त होना, अनेक कष्ट प्राप्त करके उसे हासिल करना, राजकुमारी का उसे छोड़ कर हवा में उड़ जाना, राजकुमार का उसके वियोग में अत्यन्त व्याकुल हो उठना, राजपाट छोड़कर योगी बन जाना इत्यादि घटनाएँ तारतम्यपूर्ण तरीके से पिरोयी गयी हैं। इस कहानी के माध्यम से कवि ने प्रेममार्गी के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच–बीच में सूफियों की शैली पर बड़े सुन्दर रहस्यमय आध्यात्मिक संकेत है। प्रेमाख्यान की परिणति शांत रस में दिखाई गई है।

रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंति सत सों सति भई।
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई।।
विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहिं निआनु।।

3. मंझन :– मंझन की रचना का नाम 'मधुमालती' है। 'मधुमालती' नाम की अन्य रचनाओं का भी पता चलता है। यद्यपि 'मधुमालती' का उल्लेख जायसी ने अपने पद्मावत में किया हुआ है परन्तु कहा जाता है कि यह मंझन द्वारा रचित नहीं है। कवि के जीवन–वृतांत के विषय में अभी तक कुछ पता नहीं चला है। माना जाता है कि मंझन जायसी के समकालीन थे। चुनार उत्तर –प्रदेश के रहने वाले थे तथा सत्तारी संप्रदाय के शेख मुहम्मद गौस के शिष्य थे। 'मधुमालती' का कथानक कल्पना पर आधारित है। महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती और कनेसर के राजकुमार मनोहर की प्रेमकथा इसमें वर्णित है। इन दोनों का प्रेम सम्बन्ध परियों के द्वारा सम्पन्न होता है। परियाँ राजकुमार को सुप्तावस्था में उठा कर ले जाती हैं और मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचा देती है और फिर उसे लौटा भी जाती है। बीच में मधुमालती माँ के शाप से चिड़िया बन जाती है और राजकुमार राज्य छोड़ कर जोगी बन जाता है। इस कथानक का वर्णन रोचक एवं चित्तकर्षक है। इसमें जो संकेत अध्यात्मिक प्रेम के वर्णन के लिए अपनाए गये हैं वे कथा और वर्णन शैली को और भी अधिक सुन्दर बना देते हैं। कथा की रोचकता और वर्णन शैली की उत्कृष्टता के कारण इस काव्य का अपने समय में बहुत प्रचार जान पड़ता है। इसकी भाषा भी अवधी है तथा ये दोहा–चौपाई छन्द में लिखा गया है।

4. मलिक मुहम्मद जायसी :– सूफी कवियों और साधकों के बीच में जायसी का स्थान सर्वापरि है। ये अवध में जायस नामक स्थान के निवासी होने के कारण जायसी कहलवाए। परन्तु इनके जीवन परिचय के विषय में मतभेद हैं। विभिन्न विद्वानों के मतानुसार इनका जन्म 1499 ई. तथा मृत्यु 1542 ई. के आसपास अमेठी में हुई मानी जाती है। जायसी के तीन ग्रन्थ प्रमाणिक माने जाते हैं– आखरी कलाम, अखरावट तथा पद्मावत। आखरी कलाम और अखरावट का महत्व साहित्यिक दृष्टि की अपेक्षा साम्प्रदायिक दृष्टि से माना जाता है। 'आखरी कलाम' में प्रलय, सृष्टि के अन्त तथा मुहम्मद साहब के महत्व का वर्णन है। इसमें यह भी बताया गया है कि सृष्टि के अन्त में क्या व्यवस्था होती है। भूत आत्माओं को पैगम्बर साहब अल्लाह के समक्ष ले जाते हैं और जिब्राइल आदि फरिष्ते उनके कर्मों के अनुसार दण्ड निर्धारित करते हैं। यह एक सूफी सिद्धान्तों का ग्रन्थ है। 'अखरावट' में ईश्वर, जीव, ब्रह्म, सृष्टि–निर्माण, गुरू तथा धर्माचार आदि की सैद्धान्तिक विवेचना की गई है। यह ग्रन्थ भी सूफी सिद्धान्तों से भरा हुआ है। 'पद्मावत' जायसी की अमर रचना है। इसमें रत्नसेन और पद्मावती की लौकिक प्रेम कहानी के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यजंना

की गई है। जहाँ दूसरे सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में काल्पनिक कहानियां अपनाई वहाँ जायसी ने 'पद्मावत' में लोक–प्रचलित कथा में ऐतिहासिकता का भी सुन्दर समन्वय किया है। इस ग्रन्थ की खास विशेषता है कि इसमें प्रेम की साधना और सिद्धि दोनों अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। इसकी कथावस्तु चित्तड़ के राजा रत्न सेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम से संप्रेक्षित है। तोते द्वारा पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन रत्नसेन द्वारा सुनना तथा उस पर मोहित होकर उसे प्राप्त करने से लिए योगी बन कर सिंहलद्वीप की ओर चल पड़ना, अनेक कष्टों को सह कर उसे प्राप्त करना उसे चित्तौड़ लाना, पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन सुन कर अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण करना, राजा का स्वर्गवास होना, पद्मावती का उसके साथ सती होना इत्यादि प्रमुख घटनाओं के साथ–साथ इसमें रत्नसेन की पहली पत्नी नागमती के वियोग वर्णन तथा अन्य कई घटनाओं का भी चित्रण है। जिसमें जायसी ने ऐतिहासिकता का भी प्रयोग किया है। भाषा की दृष्टि से भी यह काव्य उच्च कोटि का है। यह अवधी में लिखा गया है किन्तु इसमें साहित्यिक भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है यह लोक–भाषा का काव्य है। कहीं–कहीं मुहावरों और कहावतों का भी प्रयोग हुआ है। परन्तु वे अत्यन्त स्वाभाविक रूप से ही काव्य में चित्रित हुए हैं। इसमें कवि ने दोहा, चौपाई, छन्दों का भी प्रयोग किया है। जायसी ने अपने काव्य में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति, अन्योक्ति, रूपकातिषयोक्ति, श्लेष, व्यतिरेक, तदगुण, विभावना, सन्देह, अनुप्रास तथा निदर्शना आदि अलंकारों का भी प्रयोग किया है।

5. उसमान :– सूफी काव्य परम्परा में उसमान का अत्यधिक महत्व है। ये गाजीपुर के रहने वाले थे तथा बादशाह जहाँगीर के समकालीन थे। ये चिश्ती संप्रदाय के हाजी बाबा के शिष्य थे। इन्होंने 'चित्रावली' की रचना की है। इसका कथानक सर्वथा कल्पित है। पर कवि ने इसे बड़े कौशल से सूफी साधना का अध्यात्मिक रूप दे दिया है। इस काव्य–कृति में भी वही संदेश दिया गया है जो सभी सूफी सन्तों का जीवन सूत्र रहा है। चित्रावली में घटना विस्तार पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है। इसका कथानक कल्पनाश्रित है। इस काव्य में नेपाल के राजा धरनीधर पंवार के पुत्र सुजान और कंवलावती तथा चित्रावली के प्रेम और विरह का वर्णन है। राजकुमार सुजान एक साधक है, जो एक लम्बी और अत्यंत कष्टदायक साधना के पश्चात चित्रावली को प्राप्त करता है। इसमें उसमान ने नगर, समुद्र, यात्रा, ऋतु, विरह इत्यादि का बड़ा सुन्दर और सजीव चित्रण किया है। काव्य कला की दृष्टि से भी चित्रावली का महत्व पद्मावत से किसी भी प्रकार कम नहीं है। सूफी कवियों के अन्य ग्रन्थों की तरह इस काव्य की भाषा भी अवधी है तथा इसमें भी दोहा, चौपाई, छन्दों का प्रयोग किया गया है।

6. नूर मुहम्मद :– नूरमुहम्मद जौनपुर जिले के सबरहद नामक स्थान के निवासी थे। ये दिल्ली के सुलतान मुहम्मदशाह के समकालीन माने जाते हैं। ये फारसी के विद्वान् थे परन्तु हिन्दी काव्य–रचना में भी रुचि रखते थे। इन्होंने 'इन्द्रावती' और 'अनुराग–बाँसुरी' दो काव्य ग्रन्थ लिखे। इन्द्रावती में कालिंजर के राजकुमार, राजकुंवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम कथा है। ''अनुराग–बाँसुरी'' में शरीर, जीवात्मा तथा मनोवृत्तियों को लेकर–प्रेम कथा लिखी हुई है। इस कथा में अध्यात्म तो है ही, रूपक का भी बड़े कौशल से निर्वाह किया गया है। इस काव्य की एक विशेषता है कि इसके पात्र नर–नारी नहीं, वरन् मनोभाव है। ये दोनों ग्रन्थ अवधी भाषा में दोहा–चौपाई में लिखे गये हैं।

7. शेख निसार :– सूफी कवि शेख निसार ने 'युसुफ जुलेखा' नामक प्रेमाख्यान की रचना की। यह काव्य भक्ति काल की निर्धारित सीमा के बाद का लिखा गया है। इसमें कुरान में वर्णित युसुफ–जुलेखा प्रेमाख्यान कुछ परिवर्तित रूप में ग्रहण किया गया है। कथा का मुख्य आधार जामी की प्रसिद्ध फारसी मसनवी 'युसुफ–जुलेखा' है।

सूफी परम्परा में उपर्युक्त प्रमुख सूफी कवियों के अतिरिक्त और भी बहुत से सूफी कवि हुए हैं। जिनके नाम तथा रचनाएँ इस प्रकार हैं–

कवि	**रचना**
शेख निजार	प्रेम–दर्पण
जलालुद्दीन	जमाल पच्चीसी
शेख नवी	ज्ञान द्वीप
जान	रत्नावती
कासिम शाह	हंस जवाहर
शाह नफजल अली	प्रेम चिनगारी
ख्वाजा अहमद	नूरजहाँ
शेख रहीम	भाषा प्रेम रस
नसीर	प्रेम दर्पण

15.5.1 स्व–मूल्यांकन (ग)

प्रिय विद्यार्थियों! आपने प्रेममार्गी धारा के प्रमुख कवियों का अध्ययन कर लिया है। अब आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक कर सकते हैं। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं। आप इन कवियों का पुनः अध्ययन करें साथ ही उत्तर कुंजी भी देख सकते हैं।

1. **'अनुराग बाँसुरी' और 'इन्द्रावती' किस सूफी कवि के ग्रंथ है–**

   (क) उसमान (ख) मंझन (ग) नूर मुहम्मद (घ) कुतुबन

2. **मिश्रबन्धों ने 'चंदायन' का रचनाकाल क्या माना है–**

   (क) सं. 1400 (ख) सं. 1215 (ग) सं. 1385 (घ) सं. 1135

3. **चंद्रनगर के राजकुमार और कंचनपुर की राजकुमारी मृगावती की प्रेम कथा का वर्णन किस ग्रंथ में हुआ–**

   (क) हंसावलि (ख) चंद्रावली (ग) पद्मावत (घ) मृगावती

4. **किस रचना में रत्नसेन और पद्मावती की लौकिक प्रेम कहानी के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यजंना की गई है–**

   (क) अखरावट (ख) पद्मावत (ग) आखिरी कलाम (घ) मधुमालती

5. **'युसुफ जुलेखा' नामक प्रेमाख्यान की रचना किसने की?**

   (क) उसमान (ख) शेख निसार (ग) नूर मुहम्मद (घ) कुतुबन

6. **महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती और कनेसर के राजकुमार मनोहर की प्रेमकथा किस ग्रंथ में वर्णित है?**

   (क) हंसावलि (ख) चंद्रावली (ग) मधुमालती (घ) मृगावती

7. **'पियर पात जस बन जर, रहेऊँ काँप कुँभ लाई।विरह पवन जो डोलेउ, टूट परेउं घहराई।।' पंक्ति किस ग्रंथ से ली गई है?**

(क) चंदायन (ख) पद्मावत (ग) आखिरी कलाम (घ) मधुमालती

8. **चिश्ती संप्रदाय के प्रमुख प्रचारक शेख बुरहान के शिष्य कौन थे।**

(क) उसमान (ख) शेख निसार (ग) नूर मुहम्मद (घ) कुतुबन

15.6. सारांश :

इस अध्याय में आपने निर्गुण धारा के अंतर्गत आने वाली प्रेममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान का विस्तृत अध्ययन किया है।

15.7. कठिन शब्द :

1. ज्ञानगम्य – जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता हो।
2. चबूतरा – ईट या पत्थर से बनी ऊँची जगह।
3. सर्वेश्वरवादी – ब्रह्मवादी।
4. निर्विकार – जिसमें कोई दोष न हो।
5. निर्विकल्प – निश्चित ।
6. व्यवहृत – व्यवहार या प्रयोग में लाया हुआ।
7. सापेक्षता – सापेक्ष होने की क्रिया।

15.8. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. प्रेममार्गी अथवा सूफी काव्य की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

2. प्रेममार्गी अथवा सूफी काव्य के प्रमुख कवियों के योगदान को स्पष्ट करें।

15.9 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1.सही 2. गलत 3. सही 4. सही 5. सही 6. गलत 7. गलत 8. गलत 9. सही 10. सही 11. सही

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. हिन्दू और मुसलमान 2. मुसलमान 3. भारतीय 4. लोक जीवन 5. भारतीय 6. सूफी कवियों 7. पिता या संरक्षक 8. अलौकिक प्रेम 9. प्रबन्ध रूढ़ियों 10. वियोग 11. भावात्मक 12. ठेठ अवधी 13. दोहा–चौपाई

स्व–मूल्यांकन (ग) 1.नूर मुहम्मद 2. 1385 3. मृगावती 4.पद्मावत 5. शेख निसार 6. मधुमालती 7. चंदायन 8. कुतुबन

15.10. पठनीय पुस्तकें :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल,हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

सगुण काव्य की विशेषताएँ

रूपरेखा

16.1 उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

16.2 प्रस्तावना

16.3 सगुण शाखा

16.3.1 स्व–मूल्यांकन : (क)

16.4 सगुण काव्य की विशेषताएँ

16.4.1 स्व–मूल्यांकन : (ख)

16.5 सारांश

16.6 कठिन शब्द

16.7. अभ्यासार्थ प्रश्न

16.8. उत्तर कुंजी

16.9. पठनीय पुस्तकें

16.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको भक्तिकाल की सगुण शाखा के काव्य की प्रमुख विशेषताओं का ज्ञान देना है।

इस अध्याय के विस्तृत अध्ययन के पश्चात आप भक्तिकाल की सगुण शाखा के काव्य की प्रमुख विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।

16.2. प्रस्तावना :

प्रिय विद्यार्थियों! पूर्व अध्यायों में आपने भक्तिकाल की निर्गुण शाखा के अंतर्गत आने वाली ज्ञानमार्गी व प्रेममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान का अध्ययन किया। इस अध्याय में आप भक्तिकाल की दूसरी शाखा सगुण काव्य की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

16.3. सगुण शाखा :

'सगुण' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'गुण सहित' तथा 'गुण' का अर्थ है विशेषण या लक्षण। इसीलिए जिस ब्रह्मा का निरूपण किसी विशेषण या लक्षण द्वारा किया जा सकता है। वह सगुण है भक्तिकाल का श्रेष्ठतम काव्य 'सगुण काव्य' है। जो किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध न होकर स्वतन्त्र रूप से मात्र ईश्वर भक्ति पर ही आधारित है। भक्ति के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। इनके मतों में पर्याप्त मतभेद होने पर भी प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि ईश्वर के सगुण रूप की उपासना के बीज वैदिक युग में ही विद्यमान थे। सगुण काव्य ने समस्त जन मानस को भक्ति के उस उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया। जहां पर वह अपने आराध्य को अपने अति

निकट सगुण रूप में देख सके। रूप, गुणशील और सौन्दर्यवान् भगवान को देख पाने की भक्त की यह सहज इच्छा वस्तुतः इसी काव्य के माध्यम से हुई। भक्तिकाल में निर्गुण ईश्वर को आराध्य मानकर चलने वाली धारा से यह धारा बिल्कुल विपरीत थी। वस्तुतः निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति के आलम्बन के स्वरूप में स्थूल अन्तर यह है कि निर्गुण भक्ति का आलम्बन निराकार और अगोचर है तथा सगुण भक्ति का आलम्बन साकार एवं गोचर है।

सगुण भक्ति काव्य के प्रबल प्रवाह और विकास को देखकर एक अवधारणा यह भी मानी जाती है कि निर्गुण–निराकार ब्रह्मोपासना से दूर हटकर सगुणोपासक भक्त कवि तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों से खिन्न और उद्विग्न होकर भगवान की शरण में जाने को लालायित हुए थे। वस्तुतः सगुण भक्ति–साहित्य में अनुरागपरक एवं माधुर्यभाव मण्डित अभिव्यक्तियों के अन्तर्गत प्रेम, राग और श्रृंगार के साथ दैन्य एवं कार्पण्य की उक्तियां भी यह भ्रम उत्पन्न करने में सहायक हुईं। परन्तु वास्तविकता यह थी कि मुगल–शासकों की स्थापना एवं उनकी राजनैतिक व्यवस्था के कुचक्रों में हिन्दू जनता लाचारी और परवश ता में घिर गयी थी। निराश होकर ईश्वर की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई ऐसा दूसरा उपाय न था जो उनके निस्सम्बल, पीड़ित और त्रस्त हृदय को सांत्वना दे सकता। फलस्वरूप हिन्दू जनता ने ईश्वर के अवतारी और सगुण रूप की एक छवि अपने हृदय में अंकित की, जिसे बाह्य रूप प्रदान कर उन्होंने उसकी स्तुति और उपासना की।

सगुणोपासक भक्त कवियों ने भक्तिकाल के निर्गुण पन्थी कवियों का अनुसरण न करते हुए विष्णु भगवान को अपना आराध्य बनाया और उसके अवतारी रूपों के अन्तर्गत उसके रूप, सौन्दर्यशील और गुणों इत्यादि के मनोहारी चित्र अपनी कविता में चित्रित किए। उनके अनुसार निराश और राजनीतिक दासत्व से पीड़ित भक्तों की शांति और आत्मनिर्भरता का उपाय ईश्वर की सगुण भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता जोकि उन्हें मानसिक सम्बल प्रदान कर उन्हें भयमुक्त करती है। सगुण भक्तिकाव्य ने मध्ययुगीन हिन्दू जनता में ईश्वर के प्रति विश्वास और आस्था उत्पन्न की। सगुणोपासक कवियों ने लोकमानस को निराशा और कुण्ठा से बाहर निकालते हुए उन्हें ईश्वर के सगुण अवतारी रूप में आश्रय लेने के लिए प्रेरित भी किया तथा उन्हें आश्वस्त करने के लिए अपने काव्य के माध्यम से माता–पिता, पिता–पुत्र, पति–पत्नी, भाई–बहिन, राजा–प्रजा, स्वामी–सेवक इत्यादि पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों को भगवान् राम उनके परिवार, राज्य तथा उनके सेवक हनुमान को एक आदर्श के रूप में वर्णित किया। भक्तिकाल के प्रमुख कवि तुलसीदास का ''रामचरितमानस'' ग्रन्थ इस दिशा में सराहनीय है। तुलसीदास के अन्य ग्रन्थों के साथ–साथ अन्य सगुणोपासक कवियों की रचनाएं भी भक्ति, प्रेम और सामाजिक समन्वय की दृष्टि से उच्च कोटि की हैं। सगुणोपासक परम्परा में राम भक्त कवियों के अतिरिक्त कृष्ण भक्त कवियों की विशाल परम्परा भी हिन्दी साहित्य में उदय हुई। अष्टछाप के कवियों में सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास ने काव्य–सृजन में अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। इन कवियों ने साम्प्रदायिक स्तर पर भी कृष्ण भक्ति का विविध रूपों में पल्लवन किया। इस काल में वल्लभ–सम्प्रदाय, राधावल्लभ–सम्प्रदाय, निम्बार्क–सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय, गोड़ीय सम्प्रदाय आदि अनेक सम्प्रदायों का प्रवर्त्तन हुआ। इन सम्प्रदायों के कवियों ने राधा–कृष्ण की विविध लीलाओं का बड़ी मनोहारी शैली में वर्णन प्रस्तुत किया। निर्गुण भक्ति धारा की तरह भक्तिकाल की यह सगुण काव्य धारा भी आगे चलकर दो उपशाखाओं में बंट गई :– 1. राम भक्ति धारा, 2. कृष्ण भक्ति धारा।

16.3.1. स्व–मूल्यांकन : (क)

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक कर सकते हैं। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं। आप इस अध्याय का पुनः अध्ययन करें साथ ही उत्तर कुंजी भी देख सकते हैं।

1. सगुण काव्य आधार क्या है?

(क) प्रेम (ख) ज्ञान (ग) ईश्वर भक्ति (घ) सम्प्रदाय

2. निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति के आलम्बन के स्वरूप में स्थूल अन्तर क्या है?

(क) निराकार और अगोचर (ख) लीला (ग) साकार एवं गोचर (घ) अवतारवाद

3. सगुणोपासक भक्त कवियों ने किस भगवान को अपना आराध्य बनाया?

(क) ब्रह्मा (ख) कृष्ण (ग) राम (घ) विष्णु

4. सगुण भक्तिकाव्य ने किसमें ईश्वर के प्रति विश्वास और आस्था उत्पन्न की।

(क) आदिकालीन जनता में (ख) मध्ययुगीन हिन्दू जनता में (ग) शासकों में (घ) उच्च वर्ग में

5. वल्लभ–सम्प्रदाय, राधावल्लभ–सम्प्रदाय, निम्बार्क– सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय, गोड़ीय आदि सम्प्रदायों के कवियों ने किसकी लीलाओं का बड़ी मनोहारी शैली में वर्णन प्रस्तुत किया?

(क) राम (ख) राधा–कृष्ण (ग) सीता (घ) केवल राधा का

6. भक्तिकाल की सगुण काव्य धारा आगे चलकर कितनी उपशाखाओं में बंट गई?

(क) तीन (ख) पाँच (ग) एक (घ) दो

16.4. सगुण काव्य की विशेषताएँ :

भक्तिकाल की सगुण शाखा में राम काव्य और कृष्ण काव्य दोनों धाराएं शामिल होती हैं। इनका भी विस्तारपूर्वक पृथक्–पृथक् अध्ययन हम कर चुके हैं। यहाँ पर दोनों में पाई जाने वाली समान प्रवृत्तियों की चर्चा की जाएगी। निर्गुण सन्तों में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता है। जबकि सूफी कवियों में प्रेम का अत्यधिक महत्व है। पर दोनों के यहाँ ईश्वर निर्गुण है। मध्यकालीन सगुण सम्प्रदाय वैष्णव धर्म से पोषण प्राप्त करता है। इस सम्प्रदाय की दोनों धाराओं राम काव्य और कृष्ण काव्य में ईश्वर सगुण है। इन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति में से भक्ति को ही अपने उपजीव्य के रूप में ग्रहण किया। सगुण शाखा की पृष्ठभूमि में वैष्णव धर्म और शक्ति का समृद्ध साहित्य है। संक्षेप में सगुण काव्य के अन्तर्गत राम और कृष्ण काव्य धाराओं में समान रूप से पाई जाने वाली प्रवृत्तियों का परिचय इस प्रकार है

1. ईश्वर का सगुण रूपः– सगुण कवियों का उपास्य सगुण है। राम और कृष्ण दोनों धाराओं के कवियों ने ज्ञान और निर्गुण ईश्वर की उपासना के स्थान पर ईश्वर के सगुण रूप की उपासना पर बल दिया। इनका विचार था कि इससे भक्त अपने आराध्य को अपने हृदय के अधिक निकट अनुभव करता है। सगुण कवियों ने सगुण और निर्गुण के समन्वयवाद पर भी बल दिया। इन्हें उपासना–क्षेत्र में ईश्वर का सगुण रूप मान्य है अन्यथा इनके यहाँ भी निर्गुण ईश्वर की स्वीकृति है। इनके लिए भगवान चल भी है और अचल भी, मूर्त भी है और अमूर्त भी, वामन भी है और विराट भी, सगुण भी है और निर्गुण भी। वस्तुतः वह अनिवर्चनीय है और कालातीत भी, परन्तु उसका अपनी समग्रता में किसी काल में अवतरित होना असम्भव नहीं। सगुणवादियों के अनुसार मनुष्य वस्तुतः ब्रह्म है, नर और नारायण एक है, अवतारी तथा अवतार सर्वथा अभिन्न है। 'नरो नारायणश्चौव तत्त्वमेकम् द्विधा कृतम्' नर नारायण वस्तुतः एक तत्त्व है, उनका द्वैधीकरण व्यावहारिक बुद्धि का भ्रम मात्र है। सगुण कवियों के अनुसार सगुण के गुण अप्राकृतिक हैं। लौकिक गुण परिवर्तनशील, अस्थिर और कारण कार्य जन्य होते हैं, किन्तु प्रभु के दिव्य गुण ह्रास–विकास रहित हैं। भगवान का यह स्वरूप हृदय और बुद्धि की पहुंच से परे है। यह सगुण भगवान स्रष्टा, पालक और संहारक है अन्त में विष्णु के रूपों में इन रूपों का संहार हो जाता है।

2. अवतार भावनाः– सगुण काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति अवतारवाद की भावना है। सगुण भक्त कवियों का विश्वास है कि प्रभु असीम सीमा को स्वीकार करके अपनी इच्छा से लीला के लिए अवतरित होते हैं। वैसे तो सारा संसार उस भगवान का अवतार है किन्तु इन वैष्णवों की अवतार–भावना के मूल में गीता की विभूति एवं ऐश्वर्य कार्य कर रहा है। ज्ञान, कर्म, ऐश्वर्य, प्रेम भगवान की विभूतियाँ हैं।

3. गुरु की महत्ताः– सगुण काव्य में भी निर्गुण काव्य के समान गुरु का अत्यन्त महत्त्व है। इस काव्य में गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि और अंश है। सगुण कवियों ने भी संसार की सब वस्तुओं से गुरु को उच्चतम माना है और उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए उसकी प्रशंसा की है। सूर और तुलसी का काव्य इस कथ्य का सुन्दर निदर्शन है। नन्ददास ने वल्लभ को ब्रह्मा के रूप में ग्रहण किया है। इनका विश्वास है कि गुरु के बिना ज्ञान असम्भव है और ज्ञानाभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान से भक्ति और भक्ति से उसका सायुज्य प्राप्त होता है। गुरु ही ज्ञान और भक्ति का मार्ग दिखलाता है तथा मनुष्य को अज्ञानी से ज्ञानी, विवेकवान और उसके ज्ञान चक्षु खोलकर उसे अन्धेरे से प्रकाश की तरफ भी ले जाता है।

4. भक्ति भावनाः– हिन्दी के मध्यकालीन उपासकों के लिए भगवान सगुण है और भक्ति का एकमात्र आधार हैं। उसकी भक्ति और प्रेम का उद्देश्य है उसकी निकटता प्राप्त करके उसमें रमण करना तथा उसकी लीलाओं में अपने आपको लीन करना। सगुण भक्त कवियों ने नवधा भक्ति को अत्यन्त महत्व दिया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद–सेवन, अर्चन, वन्दन, सख्य, दास्य, आत्मनिवेदन भक्ति की ये नव विधाएं इन्द्रिय, मन और हृदय को भगवान के प्रति निवेदत करती है जिससे भक्त अपने आपको रामार्पण तथा कृष्णार्पण कर देता है। ऐसी स्थिति में भक्त कवि के लिए प्राकृत जन गुणगाण का प्रश्न ही नहीं उठता।

विष्णु मूलतः ऐश्वर्य–सम्पन्न देव हैं, अतः सगुण उपासकों में रामानुज सम्प्रदाय में भगवान की ऐश्वर्य–उपासना भक्ति पर अत्यधिक बल है। वल्लभ और निम्बार्क संप्रदाय में भगवान के ऐश्वर्य की अपेक्षा उसकी माधुरी को अधिक महत्व दिया गया है। चैतन्य मत में कांताभाव की भक्ति का पूर्ण परिपाक हुआ है। वल्लभ सम्प्रदाय में शांत, सख्य और वात्सल्य भावों की भक्ति का विशिष्ट स्थान है जबकि चैतन्य सम्प्रदाय कांताभाव की भक्ति को आग्रहपूर्वक पकड़े हुए है। युगल लीला की प्रतिष्ठा वल्लभ, चैतन्य और निम्बार्क सम्प्रदाओं में हुई है। परवर्ती सगुण सम्प्रदायों राधा–वल्लभी और हरिदासी युगल–लीला के आधार पर ही अपनी पृथक् सत्ता को स्थिर रख सके हैं। इसके अतिरिक्त सगुण उपासकों में जहां पर रामकाव्य के प्रवर्त्तक तुलसीदास दास्य–भाव के भक्त हैं वहाँ पर सूर सख्यभाव, माधुर्य भाव तथा दैन्य भाव के भक्त हैं। भक्ति का भाव कोई भी हो, इसके माध्यम से सगुण काव्य में वस्तुतः मानवतावाद की ही व्याख्या हुई है।

5. लीला रहस्यः– सगुण काव्य में लीलावाद का अत्यन्त महत्व है। चाहे तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम हों और चाहे सूर के ब्रजराज कृष्ण हों, दोनों लीलाकारी हैं। उनके अवतार का लक्ष्य लीला है और लीला का उद्देश्य कुछ नहीं, लीला लीला होती है। तुलसी के लोकरक्षक राम, रावण का संहार लीलार्थ करते हैं। तुलसी के लिए समस्त रामचरित लीलामय है और सूरदास के कृष्ण तो हैं ही लीला–रमण और आनन्दसन्दोह। एक ओर तो वे जहाँ पर विभिन्न लीलाएं करते हुए सम्पूर्ण ब्रजवासियों को मोहित करते हैं वहाँ दूसरी ओर दृश्यों का संहार भी लीला ही लीला में कर देते हैं। सगुण कवियों के अनुसार ईश्वर सर्वत्र विद्यमान हैं। उसने किसी इच्छा से संसार की सृष्टि नहीं की बल्कि यह तो उसकी लीला का ही परिणाम है। उनके अनुसार जीवन और दर्शन की चरम सीमा भी लीलावाद में ही निहित है। इसीलिए इन कवियों का काव्य प्रभु लीलाओं का श्रवण, स्मरण, चिन्तन, कीर्तन एवं गायन रूप में सृजन करता है जिसके लिए उन्होंने लीला के अनेक रूप कल्पित भी कर लिये।

6. रूपोपासनाः— सगुण काव्य में रूपोपासना का भी विशिष्ट स्थान है। शंकर ने नाम और रूप को मायाजन्य माना है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म को अनाम और अरूप कहा गया है, परन्तु सगुण साधना में भगवान का नाम और रूप आनन्द का अक्षय कोष है। नाम और रूप से ही वैधी भक्ति का आरम्भ होता है। सगुण भक्त को भगवान का नाम और रूप इतना विमुग्ध कर लेता है कि लौकिक छवि उसके पथ में बाधक नहीं बन सकती। आरम्भ में सगुणोपासक नाम रूप—युक्त अर्चावतार अथवा मूर्ति के समक्ष आकर उपासना करता है। परन्तु निरन्तर भावना, चिन्तन एवं गुण—कीर्तन से वह अपने आराध्य में ऐसा सन्निविष्ट हो जाता है कि उसे किसी भौतिक उपकरण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। रूप ही शृंगार रस को जगाता है। ब्रजेश कृष्ण रस—राज शृंगार के अधिष्ठाता देवता हैं। यही कारण है कि कृष्ण भक्ति शाखा में कृष्णाश्रित शृंगार का सांगोपांग वर्णन है। पुष्टिमार्गी कवि के लिए लौकिक शृंगार के सभी उपकरण मोहन के मादन—भाव के सामने फीके हैं। उनके कृष्ण भूमा सौन्दर्य की अतुल राशि हैं। यद्यपि तुलसी के राम में शील, शक्ति, सौन्दर्य का समन्वय है और तुलसी का काव्य समविभक्तांग है फिर भी उनके राम अपनी अप्रतिम छवि से त्रिभुवन को लजाने वाले हैं। सगुण काव्य में भक्ति के गृहीत स्वरूपों दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य में रूपोपासना के साथ—साथ रस का भी विलक्षण महत्त्व है।

7. शंकर के अद्वैतवाद का विरोध — भागवत के अतिरिक्त हिन्दी के सगुण काव्य पर रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है। इन सभी आचार्यों ने शंकर के ज्ञानमूलक अद्वैतवाद का, जो भक्ति को परम सत्य नहीं मानता, खण्डन किया और भक्ति—तत्त्व का समाधान करते हुए भगवद् प्राप्ति में उसकी अनिवार्यता सिद्ध की। रामानुज के विशिष्टाद्वद्वैतवाद में ब्रह्म प्रकारी हैं और जीव तथा प्रकृति उसके प्रकार हैं। जीव की कृतकृत्यता इसी में है कि वह अपने आपको भगवान का विशेषण माने। आत्मसमर्पण के द्वारा जीव को यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। परमात्मा अंशी है और जीव उसका अंश है।

8. विविध स्रोत — मध्यकालीन भक्ति काव्य के उपजीव्य ग्रन्थ है रामायण और भागवत। रामायण की अपेक्षा भागवत की छाप इस काव्य पर अत्यन्त गहरी है। समस्त कृष्ण सहित्य तो इससे अनुप्राणित है ही, राम काव्य भी इससे कम प्रभावित नहीं है। रामभक्त तुलसी के काव्य पर भी इस अलौकिक ग्रन्थ का प्रभाव यत्र—तत्र देखा जा सकता है। हिन्दी के भक्ति—काव्य पर प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य का कोई प्रभाव नहीं, बल्कि इस पर साक्षात् रूप से संस्कृत साहित्य का प्रभाव पड़ा। संस्कृत के भगवद्गीता, विष्णु पुराण, पांचरात्र संहिताओं, नारद भक्ति सूत्र, शांडिल्य—भक्तिसूत्र तथा अन्य काव्यों और नाटक ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, मध्व, विष्णु स्वामी और चैतन्य आदि आचार्यों ने जिन सिद्धान्तों को प्रदिपादित किया वे सगुण काव्य के दार्शनिक मेरुदण्ड हैं। भक्तिकाल की रागानुमा भक्ति में दक्षिण के आलवार सन्तों का महत्वपूर्ण योगदान है।

9. भक्ति क्षेत्र में जाति—भेद की अमान्यता — सगुण भक्ति कवियों तथा आचार्यों ने भक्ति के क्षेत्र में जाति—पाति का बन्धन स्वीकार नहीं किया। यद्यपि कर्म—क्षेत्र में इन सबने वर्णाश्रम व्यवस्था पर बल दिया है, परन्तु भगवद्भक्ति क्षेत्र में किसी के शुद्र होने के नाते उसे भक्ति के अधिकार से वंचित नहीं किया। सगुण भक्ति—साहित्य में भक्ति क्षेत्र में कबीर का निम्नांकित कथन मान्य रहा —

जाति—पाति पूछे नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।

10. लोक जीवन — कृष्ण काव्य और राम काव्य में अपने—अपने दृष्टिकोणों के अनुसार लोक—जीवन का सम्यक् चित्रण हुआ है। अष्टछाप के कवियों में भारतीय ग्राम्य जीवन का मनोरम अंकन है। कृष्ण की बाल लीलाओं का सन्निवेश जिस प्राकृतिक परिवेश और दृश्यों में हुआ है, उसकी भावना द्वारा मन में विलक्षण आनन्द का संचार होता है। अष्टछाप में तत्कालीन भारतीय जीवन की एक सुन्दर सांस्कृतिक झाँकी प्रस्तुत की गई है। तुलसी के राम असत् से संघर्ष

करते हुए सत् का उद्धार करते हैं। वे अपने व्रत के लिए नाना कष्टों को सहते हैं। उनमें हम उस प्रयत्न को देखते हैं जिसके कारण लोक सत्ता विकीर्ण न होने पाये। धर्माद्वार, पाप नाष, साधुरक्षण, दुष्टदलन तथा भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए भगवान युग–युग में अवतार लेते हैं। राम और कृष्ण में शील, शक्ति, सौन्दर्य का अमित भण्डार है। वे दोनों असुरनिकन्दन हैं और लीलाकार हैं। यह दूसरी बात है कि इनमें उक्त गुणों का आनुपातिक भेद है। एक मर्यादा पुरुषोत्तम है तो दूसरा ब्रजेश रसेश। भगवान के ये दोनों रूप लोक–संग्रह की दृष्टि से अभिलषणीय एवं अभिनन्दनीय हैं।

16.4.1. स्व–मूल्यांकन : (ख)

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने सगुण भक्ति काव्य की विशेषताओं का अध्ययन कर लिया है। अब आप प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यदि आप रिक्त स्थान भरने में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की अवश्यकता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. सगुण कवियों ने सगुण और निर्गुण के .... पर भी बल दिया।
2. ज्ञान, कर्म, ऐश्वर्य, प्रेम भगवान की ....हैं।
3. सगुण काव्य में गुरु .... का प्रतिनिधि और अंश है।
4. सगुण भक्त कवियों ने ....भक्ति को अत्यन्त महत्व दिया है।
5. सगुण कवियों के अनुसार जीवन और दर्शन की चरम सीमा भी .... में ही निहित है।
6. सगुण साधना में भगवान का ....आनन्द का अक्षय कोष है।
7. रामानुज के ....में ब्रह्म प्रकारी हैं और जीव तथा प्रकृति उसके प्रकार हैं।
8. सगुण भक्ति कवियों तथा आचार्यों ने कर्म–क्षेत्र में ....व्यवस्था पर बल दिया है।
9. हिन्दी के भक्ति–काव्य पर साक्षात् रूप से ....का प्रभाव पड़ा।
10. अष्टछाप के कवियों में भारतीय ....का मनोरम अंकन है।

16.5. सारांश :

इस अध्याय में हमने सगुण भक्ति काव्य की विशेषताओं का विस्तृत अध्ययन किया है।

16.6 कठिन शब्द :

1. लालायित – ललचाया हुआ
2. कार्पण्य – कृपण होने की अवस्था या भाव
3. निःसम्बल – असहाय
4. दासत्व – परतंत्रता, गुलामी
5. पल्लवन – विस्तार करना

16.7. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. सगुण काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

2. सगुणमार्गी शाखा की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

16.8 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. ईश्वर भक्ति 2. साकार एवं गोचर 3. विष्णु 4. मध्ययुगीन हिन्दू जनता में 5. राधा–कृष्ण 6. दो

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. समन्वयवाद 2. विभूतियाँ 3. ब्रह्म 4.नवधा 5. लीलावाद 6. नाम और रूप 7. विशिष्टाद्वैतवाद 8. वर्णाश्रम 9. संस्कृत साहित्य 10. ग्राम्य जीवन

16.9. पठनीय पुस्तकें :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

राममार्गी काव्य की विशेषताएँ एवं प्रमुख कवियों का योगदान

रूपरेखा

17.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

17.2. प्रस्तावना

17.3. राम भक्ति शाखा

17.3.1 स्व–मूल्यांकन : (क)

17.4. राममार्गी शाखा अथवा काव्य की विशेषताएँ

17.4.1 स्व–मूल्यांकन : (ख)

17.5. राममार्गी शाखा अथवा काव्य के प्रमुख कवि

17.5.1 स्व–मूल्यांकन : (ग)

17.6. सारांश

17.7. कठिन शब्द

17.8. अभ्यासार्थ प्रश्न

17.9. उत्तर कुंजी

17.10. पठनीय पुस्तकें

17.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय का उद्देश्य आपको भक्तिकाल की सगुण शाखा के अंतर्गत आने वाली राममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान से परिचित करवाना है।

इस अध्याय का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात आप भक्तिकाल की सगुण शाखा के अंतर्गत आने वाली राममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान को समझने में सक्षम होंगे।

17.2. प्रस्तावना :

प्रिय विद्यार्थियों! पूर्व अध्याय में आपने भक्तिकाल की सगुण काव्य धारा की विशेषताओं का अध्ययन किया। इस अध्याय में आप सगुण शाखा के अंतर्गत आने वाली राममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान का अध्ययन करेंगे।

17.3. राम भक्ति शाखा :

राम भक्ति की धारा उत्तर भारत में आने से पूर्व दक्षिण भारत में पूरी तरह फैल चुकी थी। वैदिक धर्म के कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जिस वैष्णव धर्म की स्थापना हुई उसमें भगवान की भक्ति का सहारा लिया गया। इसी धर्म में बाद में अवतारवाद का प्रारम्भ हुआ और भगवान विष्णु के दो मुख्य अवतारों श्रीराम और श्रीकृष्ण को भक्ति का

आधार माना गया। राम के सगुण रूप की उपासना करने वाले कवि राम भक्त कहलवाए। हिन्दी का रामकाव्य एक ओर तो संस्कृत परम्परा से जुड़ा है तो दूसरी ओर वैष्णव आन्दोलन से भी प्रभावित है। दक्षिण भारत में रामानुजाचार्य ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की थी जिसमें नारायण के रूप में विष्णु की उपासना का विधान था अतः स्पष्ट रूप से माना जा सकता है कि राम भक्ति का विकास वैष्णव भक्ति से ही हुआ तथा रामावतार राम भक्ति का मूल रहा। मर्यादा–पुरुषोत्तम रामचन्द्र के शील, शक्ति एवं सौन्दर्य से मण्डित अलौकिक व्यक्तित्व के विविध रूपों ने जनमानस को आकृष्ट किया। रामकथा का मूल स्त्रोत वाल्मीकि रामायण को आदिकाव्य मान कर स्वीकार किया जाता है। इस आदिकाव्य में राम का चित्रण उदात्त और असाधारण गुणों से सम्पन्न दिव्य महापुरुष के रूप में हुआ है।

सम्पूर्ण विकासक्रम की दृष्टि से रामकाव्य सर्वप्रथम दक्षिण के आलवार सन्तों की वाणी से प्रस्फुटित हुआ तत्पश्चात् उत्तरी भारत में उसका विकास हुआ। दक्षिण में आलवारों जोकि संख्या में बारह माने जाते हैं इनमें से पांचवे शाठकोप अथवा नम्मालवार थे जोकि राम भक्ति के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इनकी रचना 'तिरुवायमोलि' में अनन्य राम भक्ति का वर्णन मिलता है। सातवें आलवार केरल के राजा कुलशेखर भी अनन्य राम–भक्त थे। 'प्ररुमाल तिरुभोवि में इनके रामभक्ति विषय के सरस गीत संकलित है। शाठकोप एवं कुलशेखर के अतिरिक्त अन्य आलवार सन्तों के गीतों में भी ऊंच–नीच के भावों से मुक्त राम भक्ति के विभिन्न रूपों को प्रतिपादित किया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से श्री, मनक, ब्रह्म और रुद्र–इन चार वैष्णव सम्प्रदायों में से श्री एवं ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्यों ने रामभक्ति को विशेष परिपुष्टि प्रदान की' तथा उत्तरी भारत में रामभक्ति का प्रवर्त्तन आचार्य रामानुज की परम्परा में आचार्य राघवानन्द द्वारा प्रारम्भ हुआ और उनके शिष्य रामानन्द ने उसे युगानुकूल भाव–भूमि प्रदान की। आचार्य रामानन्द ने ही सर्वप्रथम बाह्य आक्रमणों से त्रस्त, राजनीतिक सत्ता की अव्यवस्था, संकुचित धार्मिक रूढ़ियों में आबद्ध हिन्दू समाज को राम भक्ति का अभेद्य कवच प्रदान किया धनुषबाणधारी राम के लोकरक्षक रूप की उपासना प्रारम्भ कर उन्होंने एक और हिन्दू समाज की पराजित मनोवृत्त को उद्बुद्ध किया और दूसरी ओर बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं को रामतारक मंत्र देकर पुनः उन्हें हिन्दू धर्म में दीक्षित भी किया। भक्ति–भावना को ऊंच–नीच एवं बाह्य आडम्बरों से मुक्त करने का श्रेय भी आचार्य रामानन्द को प्राप्त है। इनकी परम्परा में राम के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों की उपासना करने वाले शिष्य हुए। हिन्दी का भक्तिकालीन रामकाव्य मुख्यतः इन्हीं के सिद्धान्तों से अनुप्रेरित है।

हिन्दी साहित्य में रामभक्ति काव्य के तीन रूप मिलते हैं ऐश्वर्य भक्ति, माधुर्य भक्ति और योगपरक भक्ति, इनमें से ऐश्वर्य परक भक्ति का ही जनमानस में सर्वाधिक प्रसार–प्रचार हो सका। इसका मुख्य कारण है आचार्य रामानुज की परम्परा पर चलते हुए तुलसीदास द्वारा राम के लोकरक्षक और मर्यादा सम्पन्न रूप की प्रतिष्ठापना। सैद्धान्तिक रूप से प्रारंभ से ही माधुर्य भक्ति गुह्य साधना रही है। उसका अधिकारी केवल अनन्तरंग भक्त ही माना जाता है। स्वामी रामानन्द की रचनाओं से पता चलता है कि उन्होंने योगपरक रामभक्ति का भी प्रतिपादन किया था। रामानन्द के शिष्य अनंतानंद भी योगपरक भक्ति को स्वीकारते थे। इस भक्ति का विशेष प्रचार अनंततानंद के शिष्य श्री कृष्ण दास पयहारी द्वारा भी हुआ। ऐश्वर्यापासक रामभक्त कवियों में तुलसीदास का स्थान सर्वापरि है। रामकथा का चरम विकास, परम उत्कर्ष तुलसीदास के काव्य में ही हुआ। अपनी राम–रस से भरी हुई वाणी से तुलसीदास ने जनमानस को अत्यधिक प्रभावित किया। तुलसीदास के साथ–साथ भक्तिकाल के अन्य सगुणोपासक कवियों रामानन्द, अग्रदास, केशवदास, ईश्वरदास इत्यादि ने भी भक्ति को मनुष्य का आश्रय और सम्बल तो माना परन्तु निर्गुण भक्ति के रूप को नहीं। उनके अनुसार निर्गुण भक्ति जो ज्ञान और अनुभव से ही प्राप्त की जा सकती है वहां तक प्रत्येक मनुष्य का पहुंच पाना सम्भव नहीं है अतः साकार एवं गोचर ईश्वर का स्वरूप हर मनुष्य को प्राप्य हो सकता है। इसीलिए इन कवियों ने अपने आराध्य को सगुण रूप में स्थापित किया तथा तत्कालीन पीड़ित और कुंठित जनता की भावनाओं को 'राम' नाम के मधुर रस से आभादित करने का प्रयत्न किया।

17.3.1. स्व–मूल्यांकन : (क)

प्रिय विद्यार्थियों! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा स्वयं का मूल्यांकन करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं। आप इस अंश का पुनः अध्ययन करें साथ ही उत्तर कुंजी भी देख सकते हैं।

1. राम भक्ति की धारा उत्तर भारत में आने से पूर्व दक्षिण भारत में पूरी तरह फैल चुकी थी। ( )
2. राम के सगुण रूप की उपासना करने वाले कवि राम भक्त कहलवाए। ( )
3. दक्षिण भारत में रामानन्द ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की थी। ( )
4. रामकथा का मूल स्रोत वाल्मीकि रामायण को आदिकाव्य मान कर स्वीकार किया जाता है। ( )
5. सम्पूर्ण विकासक्रम की दृष्टि से रामकाव्य सर्वप्रथम उत्त री भारत के आलवार सन्तों की वाणी से प्रस्फुटित हुआ। ( )
6. उत्तरी भारत में रामभक्ति का प्रवर्त्तन आचार्य रामानुज की परम्परा में आचार्य राघवानन्द द्वारा प्रारम्भ हुआ। ( )
7. भक्ति–भावना को ऊंच–नीच एवं बाह्य आडम्बरों से मुक्त करने का श्रेय वाल्मीकि को प्राप्त है। ( )
8. हिन्दी का भक्तिकालीन रामकाव्य मुख्यतः रामानन्द के सिद्धान्तों से अनुप्रेरित है। ( )
9. तुलसीदास ने राम के लोकरक्षक और मर्यादा सम्पन्न रूप की प्रतिष्ठापना नहीं की। ( )
10. ऐश्वर्यापासक रामभक्त कवियों में तुलसीदास का स्थान सर्वापरि है। ( )

17.4. राममार्गी शाखा अथवा काव्य की विशेषताएँ :–

1. राम का स्वरूप :– ईश्वर के सगुण रूप के उपासक रामभक्त कवियों के आराध्य राम विष्णु के अवतार हैं और परम ब्रह्म स्वरूप हैं। राम को ईश्वर का अवतार स्वीकार किया गया और ईश्वर की कल्पना आदर्श मनुष्य के रूप में की गई। राम को भी मर्यादा पुरुषोत्तम कहकर सम्बोधित किया गया। उन्हें आदर्श बनाकर ही तुलसीदास ने सामाजिक मर्यादाओं और पुरुष की श्रेष्ठता को अपने 'रामचरितमानस' में प्रतिष्ठापित किया है। तत्कालीन विषम और घोर विकट परिस्थितियों में 'राम' का नाम सहारा देने वाला था। 'राम' का नायकत्व उनके लिए सशक्त अवलंबन बना। अदृश्य अव्यक्त ब्रह्म जन–सामान्य के डगमगाते मन को सहारा नहीं दे पा रहा था अतः धनुर्धारी भगवान् राम का रक्षक रूप लोकमानस को अधिक भाया। राम के चरित्र और उनके गुणों की महत्ता में उनके आंतकित जीवन को एक आश्रय मिला। रामभक्ति को उन्होंने जीवन का सहारा माना। उन्हें विष्णु के अवतार देवाधिदेव तथा लोकरक्षक मानकर उन्होंने अपने आप को उनकी भक्ति में समर्पित कर दिया। उनके अनुसार राम जोकि परम ब्रह्म स्वरूप हैं। वे युगों–युगों से छाये पाप, विनाश और धर्माद्धार के लिए युग–युग में ही अवतार लेते हैं। रामभक्त कवियों के 'राम' में शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय है। अपने शील गुण से वह जनमानस को आचार की शिक्षा देते हैं। शक्ति से वह दृश्यों का संहार करते हैं तथा सौन्दर्य में वह त्रिभुवन को भी पीछे छोड़ देते हैं। अपनी करुणामयता और दया दृष्टि से वह पतितों और अधर्मियों का भी उद्धार करते हैं। रामकाव्यों में वस्तुतः उनका लोक रक्षक रूप ही चित्रित हुआ है।

2. भक्ति का स्वरूप :– रामभक्ति शाखा के कवियों ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ माना है क्योंकि ज्ञान सभी लोगों की पहुंच से बाहर होता है परन्तु भक्ति सबके लिए बोधगम्य होती है। रामभक्त कवियों का भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार है। ये भक्त विशिष्टाद्वैतवाद से प्रभावित हैं। इनके लिए ब्रह्म के साथ–साथ जीव भी सत्य है क्योंकि वह भी ब्रह्म का अंश है और जीव और ब्रह्म में अंश–अंशी भाव है। रामभक्त कवियों की भक्ति भावना मुख्यतः दास्य भाव की है। उनका मानना है कि दास्य भाव की भक्ति भक्त को भगवान् के महंत रूप से जोड़कर उसे भगवत स्वरूप बनाती है। रामभक्त कवियों ने अपने और राम के बीच सेवक और सेव्य भाव को स्वीकार किया है। तुलसीदास का कहना है

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।

परन्तु इसके साथ ही राम काव्य में भक्ति के अन्य अनेक भाव–भेद भी सहज रूप से चित्रित हुए हैं। जैसे नवधा भक्ति के सभी प्रकार, श्रवन, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन मिल जाते हैं। रामभक्त कवि अपने जीवन का ध्येय अपने जीवन की सफलता भक्ति में ही मानते हैं। अपने काव्य में उन्होंने भक्ति के जो विभिन्न भाव अंकित किए हैं जैसे सीता में माधुर्य भाव की भक्ति है तो राम में दास्य, सुग्रीव में साख्य, दशरथ, कौशल्या इत्यादि में वात्सल्य भाव की।

'वैराग्य संदीपनी' में संतों के शांत भाव की प्रशंसा करते हुए शांतभाव की रामभक्ति का निरूपण किया गया है। रामभक्त कवियों में राम में एकाकार होने के लिए निर्विकारता आवश्यक है। राममयता अर्जित करते ही भक्त निर्भय, निष्पाप और निर्विघ्न हो जाता है।

3. समन्वय की भावना :– राम काव्य का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है। उसमें एक विराट समन्वय की भावना है। रामकाव्य वस्तुतः इसी समन्वय भावना के कारण मानवतावादी माना जाता है। सम्पूर्ण रामकाव्य में समन्वय की विराट चेष्टा लक्षित है। जिसमें निर्गुण और सगुण का ज्ञान, भक्ति और कर्म का, ब्राह्मण और शुद्र का, विभिन्न सम्प्रदायों का, दार्शनिक विचारधाराओं का, वेदशास्त्र और व्यवहार का, व्यक्ति, परिवार और समाज का तथा भोग और त्याग का समन्वय करके सम्पूर्ण मानव जाति को तथा उसके चिंतन को एक ही धरातल पर प्रस्तुत कर, सही अर्थों में मानवतावाद को स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

रामकाव्य में न केवल राम की उपासना पर ही बल दिया गया है अपितु समन्वय भावना हेतु ही इसमें शिव, शक्ति, गणेश, कृष्ण इत्यादि देवी–देवताओं की भी स्तुति की गई है। तुलसीदास इत्यादि रामभक्त कवियों ने शिव–पूजन को भी पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया। उनके राम ने सेतुबन्ध के अवसर पर शिवलिंग की स्थापना की, सीता ने गौरी–पूजन किया। इस अवसर पर तुलसीदास के राम ने शिव की अर्चना करते हुए कहा

शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहुँ न सुख पावा।

अपनी धार्मिक उदारता के कारण भी रामकाव्य भारतीय जनमानस में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। यद्यपि रामभक्ति काव्य में रामभक्ति को ही श्रेष्ठ माना गया है तो भी रामभक्त कवियों की भक्ति भावना अत्यन्त उदार है। रामभक्तों ने भक्ति को सुसाध्य माना है फिर भी उन्होंने ज्ञान, भक्ति और कर्म के बीच समन्वय स्थापित करने का सुन्दर प्रयास किया है। रामकाव्य में निर्गुणता एवं सगुणता इत्यादि में भी एकरूपता के निरूपण का प्रयास किया गया है। रामभक्तों के आराध्य निर्गुण भी हैं और सगुण भी, परन्तु उन्होंने सर्व–सुलभ प्राप्य सगुण भक्ति को ही श्रेष्ठ माना। इस प्रकार रामभक्ति शाखा के कवियों में समाज, भक्ति और साहित्य सभी में एक अदभुत समन्वय की भावना देखने को मिलती है।

4. राम राज्य की संकल्पना समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए रामकाव्य ने जिस रामराज्य की कल्पना भारतीय जनमानस को दी, वह कदाचित भारतीय इतिहास का एकमात्र उदाहरण है। रामकथा हमारे समक्ष पारिवारिक जीवन के आदर्श भी प्रस्तुत करती है। 'रामचरितमानस' में रामराज्य वर्णन के अंतर्गत इस जीवन के जितने भी सम्बन्ध अथवा नाते हो सकते हैं, उन सबके व्यावहारिक आदर्शों की अभिव्यक्ति विद्यमान है। पारिवारिक जीवन के दृष्टिकोण से राम एक आदर्श मातृ–पितृ भक्त पुत्र, गुरु सेवा परायण शिष्य, एक नारीव्रती पति, अन्यतम स्नेह करने वाले संरक्षक हैं। इसी प्रकार माता–पिता सन्तान सम्बन्ध, पुत्रवधु–सास–श्वुसर सम्बन्ध, पति–पत्नी सम्बन्ध, देवर–भाभी सम्बन्ध, भाई–भाई के सम्बन्ध, बड़े व छोटों के सम्बन्ध आदि सभी सम्बन्ध भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप हमारे सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस कथा की प्रस्तुति में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता है, पर मूल चेतना आदर्श का है। 'रामचरितमानस' में रामराज्य वर्णन के अंतर्गत एक ओर पुरुषों के एक पत्नीव्रत के आदर्शों पर प्रकाश डाला गया है, तो दूसरी ओर नारियों के मन, वचन और कर्म से पतियों के हितकारी स्वभाव पर। रामकाव्य में नारी के सतीत्व तथा पतिव्रत धर्म को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

अपने प्रियजनों, परिजनों, गुरुजनों एवं पुरजनों इत्यादि सभी के प्रति आदर्श व्यवहार करने वाले ऐसे धर्मात्मा राजा के रहते रामराज्य सच्चा धर्म स्वयंमेव बन जाता है। सभी व्यक्ति परस्पर बंधु–बांधवों की तरह जीवन–यापन करते हुए आत्मोद्धार में लगे हुए सर्वत्र सियाराममय जगत के दर्शन करते हैं। ऐसे समाज में मर्यादाएं स्वयंमेव बनती चली जाती हैं। नैतिक गुणों का सर्वत्र विकास होने लगता है और मानव कल्याण की भावना फैलने लगती है। इसीलिए तुलसी की राजनीति को मानवतामूलक स्वीकार किया जाता है। रामकाव्य परम्परा उक्त आदर्शों को प्रस्तुत करते हुए ऐसे समाज के निर्माण की कल्पना भी प्रस्तुत करती है, जिसमें कोई छोटा–बड़ा नहीं होगा, कोई किसी का अपमान नहीं करेगा, सभी परस्पर प्रेम भाव रखते हुए नैतिकताओं व मर्यादाओं का पालन करते हुए जीवन–यापन करेंगे और मानव–मात्र के कल्याण हेतु कर्म–यज्ञ में अपना सहयोग देंगे वही समाज मूलतः राम का समाज होगा। रामराज्य की संकल्पना के मूल में वस्तुतः रामभक्त कवियों का यही आदर्श रहा है जहां सम्बन्धों के साथ–साथ राजा के दायित्व की भी साक्षात् प्रस्तुति हुई है।

5. आदर्श की स्थापना :– रामकाव्य में विभिन्न आदर्शों की कल्पना की गई है और उनकी स्थापना पर बल दिया गया है। इसमें व्यक्ति, परिवार, वर्ग, समुदाय, समाज शासन व्यवस्था, सभी की आदर्श स्थिति का स्पष्टीकरण है। आदर्श पुत्र, भाई, पिता, पत्नी, मित्र, सेवक, राजा इत्यादि का आदर्श भी विद्यमान है। भारतीय समाज में जब आदर्शों और मयार्दाओं की बात कही जाती है तो राम के समाज का उदाहरण दिया जाता है जब शासन की बात होती है तो रामराज्य का उदाहरण दिया जाता है, और जब मन को शुद्ध रखते हुए ईश्वर स्मरण की चर्चा होती है तो भी रामराज्य का उदाहरण सामने रखा जाता है और राम का ही गुणगाण किया जाता है। तत्कालीन स्वार्थ और कपट से भरे अशांत वातावरण में इन आदर्श पात्रों द्वारा श्रद्धा और विश्वास इत्यादि वातावरण का निर्माण करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः आदर्श के रूप में राम राज्य भारतीय समाज व्यवस्था का मानक रहा है। राम काव्य का आदर्श पक्ष अत्यन्त उच्च है। राम आदर्श पुत्र हैं। वे आदर्श राजा भी हैं। सीता आदर्श पत्नी है, कौशल्या आदर्श माता है, लक्ष्मण और भरत आदर्श भाई हैं, हनुमान आदर्श सेवक है और सुग्रीव आदर्श सखा है। इस काव्य में जीवन का मूल्यांकन भी आचार की कसौटी पर किया गया है। राजा–प्रजा, पिता–पुत्र, पति–पत्नी, भाई–भाई, स्वामी सेवक के सम्बन्धों पर आधारित समाज आचार के बल पर ही जी सकता है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' द्वारा जो आदर्श चरित्र समाज के सामने रखे उनके उदाहरण आज के समाज में भी दिये जाते हैं।

6. लोक मंगल की भावना :– रामराज्य की गणना प्रभाव की दृष्टि से उच्चकोटि के उन काव्यों में होगी जिनका उद्देश्य जन कल्याण या लोकमंगल होता है। ऐसे काव्य मात्र मनोरंजन के लिए नहीं लिखे जाते बल्कि एक कल्याणकारी और लोकमंगल की भावना से भरे उद्देश्य को लेकर लिखे जाते है। राम–काव्य के प्रवर्त्तक तुलसी यद्यपि यह कहते

है कि उन्होंने रामचरितमानस की रचना स्वान्तः सुखाय उद्देश्य को लेकर की, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि उतनी ही लोकहिताय भी हो गई है। अर्थात् उसका उद्देश्य जन–कल्याण या लोक–मंगल की भावना भी हो गया। राम काव्य के नायक का उद्देश्य भी जन–कल्याण अथवा लोकमंगल ही है और उसका उद्देश्य ही इन काव्यों का उद्देश्य भी बन गया।

7. काव्य रूपों की विविधता :– रामकाव्य का काव्य–क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है क्योंकि इसमें काव्य की सभी शैलियों, रूपों और विधियों को अपनाया गया है। तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' महाकाव्य है जिसकी गणना संसार के श्रेष्ठ महाकाव्यों में की गई है। 'जानकी मंगल' अत्यन्त सुन्दर और मनोरम खण्डकाव्य है। 'गीतावली' गीतिकाव्य है जिसमें सरसता और संगीत का अपना स्थान है। 'विनय पत्रिका' स्तुतिपरक काव्यों में गणमान्य है। विद्वानों की दृष्टि में यह रचना तुलसी के सभी काव्यों में उत्कृष्ट है। 'कवितावली' में वीरगाथाकालीन चारण–पद्धति का अनुसरण हुआ है, जिसमें कवित्त, छप्पय, सवैये आदि के माध्यम से रामकाव्य की सरसता को उपस्थित किया गया है। 'रामललानहछू' लोकगीत का अनुपम साहित्यिक उदाहरण है। केशव की 'रामचन्द्रिका' संवादों की दृष्टि से अनुपम है।

8. भाषा–शैली :– रामकाव्य भाषा के क्षेत्र में भी विशेष महत्त्व रखता है। रामकाव्य की रचना प्रायः सभी भाषाओं में हुई है। 'रामचरितमानस' और 'रामललानहछू' में अवधी का प्रयोग हुआ है। 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' इत्यादि की रचना ब्रजभाषा में हुई है। 'रामचन्द्रिका' में ब्रजभाषा के अलावा बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त रामकाव्यों में भोजपुरी, राजस्थानी, संस्कृत, फारसी एवं अरबी के शब्द भी पाये जाते हैं।

9. सभी रसों का समावेश :– रामकथा अत्यन्त व्यापक है। उसमें जीवन की विविधताओं का सहज रूप से चित्रण है। जिसके कारण उसमें सभी रसों का समावेश बड़ी सरलता से हो जाता है। केशव की 'रामचन्द्रिका' में सभी रसों की व्यंजना हुई है। 'रामचरितमानस' में भी सभी रस उपलब्ध होते हैं। राम के विवाह में सौन्दर्य और माधुर्य की भावना निहित है। राम बनवास तथा लक्ष्मण मूर्च्छा के समय करुण रस, नारद मोह तथा लक्ष्मण–परशुराम संवाद में हास्य रस, राम–रावण युद्ध वर्णन में वीर, भयानक, रौद्र और वीभत्स रस के दर्शन होते हैं। परन्तु रामकाव्य में सेवक–सेव्य भाव की भक्ति होने के कारण निर्वेदजन्य शांत रस की प्रधानता है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और भक्त कवि भी मर्यादावादी हैं, कदाचित यही कारण है कि इस साहित्य में श्रृंगार रस के संयोग और वियोग पक्षों का सम्यक् चित्रण नहीं हो सका। यह बात अधिकतर तुलसी के साहित्य में चरितार्थ होती है। 18वीं शती की रामभक्ति में माधुर्य भावना बल पकड़ती चली गई ऐसा सम्भवतः कृष्ण – साहित्य के अनुकरण पर हुआ होगा। आगे चलकर रामभक्ति साहित्य परम्परा में रामायत सखी सम्प्रदाय में नखशिख, अष्टयाम आदि रित्त–उत्तेजक विषयों का वर्णन होने लगा। राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय में भी श्रृंगार रस का यथेष्ट चित्रण हुआ है।

10. विविध छन्दों और अलंकारों का प्रयोग :– रामकाव्य सभी शैलियों में अवधी और ब्रजभाषा में लिखा गया है। इसलिए उसमें छन्दों और अलंकारों की दृष्टि से बड़ी विविधता है। प्रबन्ध–काव्यों में प्रायः दोहे–चौपाइयों का प्रयोग हुआ है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में इसी शैली को अपनाया है तो केशव की रामचन्द्रिका में छंद–विविधता का भण्डार मिलता है। मुक्तक काव्यों में दोहा, कवित्त और सवैया छन्दों का बहुत प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त रोला, सोरठा, छम्पय, कुंडलियाँ इत्यादि अनेक छन्दों को रामकाव्य के प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों में देखा जा सकता है। विविध छन्दों के प्रयोग के साथ–साथ रामकाव्य में अलंकारों के प्रयोग में भी बड़ी विविधता है। सभी शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से जड़ित इस काव्य में सौन्दर्य आ गया है। अनुप्रास, उपमा, यमक, श्लेष, रूपक, प्रतीक, इत्यादि सभी प्रचलित अलंकार इन काव्यों में यथोचित प्रयुक्त हुए हैं।

17.4.1. स्व–मूल्यांकन : (ख)

प्रिय विद्यार्थियों ! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यदि आप रिक्त स्थान भरने में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की अवश्यकता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. धनुर्धारी भगवान् राम का .... रूप लोकमानस को अधिक भाया।
2. रामभक्त कवियों की भक्ति भावना मुख्यतः ....की है।
3. .... मम दास कहावा, सो नर सपनेहुँ न सुख पावा।
4. ....के दृष्टिकोण से राम एक आदर्श पुत्र, शिष्य, एक नारीव्रती पति तथा अन्यतम स्नेह करने वाले संरक्षक हैं।
5. राम काव्य में जीवन का मूल्यांकन भी ....की कसौटी पर किया गया है।
6. राम काव्य के नायक का उद्देश्य भी ....ही है
7. 'जानकी मंगल' अत्यन्त सुन्दर और मनोरम ....है।
8. 'रामचरितमानस' और 'रामललानहछू' में ....का प्रयोग हुआ है।
9. राम बनवास तथा लक्ष्मण मूर्च्छा के समय ....रस दर्शन होते हैं।
10. केशव की ....में छंद–विविधता का भण्डार मिलता है।

17.5. राममार्गी शाखा अथवा काव्य के प्रमुख कवि :

रामानन्द स्वामी रामानन्द के रामवत–सम्प्रदाय में रामभक्ति को जो गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, वह किसी अन्य सम्प्रदाय में नहीं है। रामकाव्य परम्परा का विकास भी यदि स्वामी रामानन्द से स्वीकार किया जाये तो कोई अनौचित्य नहीं है क्योंकि स्वामी रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन किये और राम की मर्यादा–भक्ति को आदर्श और आचरण की पवित्रता से सुशोभित करते हुए जन–साधारण के लिए सुगम बनाया। निर्गुण राम की भक्ति, रामानन्द की भक्ति पद्धति में ही सगुण रूप में परिणत हुई।

रामानन्द का जन्म काशी में हुआ था और श्री वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य राघवानन्द से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। इन्होंने सभी को समान–भाव से भक्ति का अधिकारी माना। 'वैष्णव मताब्द भास्कर' तथा श्री रामार्जुन–पद्धति इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं तथा ध्यान के लिए इन्होंने रामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण को ध्यान की बात कही है। इनके अनुसार सीता प्रकृति स्थानीय, लक्ष्मण जीव–स्थानीय तथा श्री रामचन्द्र जी ईश्वर–तत्त्व के द्योतक हैं। रामानन्द जी की भक्ति का प्रभाव राम–भक्ति परम्परा पर प्रत्यक्षतः दृष्टि गोचर होता है। तुलसीदास भी इनकी विचारधारा से पूर्णतया प्रभावित थे।

अग्रदास :– स्वामी रामानन्द की शिष्य–परम्परा में ही रामभक्त कवि अग्रदास हुए। अग्रदास यद्यपि अष्टछाप के कृष्ण –भक्त कवि कृष्ण दास जी के शिष्य थे तथापि ये राम के उपासक भी थे। इनके मुख्य ग्रन्थों में ध्यान मंजरी, अष्टधाम, राम जनमंजरी, उपासना बावनी और पदावली हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने ''हितोपदेश उपाख्यान बावनी''

की भी रचना की है। अष्टधाम इनकी सर्वप्रमुख रचना है जिसमें भगवान् राम के आठों पहर के कार्यों का तथा सीता–राम के दाम्पत्य प्रेम का श्रृंगार पूर्ण चित्रण है। 'ध्यानमंजरी' में राम और उनके भाईयों के सौन्दर्य एवं अयोध्या और सरयू की शोभा का विशेष वर्णन किया गया है। अग्रदास ने 'अग्रअली' नाम से स्वयं को जानकी जी की सखी मानकर भी काव्य–रचना की है। रामभक्ति–परम्परा में रसिक–भावना के समावेश का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इनकी भाषा ब्रजभाषा है और उसमें प्रवाह के साथ परिष्कार भी है। इनको शास्त्रीय साहित्य का भी ज्ञान था। सुन्दर पद–रचनाओं तथा अलंकारों के प्रयोग से यह बात स्पष्ट हो जाती है जैसे

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा,
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा।
मेचक कुटिल विसाल सरोरूह नैन सुहाये,
मुख पंकज के निकट मनौ अलि छौन छाये।।

ईश्वरदास : ईश्वरदास ने 'सत्यवती कथा की रचना की है' परन्तु रामकथा से सम्बन्ध उनकी रचना 'भरत–मिलाप' है, जिसका उल्लेख काशी नागरी– प्रचारिणी सभा के खोज विवरण में हुआ है। इस काव्य ग्रंथ की कथावस्तु में उस समय का प्रसंग लिया गया है जब राम–वनवास के समय भरत अयोध्या में नहीं थे। अपनी ननिहाल से वापिस आने पर राम के वनगमन के समाचार से खिन्न और दुखी होकर भरत ने जो विलाप किया तथा सारी प्रजा भी उनके साथ दुखी हो उठी, तथा भरत के साथ राम को मिलने वन में जाती है, इसी करुण प्रसंग को इस काव्य–कृति में पद्यबद्ध किया गया है। ईश्वर दास की एक अन्य रचना 'अंगदपैंज' भी प्राप्त होती है, जिसमें रावण की सभा में अंगद के पैर जमाने का वीररसपूर्ण विवरण मिलता है। इन रचनाओं के कारण ही ईश्वरदास को रामभक्ति परम्परा में स्थान दिया जाता है।

नाभादास :– रामभक्ति शाखा के रामभक्त कवियों में तुलसीदास के समकालीन नाभादास का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने हिन्दी में 'भक्तमाल परम्परा' का सूत्रपात ही नहीं किया वरन् सभी भक्तमालों में सर्वश्रेष्ठ 'भक्तमाल' हिन्दी को दिया। इसके आधार पर उनका जन्मकाल 1570 ई. के लगभग ठहरता है। इनके गुरु स्वामी अग्रदास थे। इनके 'भक्तमाल' से स्पष्ट विदित होता है कि इनको संस्कृत काव्यशास्त्र तथा छन्द शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। ये राम के उपासक थे तथा इन्होंने राम–सम्बन्धी पदों की रचना भी की है, जिनके आधार पर इन्हें रामभक्त कवि स्वीकार किया जाता है। 'अष्टयाम' की रचना श्रृंगार–भक्ति अथवा रसिक–भावना को लेकर की गयी है।

केशवदास :– हिन्दी साहित्य में महाकवि केशव को एक विशेष और महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ओरछा नरेश इन्द्रजीतसिंह के दरबार में इन्हें बहुत सम्मान प्राप्त था। इनके द्वारा रचित सात ग्रंथ प्राप्त होते हैं कविप्रिया, रसिक प्रिया, वीरसिंह चरित, रामचन्द्रिका, विज्ञान गीता, रतनबावनी और जहांगीरजस चन्द्रिका। इनमें से रामचन्द्रिका हिन्दी रामकाव्य–परम्परा के अन्तर्गत एक विशिष्ट कृति है। रामचन्द्रिका के कथानक का मुख्य आधार वाल्मीकि रामायण है, किन्तु इस पर संस्कृत के 'प्रसन्नराघव' और हनुमन्नाटक का प्रभाव भी यत्र–तत्र दिखाई दे जाता है। इसमें अनेक प्रकार के वार्णिक एवं मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु पद–पद पर छन्द परिवर्तन कथा के प्रवाह में व्याघात डालता है। 'रामचन्द्रिका' में किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त या लोक शिक्षा का प्रतिपादन नहीं हुआ है। केशव स्वयं राजदरबार से सम्बन्ध रखते थे, इसलिए दरबारी वातावरण, आचार–व्यवहार तथा संवादों से सुपरिचित थे, जिसका प्रयोग उन्होंने रामचन्द्रिका में किया है। इसीलिए नाटकीय संवादों की दृष्टि से रामचन्द्रिका महत्त्वपूर्ण है। ये संवाद संजीवता और वाक्चार्तुय से परिपूर्ण है। रामचन्द्रिका की भाषा बुन्देलखण्डी मिश्रित ब्रजभाषा है। केशव की सरस भाषा का उदाहरण इस प्रकार है:–

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाऊं न ठाऊं कुठाउं बिलैहैं।
तात न मात न पुत्र न मित्र न वित्त न तीय कहूं सग रैहें।।
केशव काम के राम विसारत, और निकाम रे काम न ऐहैं।
चीत रे चेति अजौं चित अन्दर, अंतक लोक अकेलोई जैहें।।

गोस्वामी तुलसीदास :— हिन्दी में रामकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास माने जाते हैं। इनके जीवन—वृत के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। माता—पिता के स्वर्ग सिधार जाने के कारण इनका बाल्यकाल बहुत विषम परिस्थितियों में गुजरा। गुरु नरहरिदास के आश्रय में इनका पालन—पोषण हुआ तथा वही इनके गुरु भी थे जिन्होंने इन्हें ज्ञान—भक्ति की शिक्षा भी दी। विवाहोपरांत पत्नी रत्नावली से इनका अत्यधिक प्रेम उसकी एक फटकार सुनने पर ही अचानक भगवत्प्रेम में परिणत हो गया।

इनके द्वारा रचित 37 ग्रन्थ पाये जाते हैं परन्तु इनमें सभी को प्रामाणिक नहीं माना गया है। रामचरितमानस, दोहावली, कवितावली, रामायण, गीतावली, रामाज्ञाप्रश्नावली, विनयपत्रिका, रामललानहछु, पार्वतीमंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी और कृष्ण गीतावली इत्यादि इनके ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने जाते हैं। इन सभी रचनाओं में भाव—वैविध्य तुलसीदास की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्होंने अपने काव्य द्वारा एक ओर तो नाथपन्थियों के प्रभाव से नष्ट होती हुई जनमानस की आस्थाओं एवं विश्वासमयी वृत्तियों को रामभक्ति के माध्यम से पुनः जागृत किया तथा दूसरी और रामकथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से सामाजिक, पारिवारिक जीवन एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं के समुचित पोषण का आदर्श जन—मानस के सम्मुख प्रस्तुत कर विश्रंखलित हिन्दू समाज को एकत्रित किया। उनकी भक्ति भावना कबीर आदि निर्गुण भक्तों की ज्ञानयोगमयी भावना की भांति रहस्यमयी नहीं है अपितु वह तो सरल, सीधी एवं सहज प्राप्य है। उनके राम सृष्टि के कण—कण में व्याप्त है। वे सभी के लिए अन्न और जल की भांति ही सुलभ हैं यथा

निगम अगम, साहब सुगम राम सांचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबहि जंग माह।।

सेनापति : सेनापति का जन्म संवत् 1643 (1586) में माना जाता है। इनके पिता का नाम परशुराम था। इनके गुरु हीरामणि दीक्षित थे। 'कवित्त रत्नाकार' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसका रचनाकाल संवत् 1706 (1649 ई.) माना जाता है। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनकी कविता सरस और प्रवाहमयी है। 'कवित्त रत्नाकार' में पांच तरंगें हैं जिनमें क्रमशः श्लेष, श्रृंगार, ऋतु, रामायण और राम—रसायन का वर्णन है। चौथी और पांचवी तरंगों रामायण और राम—रसायन के विविध मधुर प्रसंगों का वर्णन सुसंस्कृत अर्थगर्भित भाषा में किया गया है। अनुप्रास और यमक अलंकारों का इनकी भाषा में अत्यधिक प्राचर्य है। हिन्दी में भावानुकूल ऋतु—वर्णन के लिए भी ये प्रसिद्ध हैं।

हृदयराम :— हृदयराम ने संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के आधार पर कवित्त—सवैया छन्दों में 'हनुमन्नाटक' नामक पद्यात्मक हिन्दी नाटक की रचना की। इसका रचनाकाल संवत् 1662 (1575 ई.) माना जाता है। रामकाव्यों में 'हनुमन्नाटक' का विशेष स्थान है। इसमें रामभक्ति की चर्चा सुचारू रूप से हुई है। इसमें सीता—स्वयंवर से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा संवाद—शैली में वर्णित है।

प्राणचन्द चौहान :— प्राणचंद चौहान जहांगीर के समकालीन थे। इन्होंने 1610 ई. में 'रामायण महानाटक' की रचना की थी, जो शैली के दृष्टि से नाटक न होकर वस्तुतः संवादात्मक प्रबंधकाव्य है। दोहा—चौपाई की शैली का इसमें प्राधान्य है और वर्णनात्मकता का प्राचुर्य है।

माधवदास चारण :— माधवदास चारण ने दो रचनाओं की रचना की रामरासो तथा अध्यात्म रामायण। रामरासो में रामकथा के सम्पूर्ण विस्तार में न जाकर कवि द्वारा मुख्य घटनाओं, जीवन—प्रसंगों और चारित्रिक विशेषताओं का चित्रण किया गया है तो अध्यात्म रामायण संस्कृत की अध्यात्म रामायण से प्रभावित रचना है।

नरहरि बारहट :— नरहरि बारहट ने 'पौरुषेय रामायण' ग्रन्थ की रचना की। जिसका रचनाकाल 'रामचरितमानस' के समय के कुछ ही देर बाद का है 'पौरुषेय रामायण' वस्तुतः नरहरिकृत 'चतुर्विंशति अवतार चरित्र' नामक विशाल ग्रन्थ का एक अंश है, जिसमें इक्कीसवें अवतार के रूप में रामचरित्र का वर्णन है। प्रमुखतः दोहा—चौपाई पद्धति का अनुसरण करते हुए कवि ने कवित्त, सवैया, छप्पय, पद्धरि, भुजंगप्रयात आदि अनेक छन्द अपनाये हैं। भाषा राजस्थानी और ब्रज—मिश्रित अवधी है।

17.5.1. स्व–मूल्यांकन : (ग)

प्रिय विद्यार्थियों! अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं। आप इस अध्याय का पुनः अध्ययन करें साथ ही उत्तर कुंजी भी देख सकते हैं।

1. **किसकी भक्ति का प्रभाव राम–भक्ति परम्परा पर प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होता है?**

   (क) तुलसी (ख) वल्लभाचार्य (ग) ईश्वरदास (घ) रामानन्द

2. **''हितोपदेश उपाख्यान बावनी'' के रचियता कौन हैं?**

   (क) तुलसी (ख) अग्रदास (ग) ईश्वरदास (घ) रामानन्द

3. **रामकथा से सम्बन्ध 'भरत–मिलाप' रचना किसकी है?**

   (क) ईश्वरदास (ख) अग्रदास (ग) केशव (घ) रामानन्द

4. **हिन्दी में 'भक्तमाल परम्परा' का सूत्रपात किसने किया?**

   (क) ईश्वरदास (ख) वल्लभाचार्य (ग) नाभादास (घ) रामानन्द

5. **केशव की कौन–सी रचना हिन्दी रामकाव्य–परम्परा के अन्तर्गत एक विशिष्ट कृति है?**

   (क) कविप्रिया (ख) रामचन्द्रिका (ग) रसिक प्रिया (घ) वीरसिंह चरित

6. **तुलसीदास की पत्नी का क्या नाम है?**

   (क) रत्नावली (ख) हुलसी (ग) चन्द्रावली (घ) कमला

7. **हीरामणि किसके गुरु थे?**

   (क) ईश्वरदास (ख) अग्रदास (ग) केशव (घ) सेनापति

8. **हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक' का रचनाकाल क्या है?**

   (क) संवत् 1682 (ख) संवत् 1662 (ग) संवत् 1672 (घ) संवत् 1661

9. **जहांगीर के समकालीन कौन थे?**

   (क) ईश्वरदास (ख) नरहरि बारहट (ग) अग्रदास (घ) प्राणचंद चौहान

10. **'रामरासो' तथा 'अध्यात्म रामायण' किसकी रचनाएँ हैं?**

    (क) अग्रदास (ख) नरहरि बारहट (ग) ईश्वरदास (घ) माधवदास चारण

11. **'पौरुषेय रामायण' ग्रन्थ की रचना किसने की है?**

    (क) अग्रदास (ख) नरहरि बारहट (ग) ईश्वरदास (घ) सेनापति

17.6. सारांश :

इस अध्याय में हमने सगुण भक्ति के अंतर्गत राम काव्य की विशेषताओं का विस्तृत अध्ययन तथा सभी रामभक्त कवियों का परिचय प्राप्त किया।

17.7 कठिन शब्द :

1. प्रस्फुटित – प्रकट, व्यक्त
2. परिपुष्टि – सम्यक पोषित
3. आबद्ध – जकड़ा हुआ
4. उद्‌बुद्ध – विकसित, उद्दीप्त
5. गोचर – जिनका ज्ञान इंद्रियों द्वारा संभव हो

17.8 अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. राम भक्ति धारा पर टिप्पणी लिखें।

2. राममार्गी शाखा की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

3. राममार्गी शाखा के प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।

17.9 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1.सही 2. सही 3.गलत 4. सही 5. गलत 6. सही 7. गलत 8. सही 9. गलत 10. सही

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. रक्षक 2. दास्य भाव 3. शिवद्रोही 4. पारिवारिक जीवन 5. आचार 6. जन–कल्याण अथवा लोकमंगल 7. खण्डकाव्य 8. अवधी 9. करुण 10. रामचन्द्रिका

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. रामानन्द 2. अग्रदास 3. ईश्वरदास 4. नाभादास 5. रामचन्द्रिका 6. रत्नावली 7. सेनापति 8. संवत् 1662 9. प्राणचंद चौहान 10. माधवदास चारण 11. नरहरि बारहट

17.10. पठनीय पुस्तकें :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल,हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

कृष्ण मार्गी काव्य की विशेषताएँ एवं प्रमुख कवियों का योगदान

रूपरेखा

18.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
18.2. प्रस्तावना
18.3. कृष्ण मार्गी शाखा अथवा काव्य
18.3.1. स्व–मूल्यांकन : (क)
18.4. कृष्ण मार्गी शाखा अथवा कृष्ण काव्य की विशेषताएँ
18.4.1. स्व–मूल्यांकन : (ख)
18.5. कृष्ण मार्गी शाखा के प्रमुख कवि
18.5.1. स्व–मूल्यांकन : (ग)
18.6. सारांश
18.7. कठिन शब्द
18.8. अभ्यासार्थ प्रश्न
18.9. उत्तर कुंजी
18.10. पठनीय पुस्तकें

18.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय का उद्देश्य आपको भक्तिकाल की सगुण शाखा के अंतर्गत आने वाली कृष्ण मार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान से परिचित करवाना है।

इस अध्याय का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात आप भक्तिकाल की सगुण शाखा के अंतर्गत आने वाली कृष्ण मार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान को समझने में सक्षम होंगे।

18.2. प्रस्तावना :

प्रिय विद्यार्थियों! पूर्व अध्याय में आपने भक्तिकाल की सगुण शाखा के अंतर्गत आने वाली राममार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान का अध्ययन किया। इस अध्याय में आप सगुण शाखा के अंतर्गत आने वाली कृष्ण मार्गी धारा के काव्य की विशेषताओं एवं प्रमुख कवियों के योगदान का अध्ययन करेंगे।

18.3. कृष्ण मार्गी शाखा अथवा काव्य :

भक्तिकाल की कृष्ण मार्गी शाखा के अन्तर्गत भारतीय धर्म साधना और साहित्य में कृष्ण भक्ति काव्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। मध्यकालीन सगुण भक्ति के आराध्य देवताओं में भगवान् श्री कृष्ण का स्थान सर्वापरि है। इनके महिमामंडित स्वरूप को आधार बना कर विपुल साहित्य की रचना हुई है। कृष्ण भक्त कवियों की अपनी दृष्टि के अनुसार आग्रहों में आंशिक परिवर्तन देखे जा सकते हैं परन्तु इनमें समानता के सूत्र अधिक पाये जाते हैं। इस युग में कृष्ण भक्ति

साहित्य ने भी जनता का हित–चिंतन किया। निर्गुण संतों की ज्ञानमार्गी साधना को अपनाना जन सामान्य के लिए आसान नहीं था। संतों और सूफियों की रहस्यमय वाणी जनता के दग्ध और विक्षुब्ध हृदय को शांति नहीं दे सकी। रामभक्ति काव्य की तरह कृष्ण भक्ति काव्य भी तत्कालीन सामंती समाज की भूमिका पर विकास की और अग्रसर हुआ। रामभक्ति काव्य की तरह कृष्ण भक्ति काव्य में भी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक विषमताओं से जूझने के लिए वह स्वर नहीं है जिसके लिए प्रायः निर्गुणी सन्तों–कबीर इत्यादि का उल्लेख किया जाता है। रामकाव्य का उद्भव अवश्य इस क्षेत्र में अपना महत्त्व रखता है, परन्तु तुलसी के आदर्शवादी, मर्यादावादी और नैतिक मार्ग का अनुकरण करना भी आसान नहीं था। कृष्ण काव्य में निरूपित भक्तिमार्ग जन सामान्य की मनोवृत्ति के अनुरूप था, फलतः मध्यकाल में कृष्ण काव्य का व्यापक स्तर पर प्रसार हुआ। निराकार की तुलना में साकार प्रभु के स्वरूप की आराधना करना अधिक आसान और मनमोहक होता है। इसमें ईश्वर के भक्त को इस लोक से परलोक तक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ज्ञान और अनुभव के कठिन मार्ग से नहीं गुजरना होता। कृष्ण मार्गी कवियों के अनुसार प्रभु स्वयं अवतार धारण करके इहलौकिक बनकर अपने और भक्त के मधुर सम्बन्धों की स्थापना में सहयोग देते हैं। उनके अनुसार प्रभु के साकार रूप की आराधना में देवभोग, शृंगार, आरती, पूजा और कीर्तन इत्यादि में इन्द्रिय सुख भी प्राप्त होता है। कृष्ण के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों को इन कृष्ण भक्त कवियों ने भक्तिभाव से व्यंजित किया है।

कृष्ण काव्य की एक दीर्घ परम्परा है जिसके प्रेरणा स्त्रोत संस्कृत साहित्य में मिलते हैं। कृष्ण का वर्णन भारतीय साहित्य, इतिहास पुराणों आदि में पर्याप्त मात्रा में हुआ। मध्यकाल में कृष्ण –भक्ति साहित्य के प्रधान आधारभूत ग्रन्थ महाभारत, हरिवंश पुराण श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण रहे हैं। कृष्ण भक्त कवियों ने उन ग्रन्थों से पर्याप्त सामग्री ली है। इन ग्रन्थों में कृष्ण जीवन की विभिन्न लीलाओं का वर्णन है। इनमें से भागवत में कृष्ण–भक्ति का पूर्ण विकास देखने को मिलता है। इसके बाद के सभी काव्यों पर भागवत का प्रभाव देखा जा सकता है। कृष्ण – लीलाओं का संस्कृत काव्यों में सबसे पहले उल्लेख अश्वघोष के 'ब्रह्मचरित' काव्य में प्राप्त होता है। इसके बाद हाल–रचित 'गाहा सतसई' में कृष्ण, राधा, गोपी, यशोदा आदि का उल्लेख है। कृष्ण विषयक काव्य का प्राचुर्य हमें बारहवीं शताब्दी के बाद देखने को मिलता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में कृष्ण –काव्य का प्रारम्भ मैथिल–कोकिल विद्यापति से 14 शताब्दी से स्वीकार किया जाता है। राधाकृष्ण की प्रेम–लीलाओं का वर्णन करने के लिए विद्यापति ने 'पदावली' की रचना की। हिन्दी के कृष्ण भक्ति आंदोलन के मुख्य सूत्रधार वल्लभाचार्य ने शंकर के वेदांत को शुद्ध करके शुद्धाद्वैत की संज्ञा को सार्थकता प्रदान की। इसी सिद्धांत के कारण भक्ति को ज्ञान और कर्म से उत्तम माना गया। उन्होंने साधना और व्यवहार क्षेत्र में शुद्धाद्वैत दर्शन के साथ जिस भक्ति को स्थान दिया, उसका आधार उन्होंने पुष्टिमार्ग को बनाया तथा भगवान् के अनुग्रह या कृपा को ही पुष्टि कहा। पुष्टिमार्गीय भक्ति रागानुगा भक्ति है। इस भक्ति में किसी प्रकार के साधन या कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं होती। पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध और संचित कर्मों का शमन ईश्वर कृपा से स्वयं हो जाता है पुष्टि भक्ति का लाभ यह है कि इसके द्वारा सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। पुष्टिमार्गीय भक्ति के तीन फल हैं रसरूप पुरुषोत्तम के स्वरूपानन्द की शक्ति प्राप्त कर उसकी लीला में प्रविष्ट होना दूसरा, पूर्ण पुरुषोत्तम के श्रीअंग अथवा आभूषणादि का अंग बनना और तीसरा, प्राकृत देहेन्द्रियादि से मुक्त होकर अप्राकृत शरीर में भगवान के वैकुण्ठ आदि लोकों में आनन्द–भोग की स्थिति प्राप्त करना। इस प्रकार मोक्ष की दृष्टि से भी पुष्टिमार्ग को अधिक सुखद बताया गया है। पुष्टिमार्गीय कृष्ण भक्त हिन्दी–कवियों ने इसी आधार को ग्रहण कर कृष्ण के रूप–सौन्दर्य को शृंगारमण्डित किया और उस भगवान के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए काव्य–रचना की। कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन भी इसी पुष्टिभक्ति को ध्यान में रखकर किया गया है।

श्री वल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्गीय भक्ति–सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसका जिन हिन्दी–भक्त–कवियों द्वारा पल्लवन किया गया, उन्हें अष्टछाप के कवि कहा जाता है। यों तो पुष्टिमार्ग को स्वीकार करने वाले अनेक भक्त उस

समय विद्यमान थे, किन्तु जिन आठ भक्त कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने आशीर्वाद की छाप लगायी थी वे 'अष्टसखा' या 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी में कृष्ण–काव्य का बहुत कुछ श्रेय श्री वल्लभाचार्य को है क्योंकि इन्हीं के चलाये हुए पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने अत्यन्त मूल्यवान् कृष्ण –साहित्य की रचना की। वल्लभ–संप्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप के सूरदास आदि आठ कवियों की मंडली अष्टसखा के नाम से भी अभिहित की जाती है। सम्प्रदाय की दृष्टि से ये आठों कवि भगवान् कृष्ण के सखा हैं। गुसाई विट्ठलनाथ ने सं. 1602 के लगभग अपने पिता वल्लभ के 84 शिष्यों में से चार तथा अपने 252 शिष्यों में से चार को लेकर संप्रदाय के इन आठ प्रसिद्ध भक्त कवि तथा संगीतज्ञों की मंडली की स्थापना की। अष्टछाप में महाप्रभु वल्लभ के चार प्रसिद्ध शिष्य थे कुम्भनदास, परमानन्ददास, सूरदास तथा कृष्णदास अधिकारी और गुसाई विट्ठलनाथ के प्रसिद्ध शिष्य थे। गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास। इन अष्टछाप के कवियों में सबसे ज्येष्ठ कुम्भनदास थे तथा सबसे कनिष्ठ नन्ददास थे। काव्य–सौष्ठव की दृष्टि से इनमें सर्वप्रथम स्थान सूरदास का है तथा द्वितीय स्थान नन्ददास का। पद–रचना की दृष्टि से परमानन्द दास का है। गोविन्द स्वामी संगीत–मर्मज्ञ हैं। कृष्ण दास अधिकारी का साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है पर ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। कृष्ण भक्तों में साम्प्रदायिकता, लीलाओं में आध्यात्मिकता के स्थान पर ऐहलौकिकता, श्रीनाथ के मन्दिर में विलास प्रधान ऐश्वर्य, कृष्ण–भक्ति साहित्य में नख–शिख तथा नायिका–भेद के वर्णन का बहुत कुछ दायित्व इन्हीं पर है। इस बात के सम्यक् ज्ञान के लिए दौ सौ बावन वैष्णवन की वार्ता का अध्ययन उपयोगी रहेगा। अष्टछाप के शेष कवियों की प्रतिभा साधारण कोटि की है।

अष्टछाप के ये आठों भक्त समकालीन थे। ये पुष्टि सम्प्रदाय के श्रेष्ठ कलाकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार थे। ये सभी भक्त अपनी–अपनी पारी पर श्रीनाथ के मन्दिर में कीर्तन, सेवा तथा प्रभुलीला सम्बन्धी पद रचना करते थे। गुसाई विट्ठलनाथ ने इन अष्ट सखाओं पर अपने आशीर्वाद की छाप लगाई अतः इनका नाम अष्टछाप पड़ा।

हिन्दी का कृष्ण –भक्ति साहित्य शुद्ध धार्मिक वातावरण में रचा गया है। यद्यपि उस पर भक्ति–दर्शन के सम्प्रदायों का भी पूरा–पूरा नियन्त्रण रहा। यही कारण है कि कृष्ण –भक्ति के सभी सम्प्रदायों के अनुरूप रचे जाने वाले साहित्य को हम दो प्रमुख भागों में बांट सकते हैं, एक वह जिसका प्रधान लक्ष्य भक्ति–सिद्धान्त और भक्ति–दर्शन का निरुपण था तथा दूसरा वह जिसका लक्ष्य था कृष्ण की लीलाओं तथा भक्ति–रस के अवगाहन के द्वारा साहित्यिक आनन्द प्रदान करना। कृष्ण –भक्त कवियों का मन मुख्यतः कृष्ण की मधुर लीलाओं में ही रचा है। रामकाव्य की तरह जीवन की सम्पूर्ण दशाओं के विस्तार एवं उनके क्रमिक वर्णन में इन कृष्ण भक्त कवियों का मन उतना नहीं रम पाया। कृष्ण –चरित्र की समग्रता या विविधता का चित्रण इन भक्तों का उद्देश्य नहीं था, वे कृष्ण की लीलाओं में आनन्दमगन होना चाहते थे। यही कारण है कि कृष्ण भक्ति साहित्य प्रधानतः मुक्तक और गेय पदों की शैली में रचा गया। लीला के आनन्द में रमने के लिए गेय पदों का माध्यम ही सबसे उपयुक्त था। संगीत और भाव–माधुर्य के सहज समन्वय के साथ इन पदों में भक्त कवियों की पूर्ण तन्मयता के भी दर्शन होते हैं। वस्तुतः इन कृष्ण भक्तों के लिए भगवान का सम्पूर्ण जीवन ही लीला है। प्रायः सभी कृष्ण भक्त कवि भागवत अथवा अन्य किसी पुराण में वर्णित कृष्ण –सम्बन्धी प्रसंगों का अवलम्बन करके ही चले हैं। घटनाओं के क्रम पर भी इन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया है। इन कृष्ण–भक्त कवियों ने साधारणतः बालकृष्ण से लेकर किशोर या यौवन में प्रवेश करने वाले कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। इनके काव्य के गेय पदों में गीति, मुक्तक और प्रबन्ध तीनों प्रकार के काव्यों के सौन्दर्य का सहज मिश्रण हो गया है। फिर भी उनके काव्य में प्रधान सौन्दर्य गीति का ही है। कृष्ण –भक्ति के इन पदों में गीतिकाव्य की सहज स्फूर्ति, आडम्बरहीनता तथा निश्चलता के दर्शन होते हैं। इन कवियों ने श्रीकृष्ण के लोकरंजक रूप को आत्मसात करते हुए अपने आराध्य श्री कृष्ण की लीलाओं की तन्मयता में अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया। रामभक्ति शाखा की अपेक्षा

कृष्ण भक्तिशाखा का अधिक विस्तार हुआ है। इस परम्परा के कवियों की संख्या काफी अधिक है। अष्टछाप के कवियों के साथ अन्य अनेक भक्तिकालीन पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कवि भी इसमें सम्मिलित हैं।

18.3.1. स्व–मूल्यांकन : (क)

प्रिय विद्यार्थियों! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें। यह मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. सगुण भक्ति के आराध्य देवताओं में भगवान् श्री कृष्ण का स्थान सर्वापरि है। ( )
2. निर्गुण संतों की ज्ञानमार्गी साधना को अपनाना जन सामान्य के लिए आसान था। ( )
3. मध्यकाल में कृष्ण काव्य का व्यापक स्तर पर प्रसार हुआ। ( )
4. मध्यकालीन कृष्ण–भक्ति साहित्य के आधारभूत ग्रन्थ महाभारत, हरिवंश पुराण, श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण रहे हैं। ( )
5. कृष्ण – लीलाओं का संस्कृत काव्यों में सबसे पहले उल्लेख अश्वघोष के 'ब्रह्मचरित' काव्य में प्राप्त होता है। ( )
6. पुष्टिमार्गीय भक्ति रागानुगा भक्ति नहीं है। ( )
7. अष्टछाप में सात कवि थे। ( )
8. अष्टछाप में महाप्रभु वल्लभ के चार प्रसिद्ध शिष्य थे कुम्भनदास, परमानन्ददास, सूरदास तथा कृष्ण दास। ( )
9. कृष्ण भक्ति साहित्य प्रधानतः प्रबन्ध शैली में रचा गया। ( )
10. कृष्ण –काव्य में सहज स्फूर्ति, आडम्बरहीनता तथा निष्छलता के दर्शन होते हैं। ( )

18.4. कृष्ण मार्गी शाखा अथवा कृष्ण काव्य की प्रमुख विशेषताएँः

1. **श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन** :– कृष्ण भक्ति काव्य में कृष्ण का लीला रूप प्रधान है। मध्यकालीन कृष्ण भक्त कवियों में लोकनिरंजनकारी कृष्ण की लीलाओं का उन्मुक्त गान किया। उनकी लीला का प्रयोजन लीलानन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं। लीला का उद्देश्य अखण्ड आनन्द में जीवन की आध्यात्मिक परिपूर्णता की अभिव्यजंना करना है। इस लीला के उन्होंने अनेक रूप कल्पित किये। श्री कृष्ण के बाल गोपाल रूप की लीलाएं, माखन चोरी, वृंदावन लीला, रासलीला, सख्य रूप में लीलाएं तथा माधुर्य भावपूर्ण लीलाएं ही समस्त मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में व्याप्त है जहां पर वह मानुष–रूप में संचरित हैं। इन कवियों को श्रीकृष्ण का यह रूप अधिक आनंददायक तथा मनमोहक प्रतीत होता है। ग्राम जीवन की सभी विशेषताओं और संस्कारों से घिरे कृष्ण का रूप उन्हें अधिक भाया है। इसीलिए इन कवियों ने श्रीकृष्ण के बाल और किशोर रूप को अधिक पसन्द किया है। वे गोपियों के बीच जैसे स्वयं भी गोप–गोपी हो जाते हैं। उन्होंने कृष्ण से जो भी अलौकिक कृत्य करवाए हैं, वे जैसे सहज ही हो गए हैं, कृष्ण ने जान बूझ कर नहीं किए है। कृष्ण की विभिन्न लीलाएं, बालसुलभ क्रीडाएं आकर्षित करती हैं। सख्य और दास्यभाव वाली इस भक्ति का आधार कृष्ण की लीलाएं ही हैं। कृष्ण की लीला भूमि ब्रज मंडल में कृष्ण भक्तों ने लीलागान करके कृष्ण काव्य को आकार दिया है। सगुण भक्त के लिए ईश्वर का अवतार लीला करने के लिए होता है। ईश्वर सामान्यजन की तरह जन्म लेता है,

लीलाएं दिखाता है और खलजनों का नाश करके तिरोहित हो जाता है। रामकाव्य में राम की लीला भारत के पार तक जाती है पर कृष्ण काव्य में कृष्ण लीला का क्षेत्र, वर्ण्य विषय की परिधि बड़ी सीमित है। मथुरा के कारागर से बाहर आने के बाद कृष्ण यमुना पार करते हैं, तो फिर युवा होकर ही मथुरा में प्रवेश करते हैं। इस पार और प्रवेश के बीच का समय वे नदगांव, बरसाना, गोकुल, गोवर्धन और वृंदावन में बाल और किशोर जीवन की लीलाएं करते हुए बिताते हैं। कृष्ण भक्त कवियों को कृष्ण का यही क्षेत्र और यही रूप भाया है। इसी को अधिक विस्तार दिया गया है। निम्बार्क चैतन्य हरिवंश और हरिदास इन सभी कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में माधुर्य भाव का सर्वाधिक महत्व है। गोपी–कृष्ण और राधाकृष्ण की प्रेम लीलाओं का श्रवण, स्मरण, चिन्तन एवं गायन ही कवियों का उद्देश्य बन गया है। इस प्रकार समूचा कृष्ण –भक्ति काव्य माधुर्य भाव में ही केन्द्रीभूत हो गया और वल्लभ सम्प्रदाय भी इनसे अप्रभावित नहीं रह सका। सूर काव्य में कृष्ण की प्रेम–लीलाओं का सबसे अधिक चित्रण है। राधा वल्लभी चैतन्य के गौड़ीय और हरिदास के सखी सम्प्रदाय के सभी कवि कृष्ण की प्रणय लीलागान में ही लीन रहे। सूरदास ने कृष्ण की प्रणय लीला के वर्णन में जहां पर एक निश्चित विवेक, एक निश्चित एवं सूक्ष्म आध्यात्म भावना तथा संयम से काम लिया है वहीं पर बाद के कृष्ण भक्तों ने इन चीजों को भुला सा दिया। इन कवियों के प्रेम–लीला वर्णन कुछ चुने हुए प्रसंगों तक ही सीमित रह गये। कृष्ण का क्रीड़ास्थल केवल यमुना–कुंजलता –निकुंज और अन्तःपुर प्रकोष्ठ ही रह गये। उसमें सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता और आध्यात्मिकता के स्थान पर ऐहलौकिकता आ गई है। कृष्ण की यह प्रणय लीलाएं आगे चलकर रीतिकाल में घोर लौकिक शृंगारिकता में परिणत हो गई। जो भी हो इन कवियों का मूल उद्देश्य श्रीकृष्ण का लीलागान ही रहा है।

2. **श्रीकृष्ण का लोकरंजक रूप** :– पुष्टिमार्ग के प्रर्वत्तक आचार्य वल्लभ ने कृष्ण भक्तों को भागवत के दशम स्कंध के आधार पर लीला–वर्णन करने का उपदेश दिया था। इसलिए कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण के बाल और किशोर रूप का ही अत्यधिक चित्रण किया है। कृष्ण मार्गी शाखा के सूरदास, नन्ददास इत्यादि प्रमुख तथा अन्य गौण कृष्ण भक्त कवियों ने भी कृष्ण के विभिन्न रूपों के विविध आयामों को सरस ढंग से चित्रित किया है। श्रीकृष्ण की बाल–लीलाओं तथा प्रसंगों का स्वाभाविक क्रमिक विकास इन कवियों के काव्य में उनके लोकरंजक रूप को भी प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। वस्तुतः भागवत धर्म का आधार रहा, कृष्ण का यह लोकरंजक रूप जनमानस में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इन कवियों ने कृष्ण के किशोर रूप के चित्रण में एक साथ इकट्ठे रहने पर उपजने वाले प्रेम को भी व्यक्त किया है। कंदुक क्रीड़ा से रासलीला तथा कृष्ण के जीवन से जुड़े अन्य प्रसंगों में भी इन कवियों ने उनके लोकरंजक रूप को ही व्यक्त किया है।

3. **विषय वस्तु में मौलिक उद्भावना** :– कृष्ण सम्बन्धी काव्य की सृष्टि संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य की रचना से पूर्व हो चुकी थी। इसके साथ ही विविध कृष्ण –भक्ति संप्रदायों की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। कृष्ण काव्य का प्रेरणा स्त्रोत 'भागवत' का आधार लेकर चला है अतः मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण –भक्ति काव्य भी वैष्णव धर्म के इस अक्षय स्त्रोत 'भागवत' के आधार पर ही सृजित हुआ है। परन्तु इस काव्य में पर्याप्त मौलिक उद्भावना के दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ भागवतकार के कृष्ण निर्लिप्त हैं। वे गोपियों की प्रार्थना पर लीला में शरीक होते हैं जबकि हिन्दी कवियों के कृष्ण गोपियों की ओर स्वयं आकर्षित होते हैं। 'भागवत' में आदि से अन्त तक कृष्ण का ब्रह्मत्व और उनके चरित्र का अलौकिकत्व बने रहते हैं जबकि हिन्दी कवियों के कृष्ण में बहुत कम स्थानों पर अलौकिकता है वे बाल रूप में बाललीलाएं और युवा रूप में प्रणय लीलाएं करते हैं। 'भागवत' में कृष्ण के साथ प्रेम करने वाली एक गोपी का वर्णन है। उसमें राधा का वर्णन नहीं है जबकि सूरदास इत्यादि कवियों ने राधा की कल्पना द्वारा प्रणय चित्रण में एक अलौकिक भव्यता ला

दी है, हिन्दी कवियों ने जयदेव तथा विद्यापति का आधार लेते हुए भी यथेष्ट कल्पना शक्ति से काम लिया है। विद्यापति के राधा–कृष्ण प्रणय चित्रण में जहां स्थूलता और उद्धामत्त है वहां इन कवियों ने इन चित्रणों में नवीन रूप रंग भर कर उसे निखार दिया है। इन कवियों ने लोक–प्रचलित कृष्ण लीलाओं का सदुपयोग करके कृष्ण भक्ति की अभिवृद्धि में एक नवीन योगदान दिया है तथा अपने युग तथा समाज के वातावरण के अनुसार अनेक नवीन प्रसंगों की उद्भावना भी की है।

4. **भक्ति–भावना** भक्ति के क्षेत्र में कृष्ण भक्त कवियों ने नये आयाम उद्घाटित किए हैं। भक्ति के पांच भाव भेद शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गए हैं। कृष्ण भक्तों ने सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव को ही विशेष महत्व प्रदान किया है। वस्तुतः ये तीनों भाव ही भक्ति और प्रेम के विविध रूपों के प्रतीक हैं। कृष्ण –भक्ति काव्य की यह प्रेमलक्षणा भक्ति वैधी भक्ति से भिन्न है। कृष्ण –प्रेम के सामने सामाजिक विधि–निषेद लोक, वेद और शास्त्र की मर्यादा सभी नगण्य है। कृष्ण भक्ति के सभी सम्प्रदायों में कान्ताभाव की भक्ति को अधिक महत्व दिया गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वकीया भाव पर बल दिया गया है और चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया प्रेम में माधुर्य भाव की चरम परिणति मानी गयी है। आगे चलकर वल्लभ सम्प्रदाय में परकीया भाव की भक्ति का प्रचलन हो गया। राधावल्लभ सम्प्रदाय में परकीया भाव की अस्वीकृति है। कृष्ण –भक्तों के इस परकीया भाव में किसी प्रकार की अश्लीलता तथा अनैतिकता की शंका करना व्यर्थ है। वस्तुतः परकीया भाव आदर्श प्रेम का प्रतीक मात्र है। भक्ति की इन विधाओं के अतिरिक्त कृष्ण –भक्ति काव्य में दास्य भाव की भक्ति तथा नवधा भक्ति के अन्य अंगों का भी चित्रण मिलता है किन्तु प्रधानता रागानुराग भक्ति को ही दी गई है।

5. **पात्र एवं चरित्र चित्रण** :– राम काव्य में पात्रों के चरित्र के जैसे विविध पक्ष हैं वैसे कृष्ण भक्ति काव्य में नहीं। तुलसी ने राम के समूचे जीवन को प्रबन्ध काव्य का विषय बनाया है जबकि कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण जीवन के कोमलतम अंशों को अपने काव्य का विषय बनाया है। इन भक्तों के कृष्ण महाभारत के नीति कुशल, व्यवहारवादी योद्धा कृष्ण नहीं है वे हैं बाल गोपाल तथा सांवले–सलोने छलिया कृष्ण । कृष्ण के साथ सम्बन्ध पात्र हैं नन्द–यशोदा, गोपी–गोप तथा ब्रजवासी जोकि कृष्ण के प्रति वात्सल्य और सख्य रूप में प्रेम को दर्षाते हैं। कृष्णावतार का उद्देश्य है लीला और इन पात्रों का उद्देश्य है लीला में शामिल होना। राधा रस रुपिणी है। जिसके चरित्र के दो पक्ष हैं वास्तव में वह कृष्ण से अभिन्न है, किन्तु व्यवहार में उसे कृष्ण–प्रेम को उत्तरोत्तर विकसित करने के लिए चित्रित किया गया है। कृष्ण के सखाओं में उद्धव का चरित्र महत्वपूर्ण है। इन कृष्ण भक्त कवियों ने उद्धव के माध्यम से बुद्धि और तर्क पर भाव की, मस्तिष्क पर हृदय की, ज्ञान पर भक्ति की और निर्गुण पर सगुण की विजय दिखलाई है। इन पात्रों के चित्रण की एक विशेषता है प्रतीकात्मकता राधा माधुर्य–भाव की भक्ति का उच्चतम प्रतीक है। वह आनन्द स्वरूप कृष्ण से अभिन्न और उन्हीं की शक्ति है माधुर्य भाव से प्रेम करने वाली गोपियां भी कृष्ण से अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण ने अपने आनन्दमय रूप का परिचय देने के लिए नित्य वृन्दावन का एक दृश्य दिखाया है और भविष्य में गोपिका बनकर उस लीला में भाग लेने का वरदान दिया। श्री कृष्ण परमात्मा है तथा गोपियाँ जीवात्मायें। वे निरन्तर प्रेम से व्याकुल होकर परम आनन्दधाम कृष्ण में लीन होने के लिए व्याकुल रहती हैं किन्तु स्मरण रखना होगा कि समस्त कृष्ण काव्य की व्याख्या प्रतीकात्मकता के आधार पर सम्भव है क्योंकि उसका आधार लोक–विश्रुत कथायें तथा पुराण है।

6. **प्रेम की अलौकिकता एवं सौन्दर्य निरुपण** :– कृष्ण काव्य में चित्रित रति को चिदुन्मुख कहकर विद्वानों ने इसे श्रृंगार रस से भिन्न मधुर रस की श्रेणी में रखा है तथा इसके प्रेम की अलौकिकता घोषित की है परन्तु ज्ञातव्य है कि मधुर या उज्जवल रस श्रृंगार रस से भिन्न नहीं है। इसीलिए इस काव्य में सख्य, वात्सल्य

और माधुर्य भाव के अर्न्तगत संयोग पक्ष की मादक लीलाओं की उद्भावना की गई है तथा वियोग पक्ष का भी बड़ा मार्मिक और आकुलता से भरा हुआ चित्रण किया गया है। प्रेम के अलौकिक रूप के चित्रण में संयोग पक्ष के अन्तर्गत राधा–कृष्ण के प्रेम के भव्य चित्र अंकित किए गये हैं तो कृष्ण के वियोग पक्ष के अन्तर्गत नंद और यशोदा के रुदन के साथ गायों, ग्वाल–बालों तथा गोपियों की विरहावस्था का चित्रण किया गया है, प्रेम की अलौकिकता अथवा प्रेमाभक्ति का आधार सौन्दर्य निरुपण है। सारा कृष्ण काव्य सौन्दर्य से आप्लावित है। सौन्दर्य निरुपण है। सौन्दर्य निरुपण के अंतर्गत कृष्ण की माधुर्य भाव की लीलाओं–पनघट लीला, गोदोहन लीला, चीरहरण लीला, दान लीला, मान लीला आदि का सौन्दर्य तो मनमोहक और आकर्षक है ही, असुर संहारक लीलाओं में भी कृष्ण का सौन्दर्य चित्रित किया गया है।

7. **सामाजिक पक्ष** :– यद्यपि कृष्ण भक्ति काव्य लीलावादी काव्य है और लीला लीला के लिए होती है जिसमें लोक मंगल की भावना अथवा समाज से कोई सरोकार नहीं होता, परन्तु फिर भी इस काव्य में तत्कालीन समाज की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। सूरदास के पदों में जहां वे सांस्कृतिक विषय –वासना से अभिभूत चित्रण करते हैं वहां परोक्ष रूप से समाज की झलक भी है। सूरदास ने परीक्षित के पश्चाताप तथा भागवत के कुछ अन्य प्रसंगों को चुनकर तत्कालीन जीवन की उद्देश्य हीनता एवं इन्द्रिय परायणता की आलोचना की। उद्धव–गोपी संवाद में अलखवादी निर्गुणिया सन्तों, पांड़ित्याभिमानी, अद्वैत–वेदान्तियों, निष्फल कायाकष्ट में निरत हठयोगियों इत्यादि की अप्रत्यक्ष भर्त्सना की है। कलियुग के प्रभाव का वर्णन करते हुए इन कवियों ने वर्णाश्रम धर्म–पतन, सामाजिक, विषमताओं, कुरीतियों और धार्मिक विडम्बनाओं के चित्र भी प्रस्तुत किए हैं।

8. **प्रकृति–चित्रण** :– अनुभव और ज्ञान की साधना से दूर कृष्ण भक्ति साहित्य भावात्मक काव्य है। बाह्म प्रकृति का चित्रण इसमें या तो भाव की पृष्ठभूमि में हुआ है या उद्दीपन भाव के लिए अथवा अलंकारों के अप्रस्तुत विधान के रूप में। प्रकृति के स्वतन्त्र रूप का चित्रण प्रायः न के बराबर है। परन्तु कहा जा सकता है कि प्रकृति के मनोरम और अनुकूल, भयानक और प्रतिकूल रूपों के चित्रण में कृष्ण भक्त कवियों ने अपने अद्भुत कौशल और प्रतिभा का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त जितने प्राकृतिक रूपों, रंगों, गतियों, ध्वनियों, रसों, स्पर्शों के प्रकृतिजन्य रूप का कृष्ण काव्य में समावेश हुआ है उतना कहीं अन्यत्र नहीं। इन कवियों ने ब्रजभूमि की परिचित प्रकृति का भी बड़ी अद्भुतता से चित्रण किया है। इन कवियों का ऐंद्रिय बोध अत्यन्त सम्पन्न है। इसीलिए प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह काव्य परम्परा अपनी विशिष्टता बनाए हुए है।

9. **काव्य रूप** :– कृष्ण कवियों का साहित्य प्रमुख रूप से गेय मुक्तक रूप में लिखा गया है। इन कवियों ने कृष्ण के जीवन के जिस अंश को अपने काव्य के लिए चुना वह सर्वथा मुक्तक के उपयुक्त था। सम्पूर्ण कृष्ण –काव्य में प्रबन्ध रचना बहुत कम पाई जाती है। फिर भी कृष्ण –भक्त कवियों में कृष्ण जीवन के किसी विशेष अंश की क्रमबद्ध कल्पना अवश्य मिल जाती है उस कथा का प्रत्येक पद अपने आप में स्वतन्त्र भी है। सूरदास के काव्य में ब्रजवासी कृष्ण की सम्पूर्ण कथा देने का प्रयास दृष्टि गोचर होता है। कृष्ण की सम्पूर्ण कथा देने का प्रयास ब्रजरत्नदास ने अपने ब्रजविलास में किया है। नन्ददास के भंवरगीत, रुक्मिणी मंगल और रास पंचाध्यायी आदि में कथात्मकता की मनोवृत्त देखी जा सकती है। इस दिशा में हित वृन्दावनदास का 'लाड़ सागर' भी उल्लेखनीय है। सम्पूर्ण कृष्ण –काव्य पर दृष्टि पात करने के अनन्तर हमें उसमें इन कथात्मक सूत्रों कृष्ण –जन्म, गोकुल आगमन, शिशु लीला, नामकरण, अन्न–प्रश्न, वर्षगांठ इत्यादि संस्कारों तथा जागने, कलेऊ करने, खेलने, हठ करने, भोजन करने, सोने आदि का पता चलता है।

10. **शैली** :– कृष्ण –भक्ति काव्य में मुख्य रूप से गीतिशैली का व्यवहार किया गया है। इन कवियों के साहित्य में गीति शैली के सभी तत्त्व भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता तथा भाषा की कोमलता आदि पूर्ण रूप में मिलते हैं। राधा–कृष्ण की प्रेम कहानी के चित्रण में यद्यपि इन कवियों के लिए वैयक्तितकता, अभिव्यंजना के लिए कोई विशेष क्षेत्र नहीं था फिर भी इन्होंने गोपियों की अनुभूतियों के माध्यम से वैयक्तिकता का कलात्मक रूप से समावेश कर लिया है। कृष्ण भक्त कवियों में अनेक अभिव्यंजना शैलियों के दर्शन होते हैं।

11. **छन्दों तथा अलंकारों का प्रयोग** :– इस काव्य में छन्द की दृष्टि से अधिकतर पदों का ही प्रयोग हुआ है परन्तु कलात्मक प्रसंगों में चौपाई, दोहा, सार तथा सरसी छन्दों का प्रयोग किया गया है। दोहा–रोला और रोला–दोहा का मिश्रित रूप भी इस काव्य में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कृष्ण –भक्ति काव्य में कवित्त, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया, गीतिका, हरिगीतिका, अरिल्ल तथा कुछ और छन्दों का भी प्रयोग मिलता है। इस काव्य में यथोचित अनुप्रास, यमक, श्लेष इत्यादि शब्दालंकारों तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, विभावना, अतिशयोक्ति इत्यादि अनेक अर्थालंकारों को भी देखा जा सकता है।

8. भाषा :– इस शाखा के कवियों ने मुख्य रूप से ब्रज की लोक–प्रचलित भाषा ब्रज भाषा का प्रयोग किया है परन्तु इन कवियों ने भाषा के परिमार्जन, रूप–निर्धारण, स्थिरीकरण और व्याकरण व्यवस्था की और ध्यान नहीं दिया इसलिए ब्रजभाषा के अच्छे से अच्छे कवि में भी शब्दों की तोड़–मोड़, लिंग–सम्बन्धी अव्यवस्था, अर्थभेद, अप्रयुक्त एवं ग्राम्य प्रयोग आदि मिल जाते हैं, भले ही नन्ददास आदि एक दो कवि इसके अपवाद हों।

18.4.1. स्व–मूल्यांकन : ख

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यदि आप रिक्त स्थान भरने में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की अवश्यकता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. राधा वल्लभी चैतन्य के .... और हरिदास के ....के सभी कवि कृष्ण की प्रणय लीलागान में ही लीन रहे।
2. लीला का उद्देश्य अखण्ड आनन्द में जीवन की ....परिपूर्णता की अभिव्यजंना करना है।
3. कंदुक क्रीड़ा से रासलीला तथा कृष्ण के जीवन से जुड़े अन्य प्रसंगों में भी इन कवियों ने उनके ....रूप को ही व्यक्त किया है।
4. कृष्ण काव्य का प्रेरणा स्त्रोत ....का आधार लेकर चला है।
5. कृष्ण भक्तों ने सख्य, वात्सल्य और ....भाव को ही विशेष महत्व प्रदान किया है।
6. इन भक्तों के कृष्ण .... के नीति कुशल, व्यवहारवादी योद्धा कृष्ण नहीं है
7. इस काव्य में सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव के अंतर्गत ....की मादक लीलाओं की उद्‌भावना की गई है
8. कृष्ण काव्य में प्रकृति के ....रूप का चित्रण प्रायः न के बराबर है।
9. कृष्ण की सम्पूर्ण कथा देने का प्रयास ब्रजरत्नदास ने अपने ....में किया है।

10. इन कवियों के साहित्य में ....के सभी तत्त्व भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता तथा भाषा की कोमलता आदि पूर्ण रूप में मिलते हैं।

11. इस काव्य में .... प्रसंगों में चौपाई, दोहा, सार तथा सरसी छन्दों का प्रयोग किया गया है।

12. इस शाखा के कवियों ने मुख्य रूप से ब्रज की लोक–प्रचलित ....भाषा का प्रयोग किया है।

18.5. कृष्ण मार्गी शाखा के प्रमुख कवि :

हिन्दी के कृष्ण भक्त कवि वल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक वल्लभाचार्य से सबसे अधिक प्रभावित थे। अतः कृष्ण भक्त कवियों के साथ इनका भी संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

वल्लभाचार्य : वल्लभाचार्य का जन्म सं. 1535 (सन 1478 ई.) में मध्य प्रदेश के चम्पारण्य में हुआ था। पिता का देहान्त बाल्यावस्था में ही हो जाने के पश्चात माता ने उनकी देखभाल की। 13 वर्ष की अवस्था तक उन्होंने काशी में रहकर शास्त्र, पुराण और साधना पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त किया। वे ब्रजप्रदेश भी गए और वहां श्रीनाथ जी की मूर्ति की स्थापना की। सं. 1587 (सन् 1530) में काशी में उनका देहान्त हो गया। उनके द्वारा लिखित दो ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं ब्रह्मसूत्रों का 'अनुभाष्य' तथा श्रीमद्भागवदगीता की टीका 'श्री सुबोधनी'। श्री वल्लभाचार्य ने ब्रजमण्डल में जिस कृष्ण भक्ति को प्रतिष्ठित किया, उसका दार्शनिक आधार शुद्धाद्वैत–दर्शन है। साधना और व्यवहार क्षेत्र में शुद्धाद्वैत के साथ जिस भक्ति को स्थान दिया गया, उसका आधार उन्होंने पुष्टिमार्ग को बनाया। श्री वल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्गीय भक्ति–सम्प्रदाय की स्थापना की, उसका जिन हिन्दी–भक्त–कवियों द्वारा पल्लवन किया गया, उन्हें अष्टछाप के कवि कहा जाता है जिनमें से चार उनके अपने शिष्य थे। कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्ण दास तथा चार अन्य उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे गोविन्द स्वामी, नन्ददास, छीत स्वामी और चतुर्भुजदास। ये आठों भक्त श्रीनाथ जी की नित्य लीला में अन्तरंग सखाओं के रूप में सदैव उनके साथ रहते थे। इसलिए इन्हें अष्टसखा भी कहा जाता है।

अष्टछाप के इन कवियों अथवा कृष्ण भक्त कवियों का परिचय इस प्रकार है :–

सूरदास :– हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्ति की अजस्र धारा को प्रवाहित करने वाले भक्त कवियों में सूरदास का सर्वापरि स्थान है। उनके जीवन काल के विषय में पर्याप्त मतभेद है। उनका जीवन–वृत्त उनकी अपनी कृतियों से आंशिक रूप में और बाह्य साक्ष्य के आधार पर अधिक उपलब्ध होता है। जिसके अनुसार सूरदास के शोध कर्ता विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सं. 1535 में वल्लभगढ़ (गुड़गांव के निकटवर्ती सीही नामक गांव में हुआ। सूरदास नेत्र–विहिन थे। किन्तु वे जन्मांध थे अथवा बाद में अन्धे हुए, यह विवादाग्रस्त है क्योंकि नेत्रविहीन होते हुए भी इन्होंने दृश्य–जगत का ऐसा यथार्थ वर्णन किया है कि इनकी जन्मान्धता पर सन्देह होता है।

सूरदास रचित बहुत सारे ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है परन्तु अधिकांशतः साहित्य इतिहासकारों ने सूरसारावली, साहित्यलहरी तथा सूरसागर को ही सूरदास की प्रामाणिक रचनाएं स्वीकार किया है। 'सूरसागर' श्रीनाथ जी के मन्दिर में अनवरत रूप से गाये गये कीर्तन के पदों का संग्रह काव्य है। ये ग्रंथ भागवत को आधार बना कर लिखा गया है। 'सूर सारावली' में 'सूर सागर' का सार एवं उनके पदों की अनुक्रमणिका है 'साहित्य लहरी' को भी 'सूरसागर' का अंश बताया गया है। इसमें सूरदास के वे पद हैं जिनमें नायिका भेद, अलंकार एवं रस निरुपण है। इसमें अनेक दृष्टि कूट के पद भी संकलित हैं।

सूर की दृष्टि अपने आराध्य कृष्ण के लोकरंजक रूप पर ही अधिक रही है। लीला–वर्णन में भी उनका ध्यान मुख्यतः भाव–चित्रण पर ही रहा है। उनके श्री कृष्ण के बाल–भाव और वात्सल्य से भरे मातृह्रदय के चित्रण अत्यन्त मनोहर एवं हृदयस्पर्षी बन पड़े हैं। उनके काव्य में प्रकृति–सौन्दर्य, जीवन के विविध पक्षों, बालचरित्र के विविध प्रसंगों, क्रीडाओं, गोचारण, रास, राधा कृष्ण तथा कृष्ण –गोपियों के प्रेम का चित्रण भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। उन्होंने अपने काव्य में ब्रज भाषा का ही प्रयोग किया तथा उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ–साथ अरबी, फारसी, अवधी तथा पूरबी हिन्दी के शब्द भी उनकी भाषा में उपलब्ध होते हैं। भाषा की सजीवता के लिए उन्होंने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है।

कुम्भनदास :– कुम्भनदास को ही सर्वप्रथम श्री वल्लभाचार्य ने दीक्षित किया था। इनका जीवनकाल 1468–1583 स्वीकार किया जाता है। गृहस्थ होते हुए भी वे अनासक्त थे और कृष्ण भजन में लीन रहने वाले साधु–वृत्त के पुरुष थे। उनकी शिक्षा के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी रचनाओं में भी पाण्डित्य की झलक नहीं है। सांप्रदायिक सिद्धान्तों का बोध उन्होंने वल्लभाचार्य की संगति में रहकर प्राप्त कर लिया था क्योंकि सिद्धान्तों के ज्ञान के बिना पद–रचना कठिन थी। उनके द्वारा रचित किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। विभिन्न संग्रहों में उनके पद संकलित हैं। इनकी पद रचना में साहित्यिक सौष्ठव उतना नही हैं, जितना संगीत और लय का सौन्दर्य है। उनकी भाषा साधारण ब्रजभाषा है। संस्कृत तथा अन्य भाषा ओं का प्रभाव भी न्यून मात्रा में है।

परमानन्ददास :– परमानन्ददास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका जन्म कन्नौज (उत्तर प्रेदश) में एक निर्धन ब्राह्मण–परिवार में हुआ। साम्प्रदायिक अनुश्रुतियों के आधार पर इन्हें वल्लभाचार्य से पन्द्रह वर्ष छोटा कहा जाता है अतः इनका जन्म–काल 1493 ई. स्थिर होता है। काव्य रचना में इनकी बाल्यावस्था से ही रूचि थी तथा इन्हें संगीत का भी ज्ञान था।

परमानन्द की रचनाओं का प्रकाशन, 'परमानन्द सागर', 'परमानन्द के पद' और 'वल्लभ सम्प्रदायी कीर्तन पद–संग्रह' के नाम से हुआ है। इसके अतिरिक्त 'दानलीला' तथा ध्रुवचरित भी इनके द्वारा लिखे बताये जाते हैं परन्तु इस विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। परमानन्द जी के सर्वाधिक पद बाललीला विषयक हैं। लीला–वर्णन में रसवती भावात्मक लीलाओं पर इनका ध्यान अधिक रहा है। इनके पदों में प्रबन्धात्मकता नहीं है, युद्ध मुक्तक की भांति उनका रसास्वादन किया जा सकता है। कृष्ण के ईश्वरीय पक्ष का वर्णन न करते हुए इन्होंने केवल माधुर्य–भाव की लीलाओं का वर्णन किया है। इनके पदों में 'सूरसागर' की भांति 'भागवत' की कथा का वर्णन नहीं है। अपितु इन्होंने कृष्ण के मथुरा–गमन से भंवरगीत तक के प्रसंग का ही मुख्यतः वर्णन किया है। इनकी प्रेमानुभूति लौकिक न होकर कृष्ण विषयक है। बाल–मनोविज्ञान के सुन्दर चित्र इनके काव्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। पूर्वराग अवस्था की वियोग–वेदना और मिलन की उत्कट कामना की व्यंजना की इनके पदों में अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। प्रेम–पीर से व्यथित एक गोपी की उक्ति दृष्टव्य है :–

'जब ते प्रीति श्याम ते कीनी।
ता दिन ते मेरे इन नैननि नेंकहु नींद न लीनी।।
सदा रहत चितचाक चख्यो सो और कछु न सुहाय।
मन में रहे उपाय मिलन को हहै विचारत जाय।।
परमानन्द पीर प्रेम की काहू सो न कहिए।
जैसे विथा मूक बालक की अपने तन–मन सहिए।।

इन्होंने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। चित्रात्मकता, आलंकारिकता और प्राजंलता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। गेय पदों में रचना के साथ–साथ इन्होंने दोहा–चौपाई का भी प्रयोग किया है।

कृष्ण दास :– कृष्ण दास अधिकारी के नाम से विख्यात कृष्ण दास के विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। डॉ. दीनदयाल गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ–सम्प्रदाय' ग्रन्थ में इनका परिचय लिखते हुए 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता और 'दो सौ बावन वैण्णवन की वार्ता'' को ही प्रमाण माना है। उनके लेखानुसार कृष्ण दास 'कुननी' जाति के थे, जो शुद्र जातियों में परिगणित की जाती है। इनका जन्म गुजरात में राजनगर राज्य (अहमदाबाद) के चिलोतरा गांव में 1475 ई. में माना गया तथा मृत्यु 1575 ई. में मानी गयी। कृष्ण दास बाल्यावस्था में ही घर छोड़ कर ब्रज में आ गये थे। अपनी बुद्धि और भक्ति के कारण ये श्रीनाथ जी के मन्दिर में 'अधिकारी' पद पर आसीन हुए। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी इनकी कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा के बड़े प्रशंसक थे। इनकी प्रबन्धपटुता के कारण इन्हें मन्दिर के प्रबन्ध का दायित्व ही सौंपा गया था, सेवा और कीर्तन से इनका प्रारम्भ में कोई सम्बन्ध नहीं था। धीरे–धीरे ब्रजभाषा का इन्होंने अभ्यास किया और उसमें काव्य रचना भी करने लगे। कृष्ण दास काव्य और संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ–साथ सुकवि और गायक भी थे। इन्होंने बाल लीला, राधाकृष्ण –प्रेम–प्रसंग, रूप–सौन्दर्य इत्यादि का बड़ा ही मनोहारी चित्रण किया है। परन्तु इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता अपितु शताधिक फुटकर पद ही उपलब्ध हैं। इनके पदों की भाषा शुद्ध ब्रज भाषा है। यद्यपि इनकी मातृभाषा गुजराती थी। इनके शृंगारपूर्ण पदों में भाषा की प्रांजलता दृष्टव्य है।

नन्ददास :– नन्ददास का स्थान कृष्ण भक्त अष्टछाप कवियों में काव्यसौष्ठव और भाषा की प्राजंलता की दृष्टि से सूरदास के बाद समझा जाता है। इनके जीवनवृत के विषय में भी बहुत अधिक मतभेद पाया जाता है। इन्हें तुलसीदास का भाई भी माना गया है। इनका जन्म 1533 ई. में उत्तर प्रदेश के सूकर क्षेत्र (सोरों) के रामपुर गांव में हुआ था। ये धनाढय ब्राह्मण थे नन्ददास जी ने विधिवत शास्त्रानुशीलन किया था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनके द्वारा रचित पन्द्रह ग्रन्थों को देखकर उनका रचना वैविध्य स्पष्ट हो जाता है। इनके ग्रन्थ निम्नलिखित हैं।

रसमंजरी, मानमंजरी, अनेकार्थमंजरी, रूपमंजरी, विरहमंजरी, प्रेम बारहखड़ी, श्यामसगाई, सुदामाचरित, रुक्मिणी मंगल, भंवरगीत, रासपंचाध्यायी, सिद्धान्त–पंचाध्यायी, गोवर्धन लीला, दशमस्कन्धभाषा, नन्ददास पदावली इत्यादि।

नन्ददास के सम्पूर्ण ग्रन्थ परिमार्जित ब्रज भाषा में है। मधुर और परिचित शब्दों का चयन कवि की विशेषता है। नन्ददास को 'जड़िया' कहा जाता है, जिसका कारण उनका सुन्दर एवं उपयुक्त शब्दों का चयन करना ही है। लोकोक्ति–मुहावरों पर भी इनका पूर्ण अधिकार था। संगीत–प्रवीन होने के कारण शब्दों के चयन में लय, स्वर आदि का ध्यान रखने से उनके काव्य में प्रांजलता और प्रवाह की सृष्टि हुई है। सरस, एवं मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना में उन्होंने ललित एवं मोहक पदावली की सृष्टि की है।

गोविन्द स्वामी :– इनका जन्म राजस्थान के भरतपुर राज्य के अन्तर्गत आंतरी गांव में 1505 ई. में हुआ था। ये गृहस्थ थे परन्तु संसार से वैराग्य ले लेने के पश्चात ब्रजमण्डल के महावन नामक स्थान पर आकर बस गये और वहीं पर रहकर भजन–कीर्तन में लीन रहते थे। वार्ता–ग्रन्थों से विदित होता है कि ये शिक्षित थे और संगीत शास्त्र का भी इन्हें ज्ञान था। पद रचना करके ये स्वयं उन्हें गाते थे और अन्य भक्तों को भी पद–गायन सिखाते थे। किसी गायक के मुख से इनका बनाया पद सुनकर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी बहुत प्रभावित हुए थे। 1535 ई. में इन्होंने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से विधिवत पुष्टिमार्ग की दीक्षा ग्रहण की और अष्टछाप में सम्मिलित हो गये। पुष्टि सम्प्रदाय की दीक्षा के उपरान्त ये महावन छोड़कर गोवर्धन चले आये और वहीं पर स्थायी रूप से बस गये। जहां ये रहते थे, वह स्थान गोविन्दस्वामी की भकदमखंडी के नाम से आज भी प्रसद्धि है। यह भी किंवदन्ती है कि अकबर के दरबार का प्रसिद्ध

गायक तानसेन इनके पास पद–गायन की शिक्षा ग्रहण करने आता था। गोवर्धन में रहते हुए ही इनका 1585 ई. में देहावसान हो गया।

गोविन्द स्वामी ने भी किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं की। भजन–कीर्तन के लिए जो पद यह समय–समय पर सृजित किया करते ते, उन्हीं का संकलन 'गोविन्दस्वामी के पद' नाम से प्रसिद्ध है। इनके द्वारा रचित 600 पद बताये जाते हैं किंतु 252 पद पुष्टि सम्प्रदाय में अधिक प्रसिद्ध हैं। मुख्यतः इन्होंने राधा–कृष्ण की शृंगार लीला–विषय क पद–रचना की है, किन्तु कुछ बाललीला के भी पद लिखे हैं। इनके काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही है परन्तु उसमें लालित्य एवं सौष्ठव का अभाव है परन्तु पदों के संगीत के लय–स्वर का इन्होंने अवश्य ध्यान रखा है।

छीतस्वामी :– छीतस्वामी (1515–1585) मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, घर में जजमानी और पंडागिरी होती थी। प्रसिद्ध है कि ये बीरबल के पुरोहित थे। यौवनावस्था में उद्दंड प्रकृति के कारण ये लड़ाई–झगड़े के लिए बदनाम थे और छीतू चौबे के नाम से मथुरा के उद्दंड लोगों में इनका स्थान अग्रणी था। कहते हैं कि गोस्वामी विट्ठलनाथ को चिढ़ाने के लिए एक दिन ये खोटा रुपया और थोथा नारियल लेकर भेंट करने पहुंचे। गोस्वामी जी ने अपनी दिव्य–शक्ति से खोटे रुपये और थोथे नारियल को शुद्ध तथा परिपूर्ण बनाकर छीतू चौबे को चमत्कृत कर दिया। फलतः चौबे जी को अपनी शरारत पर आत्मग्लानि का अनुभव हुआ और उन्होंने गोस्वामी जी के पैर पकड़कर क्षमा–याचना की तथा तत्काल पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो गये। कालान्तर में इनकी पद–रचना को देखकर इन्हें अष्टछाप में सम्मिलित कर लिया गया। यौवनावस्था में छीत स्वामी जितने उद्दंड और वाचाल थे, प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर उतने ही गम्भीर और विरक्त हो गये। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद ये गोवर्धन के निकट पूंछरी नामक स्थान में एक तमाल वृक्ष की छाया में रहने लगे थे। काव्य और संगीत में इनकी विशेष रूचि थी, अतः सारा समय इन्हीं कार्यों में व्यतीत करते थे। छीतस्वामी का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। कीर्तन के लिए इन्होंने जो स्फुट पद–रचना की, वही 'पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें लगभग 200 पद संकलित हैं। इनके पदों और कवित्तं में ब्रजभाषा का पर्याप्त लालित्य है। यद्यपि इनकी कविता साधारण कोटि की है, फिर भी भक्ति–भाव से परिपूर्ण है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पद में ब्रजधाम के प्रति आस्था दृष्टव्य है :

अहो विघना! तो पै अंचरा पसार मांगौं
जनम–जनम दीजो मोहि याही ब्रज वसिनौ।

चतुर्भुजदास : चतुर्भुजदास नाम से चार भक्त कवियों का उल्लेख हिन्दी–साहित्य के इतिहास–ग्रन्थों में मिलता है। कहीं–कहीं इनके जीवन–चरित्र और काव्यविषय क विवेचन में उलट–फेर और भ्रम भी उत्पन्न हो गया है, किन्तु अष्टछापी चतुर्भुजदास को अन्य व्यक्तियों से पृथक करने के लिए पुष्कल प्रमाण उपलब्ध हैं। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुम्भनदास के ये सबसे छोटे पुत्र थे, अतः इनका चरित प्रामाणिक रूप से जाना जा सकता है। इनका जन्म 1530 ई. में गोवर्धन के समीप यमुनादेवी गांव में हुआ था तथा इनका देहावसान 1585 ई. में हुआ। वंश –परम्परागत खेती–बाड़ी से विमुख रहकर इनका ध्यान भजन–कीर्तन की ओर अधिक रहता था। अतः इनके पिता कुम्भनदास इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। उन्होंने इन्हें स्वयं गानविद्या की शिक्षा देकर पुष्टिमार्ग की दीक्षा दिलायी थी। शैशव–काल में ही चतुर्भुजदास काव्य–रचना करने लगे थे। इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, स्फुट पदों को ही 'चतुर्भुज–कीर्तन–संग्रह', 'कीर्तनावली' और 'दानलीला' शीर्षकों से प्रकाशित किया गया है। 'द्वादशयश', 'मधुमालती' और 'भक्तिप्रताप' नाम से इनके जो अन्य ग्रन्थ बताये जाते हैं, वे इनके न होकर राघावल्लभीय तथा अन्य चतुर्भुजदास के हैं। अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास की रचना में शृंगार की छटा विद्यमान है। कृष्ण –जन्म से लेकर गोपी–विरह तक ब्रजलीला–गान इन्होंने किया है, किन्तु किसी मौलिक प्रसंग की उद्भावना इनके पदों में नहीं मिलती। साधारण ब्रजभाषा को ही इन्होंने अपनाया है। श्रीनाथ जी के मन्दिर में जिस प्रकार के पद गाये जाते थे, उन्हीं के अनुकरण पर इन्होंने पद लिखे हैं।

अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त अन्य कृष्ण भक्त कवि इस प्रकार हैं

मीराबाई :– मीरा का जन्म राठौरों की मेड़तिया शाखा के अंतर्गत राव दूदा जी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह के घर में कुड़की गांव में संवत 1555 के आसपास हुआ। बचपन में ही माता का देहांत हो जाने के कारण इनका पालन–पोषण पितामह दादू के द्वारा हुआ जोकि परम वैष्णव भक्त थे। इन्हीं के संसर्ग से मीरा के हृदय में कृष्ण–भक्ति के संस्कार पड़े थे जोकि बाद में मार्धुय भाव की भक्ति में विकसित हुए। 12 वर्ष की अवस्था में इनका विवाह चितौड़ के महाराजा सांगा के बड़े पुत्र भोजराज से हुआ परन्तु कुछ समय पश्चात ही पति का देहान्त हो जाने के कारण मीरा कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी हो गई। वह तो बाल्यकाल से ही कृष्ण को अपना पति समझती थी। इसलिए अब वह साधु संगति, भजन एवं कीर्तन में मग्न रहने लगी। इनके लिए इन्होंने राजमर्यादा और लोक–लाज भी छोड़ दी और राजकुल का अत्यन्त कठोर विरोध भी सहन किया। सं. 1603 में इनकी द्वारिका में मृत्यु हुई।

मीरा के गुरु के सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि मीरा पर सन्त समुदाय तथा चौतन्य मतानुयायी दोनों का प्रभाव पड़ा था निम्नांकित रचनाएं इनके नाम से सम्बद्ध बताई जाती हैं नरसीजी का माहरा, गीत गोविन्द की टीका, मीरानी गरबी, मीरा के पद, राग सोरठ के पद, रास गोविन्द। नरसी जी का माहरो में नरसी मेहता के भात भरने की कथा है। गीत–गोविन्द की टीका अभी तक अप्राप्य है तथा रास गोविन्द के सम्बन्ध में अनुमान है कि उन्होंने रचा होगा। राग सोरठ के पद में मीरा, कबीर और नामदेव के पदों का संग्रह है। मीरानी गरबी के गीत रास मंडली के गीतों के समान गाये जाते हैं। मीरा के फुटकर पद कोई 100 के करीब मिलते हैं। मीरा के पद गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, खड़ी बोली आदि में मिलते हैं। मीरा के अन्य ग्रन्थ या तो मिलते ही नहीं और जो मिलते हैं वे भी अपूर्ण हैं। अतः मीरा के साहित्य के लिए इनके उपलब्ध ग्रन्थों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

रसखान :– रसखान दिल्ली के एक पठान सरदार थे जिन्होंने मुसलमान होकर भी कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति भावना और श्रद्धा प्रकट की है। ये न तो विट्ठलनाथ के शिष्य थे और न ही इनका कृष्ण काव्य पुष्टि मार्गीय भक्ति पद्धति पर लिखा गया है। इनके काव्य ने तो सूफियों के प्रेम पीर की प्रधानता पायी है। रसखान ने इस प्रेम पीर का कृष्ण को मूर्त अवलंबन बना दिया है। इनकी दो रचनाएं 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान' उपलब्ध होती हैं। अपने काव्य की पृष्ठभूमि में रसखान ने ब्रजलीला को उतना महत्व नहीं दिया जितना विलोकन और मुस्कान को दिया है। इन्होंने शृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग का समुचित वर्णन किया है। रसखान का मन जितना किशोर लीला में रमा है उतना बाल लीला में नहीं। इनके ब्रजभूमि सम्बन्धी पद काफी सरस बन पड़े हैं। अन्य कृष्ण भक्त कवियों की तरह इन्होंने भी अपने काव्य में ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। भाषा से जुड़ा अन्य कोई प्रयोग उनके काव्य में उपलब्ध नहीं होता।

18.5.1. स्व–मूल्यांकन : ग

प्रिय विद्यार्थियों ! अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं। आप इस अध्याय का पुनः अध्ययन करें साथ ही उत्तर कुंजी भी देखे।

1. **'अनुभाष्य' के रचनाकार कौन हैं?**

   (क) गोविन्द स्वामी (ख) कृष्ण दास (ग) नन्ददास (घ) वल्लभाचार्य

2. सूरदास की कौन–सी रचना श्रीनाथ जी के मन्दिर में अनवरत रूप से गाये गये कीर्तन के पदों का संग्रह काव्य है।

(क) 'सूरसागर' (ख) सूरसारावली (ग) साहित्यलहरी (घ) भ्रमरगीत

3. श्री वल्लभाचार्य ने सर्वप्रथम किसे दीक्षित किया था।

(क) गोविन्द स्वामी (ख) कुम्भनदास (ग) नन्ददास (घ) वल्लभाचार्य

4. 'दानलीला' तथा ध्रुवचरित किसके द्वारा लिखे गए हैं?

(क) परमानन्ददास (ख) कृष्ण दास (ग) नन्ददास (घ) वल्लभाचार्य

5. श्रीनाथ जी के मन्दिर में 'अधिकारी' पद पर कौन आसीन हुए।

(क) गोविन्द स्वामी (ख) कुम्भनदास (ग) कृष्ण दास (घ) वल्लभाचार्य

6. रसमंजरी, मानमंजरी, अनेकार्थमंजरी किसकी रचनाएँ हैं?

(क) गोविन्द स्वामी (ख) कुम्भनदास (ग) कृष्ण दास (घ) नन्ददास

7. पुष्टि सम्प्रदाय की दीक्षा के उपरान्त कौन महावन छोड़कर गोवर्धन चला गया?

(क) गोविन्द स्वामी (ख) कुम्भनदास (ग) कृष्ण दास (घ) चतुर्भुजदास

8. गोस्वामी विट्ठलनाथ को चिढ़ाने के लिए खोटा रुपया और थोथा नारियल भेंट करने कौन गया था?

(क) चतुर्भुजदास (ख) छीतस्वामी (ग) कृष्ण दास (घ) गोविन्द स्वामी

9. चतुर्भुजदास के पिता का क्या नाम है?

(क) कृष्ण दास (ख) कुम्भनदास (ग) गोविन्द स्वामी (घ) चतुर्भुजदास

10. किसका देहान्त हो जाने के कारण मीरा कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी हो गई।

(क) पति (ख) पिता (ग) पुत्र (घ) भाई

11. 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान' किसकी रचनाएँ हैं?

(क) सूरदास (ख) नन्ददास (ग) रसखान (घ) कृष्ण दास

18.6. सारांश :

इस अध्याय में हमने सगुण भक्ति के अंतर्गत कृष्ण काव्य की विशेषताओं का विस्तृत अध्ययन तथा सभी कृष्ण भक्त कवियों का परिचय प्राप्त किया।

18.7 कठिन शब्द :

1. महिमामंडित – प्रशंसित
2. परलोक – स्वर्ग

3. प्रारब्ध – भाग्य, नियति

4. सद्योमुक्ति – तात्कालिक मुक्ति

5. कनिष्ठ – वय या उम्र में छोटा

6. अवगाहन – चिंतन–मनन, अन्वेषण

18.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कृष्ण मार्गी शाखा को स्पष्ट कीजिए।

2. कृष्ण मार्गी शाखा की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

3. कृष्ण मार्गी शाखा के प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।

18.9 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. सही 2.गलत 3. सही 4. सही 5. सही 6. गलत 7. गलत 8. सही 9. गलत 10. सही

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. गौड़ीय ,सखी सम्प्रदाय 2. आध्यात्मिक 3. लोकरंजक 4. 'भागवत' 5. माधुर्य 6. महाभारत 7. संयोग पक्ष 8. स्वतन्त्र 9. ब्रजविलास 10. गीति शैली 11. कलात्मक 12. ब्रज

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. वल्लभाचार्य 2.'सूरसागर' 3. कुम्भनदास 4. परमानन्ददास 5. कृष्ण दास 6. नन्ददास 7. गोविन्द स्वामी 8. छीतस्वामी 9. कुम्भनदास 10. पति 11. रसखान

18.10. पठनीय पुस्तकें :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

रूपरेखा

19.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम

19.2. प्रस्तावना

19.3. रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

स्व–मूल्यांकन : क

19.3.1 रीतिकालीन परिस्थितियाँ

- राजनीतिक परिस्थिति
- सामाजिक परिस्थिति
- साहित्यिक परिस्थिति
- स्व–मूल्यांकन : ख
- कलात्मक परिस्थिति
- धार्मिक परिस्थिति
- सांस्कृतिक परिस्थिति

* स्व–मूल्यांकन : ग

19.4. सारांश

19.5. कठिन शब्द

19.6. अभ्यासार्थ प्रश्न

19.7. पठनीय पुस्तकें

19.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम :

इस अध्याय का उद्देश्य विद्यार्थियों को रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ–साथ उसकी तत्कालीन परिस्थितियों से परिचित करवाना भी है।

इस अध्याय का अध्ययन करने के उपरांत आप रीतिकाल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, कलात्मक तथा साहित्यिक परिस्थितियों को समझने व समझाने में सिद्धहस्त होंगे।

19.2. प्रस्तावना :

संस्कृत साहित्य में 'रीति' शब्द का विशेष महत्व है और हिन्दी साहित्य में 'रीति' शब्द का प्रयोग 'लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखे गये काव्य के रूप में होता है। रीतिकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के पीछे ऐसे बहुत से तथ्य है जो रीति शब्द की विभिन्न व्याख्याओं से उत्पन्न हुए हैं। जिनका विस्तृत अध्ययन इस अध्याय में किया गया है साथ ही उन परिस्थितियों का वर्णन भी इस अध्याय में है जो इस काल में विद्यमान थी।

19.3. रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

'रीति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य वामन (9वीं शती) ने संस्कृत काव्य शास्त्र में किया। उनके अनुसार 'विशिष्टा पद–रचना' रीति है। उन्होंने इसे काव्य की आत्मा स्वीकार कर इसके तीन भेद माने – वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली। आचार्य भामह ने माना कि यह गौड़ी प्रवृति है, या यह वैदर्भी है, ऐसा सोचना–समझना या करना एकदम ठीक नही। उनकी बात का अनुकरण करते हुए आचार्य दण्डी ने भी अपने 'काव्यादर्श' में स्वीकार किया कि वाणी के तो अनेक मार्ग हैं और उनमें सूक्ष्म भेद भी हैं फिर रचनाकार के लिए बंधन और क्यों? उसकी इच्छा है चाहे वह जैसा और जिस तरह लिखे। आचार्य दण्डी ने गौड़ीय और वैदर्भीय मार्गों के लिए श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ अभिव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि नाम से दस गुणों को ग्रहण करने की आवश्यक ता बतलाते हुए वैदर्भ मार्ग के लिए तो यही दस गुण निर्धारित किए और इनके उलट अर्थात इनका अभाव गौड़िय मार्ग के लिए स्थिर कर दिया। इससे स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक रचनाकार की लेखन–रीति व्यक्तिगत होती है और वह सदा रहेगी भी। आचार्य दण्डी ने 'रीति' शब्द का अर्थ एक विशेष शैली ही ग्रहण किया। आचार्य वामन ने इस दो मार्गों (शैलियों) में एक नाम पांचाली और जोड़ दिया और तीन प्रकार की शैलियाँ स्वीकृत कीं। इन तीन शैलियों के लिए विशेष गुण भी स्थिर कर दिए।

यह भी मान्य हुआ कि वैदर्भी रीति सर्वगुणसम्पन्ना है और रचनाकार के लिए वैदर्भी रीति ही अधिकतर श्रेष्ठ है, क्योंकि गौड़ी और पांचाली में गुण अल्पमात्रा में हैं।

इन सब को स्वीकार कर लेने के बाद जिस सिद्धांत को आचार्य भामह ने स्वीकार किया वह यह था कि रचनाकार स्वतन्त्र है और वह चाहे किसी भी रीति को स्वीकार करे तथा आचार्य दण्डी के सिद्धान्त के अनुसार इन गुणों की आवश्यक ता को प्रत्येक रीति के लिए उचित ठहरा कर, फिर से रचनाकार के लिए किसी एक शैली को अपनाने पर बल दिया लेकिन इतना अवश्य कह दिया कि जो रीति सर्वगुण सम्पन्न हो, उसे अपनाना अधिक अच्छा है। आचार्य रुद्रट ने एक अन्य रीति का नाम अपनी और से जोड़कर तीन से चार रीतियाँ स्वीकार कर डालीं। वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के साथ उन्होंने 'लाटिया' एक नई रीति मानने का आग्रह किया। इस तरह लाटिया भी अस्तित्व में आ गई। आचार्य रूद्रट ने 'रीति' को शब्दालंकार अनुप्रास के अंतर्गत ही माना है लेकिन साथ ही आचार्य भामह की तरह भौगोलिक सीमाओं से मुक्त स्वीकार करते हुए इन रीतियों का सम्बन्ध विशेष – विशेष रसों से अवश्य मानने का परामर्श दिया है। वक्रोक्ति जीवितम् के लेखक आचार्य कुंतक ने 'रीति' को एकदम शैली के समीप लाने का प्रयास करते हुए यह स्पष्ट किया कि 'रीति' का सम्बन्ध देश–भेद से नहीं अपितु कवि स्वभाव से है, क्योंकि किसी भी रचनाकार को अपनी बात कहने के लिए कोई न कोई ढंग अपनाना ही पड़ेगा। फिर चाहे वह ढंग सीधे–सीधे शब्दों में कहने का हो या समास प्रधान हो अथवा व्याख्या प्रधान हो। आचार्य मम्मट ने 'रीति' को वृत्त शब्द से व्यवहृत किया है। उन्होंने उपनागरिका, पुरषा और कोमलय यह भिन्न नाम देकर भी रीति में ही गणना की है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' ग्रन्थ में इसी वृति (रीति) को पद–संघटना मानते हुए रस आदि को उपकारक बताया है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में एक तरह की विशिष्ट पदरचना के अर्थ में 'रीति' शब्द को ग्रहण किया गया और फिर उसमें अपने–अपने विचार और तर्क देकर उसे शैली के रूप में भी अपना लिया गया। परन्तु आगे चलकर आनन्दवर्धन के समय में ध्वनि–संप्रदाय की काव्य जगत में विशेष प्रतिष्ठा हुई। काव्य के अन्य संप्रदायों–अलंकार, वक्रोक्ति – के समान रीति–सम्प्रदाय की महत्ता भी नष्ट हो गई। अब 'रीति' रस की उपकारक मात्र ही रह गई। हिन्दी में रीति शब्द का अर्थ विद्यापति के समय से एक अन्य अर्थ में होने लगा, वह है काव्य रचना–पद्धति तथा उसका निदर्शक शास्त्र। रीतिकालीन, आचार्य कवियों ने इसी अर्थ में पंथ शब्द का भी प्रयोग किया है। रीतिकाल में इस अर्थ में अन्य भी बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए जैसे कवित्त–रीति, कवि–रीति, काव्य–रीति, छन्द–रीति, अलंकार–रीति, मुक्तक रीति, वर्णन–रीति, कविपंथ और कविता–पंथ। अतः रीतिकाल तक आते–आते रीति शब्द का अर्थ रस, अलंकार, शब्द–शक्ति, छन्द आदि काव्यांगों का निरूपण ही

रह गया और वामन द्वारा गृहीत अर्थ से इसका व्यापक रूप हो गया। अतः रीति कवि या रीति ग्रन्थ में प्रयुक्त 'रीति' शब्द का सम्बन्ध काव्य–शास्त्र से समझना चाहिए। निः सन्देह संस्कृत साहित्य में रीति–शब्द का व्यवहार विशिष्ट पद–रचना के अर्थ में हुआ है परन्तु जब हम हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रीति शब्द का व्यवहार करते हैं, तब हमारा तात्पर्य इस प्रकार की विशिष्ट पद रचना से नहीं होता वरन उर्पयुक्त सभी काव्य–सिद्धान्तों के आधार पर काव्य–अंगों के लक्षण–सहित या उनके आधार पर लिखे गये उदाहरणों के आधार पर होता है। अतः हिन्दी में रीति–काव्य का अपना एक विशिष्ट अर्थ है – लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य।

आधुनिक काल में आलोचकों ने 'रीति' को रचना–विशिष्ट पद्धति के रूप में आत्मसात कर विवेचित किया है। अतः रीति का अर्थ संस्कृत से कुछ अधिक विस्तृत और अपनी कुछ अधिक सीमा में हिन्दी में प्रयुक्त है। हिन्दी में केवल विशेष पदरचना ही नहीं अपितु इसके साथ–साथ शब्द शक्ति, अलंकार, रस, ध्वनि आदि सभी सिद्धांतों को भी रीति के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया। हिन्दी में रीति का अर्थ काव्यशास्त्र से सम्बन्धित माना गया अर्थात्–रस, अलंकार आदि काव्य के सिद्धान्तों के आधार पर काव्य अंगों का लक्षणों सहित अथवा उन लक्षणों के आधार पर लिखे गए उदाहरण के रूप में काव्यशास्त्र या काव्य की रचना।

इस काल के साहित्य के लिए रीति शब्द का प्रयोग आचार्य शुक्ल का कोई नवीन आविष्कार नहीं है, परन्तु उसके कवि ने ही इसी अर्थ में 'रीति' शब्द का प्रयोग कर दिया था 'मिश्र बन्धु विनोद' में भी रीति शब्द की इसी अर्थ में व्याख्या की गई है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की इतनी देन अवश्य स्वीकारणीय है कि उनके पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे ग्रन्थों में जिनमें रीति–कथन तो नहीं था, परन्तु रीति बन्ध अवश्य था, आचार्य शुक्ल ने उन्हें भी रीति के अन्तर्गत परिगणित किया। शुक्ल जी का मन्तव्य था कि जिसने लक्षण–ग्रन्थ रचा हो केवल वह ही रीति कवि नहीं है, बल्कि जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीति कवि है।

इस प्रकार 'रीति' शब्द का विस्तारपूर्वक विवेचन करने के पश्चात यह जानना आवश्यक है कि 'रीति' शब्द पर आधारित इस काल में 'रीति' का क्या अर्थ है तथा इस काल का नाम रीतिकाल क्यों रखा गया। वस्तुतः 'रीति' का सामान्य अर्थ है – कोई नियम, रिवाज, ढंग या पद्धति या किसी भी कार्य को करने का ढंग ही रीति है। साहित्य के क्षेत्र में भी कुछ ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें कविता लिखने का ढंग बताया गया है– इन ग्रन्थों को 'काव्य शास्त्र ' कहते हैं। काव्य शास्त्र में काव्य या साहित्य के नियमों और पद्धतियों का विवेचन होता है। इस काल के कवियों ने कविता लिखते समय काव्यशास्त्र के नियमों को ध्यान में रखा है – इतना ही नहीं, बहुत से कवियों ने तो अपनी कविता में उनका उल्लेख और वर्णन भी किया है। वस्तुतः इस काल में काव्य–शास्त्र के नियमों, पद्धतियों या रीतियों का अधिक प्रयोग होने के कारण ही इसे 'रीतिकाल' नाम दिया गया है। यह शुक्ल द्वारा अभिहित है। जिन्होंने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल का विस्तार स. 1375 –1900 वि. तक माना है तथा इसे पुनः दो खण्ड़ों में विभाजित किया है। पूर्व मध्यकाल अर्थात भक्तिकाल (स. 1375 से 1700 वि.) और उत्तर मध्यकाल अर्थात रीतिकाल (स. 1700 से 1900 वि)

साहित्य में किसी प्रवृति का न तो आविर्भाव है न पूर्णतः तिरोभाव। उसमें एक प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है, उसका उत्थान होता है फिर धीरे–धीरे अवसान। जैसे सम्पूर्ण मध्यकाल की साहित्यिक प्रवृति भक्ति और शृंगारपरक रही है। वस्तुतः पहले भक्ति प्रमुख थी और शृंगार गौण, बाद में शृंगार प्रमुख हो गया और भक्ति गौण। उत्तर मध्यकाल अर्थात रीतिकाल का साहित्य हिन्दी साहित्य में एक नवीन प्रकार का साहित्य है। वैसे कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति अचानक जन्म लेकर पुष्ट नहीं हो जाती इसके लिए अनुकूल परिस्थितियों और पुष्ट परम्परा का होना अनिवार्य है। रीतिकाल में रीतिकाव्य के लिए अनुकूल परिस्थितियां तो थीं ही–इसके लिए अपेक्षित आधार–रूप परम्पराओं को भी

संस्कृत के काव्यशास्त्र और साहित्य की दीर्घ सारणि में देखा जा सकता है। भक्तिकाल में पारलौकिकता की प्रधानता रही, जबकि रीतिकाल के साहित्य में परलोक तथा मोक्षादि की चिन्ता नहीं है। इस काल की कविता में भावुकता, कलात्मकता और शृंगार भावना का समन्वय हुआ। वास्तव में हिन्दी वाङ्मय के इतिहास में रीतिकालीन कवि ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। इस काल की रचनाओं में काव्य–रचना की रीतियों पर बहुत लिखा गया जो मुगलकाल में अपनी सभी विशेषताओं और दुर्बलताओं के साथ उभरा क्योंकि मुगल शासकों, सामन्तों तथा अन्य राजाओं के आश्रय में इसे अत्यधिक प्रश्रय मिला। रीतिकालीन कविता अपना साध्य स्वयं थी अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी और न ही सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की प्रचारिका थी। इस काल के साहित्य का अपना महत्व है। इस काल के साहित्य में ऐहिकतामूलक सरस कवित्व है। इस काल के हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का विशेष प्रभाव पड़ा था। पाण्डित्य प्रदर्शन –प्रवृत्ति का भी सभी क्षेत्रों में साम्राज्य स्थापित हो चुका था। साहित्यिक क्षेत्र में भी उसी प्रदर्शन –प्रवृत्ति का बोलबाला रहा। पाण्डित्य–प्रदर्शन की इस प्रवृति के परिणामस्वरूप रीति–साहित्य में कवि कर्म तथा आचार्य कर्म का एक साथ निर्वाह होता रहा। बहुत सारे कवि 'आचार्य' और कवि दोनों बनना चाहते थे और आश्रयदाता राजा की प्रशंसा में अपने पांडित्य का प्रदर्शन करना चाहते थे। रीतिकालीन साहित्य के जीवन तथा काव्य के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण डॉ. भगीरथ मिश्र के इन शब्दों से भली–भाँति ''रीति–काव्य की परम्परा ने शुद्ध–काव्य के लिए एक नया मार्ग खोल दिया। इसके बिना प्रबन्ध–काव्यों में या तो इतिहास ग्रन्थ थे और वे राजा महाराजाओं अथवा वीरों की अतिशय गुण–गाथा से ओत–प्रोत थे अथवा वे धार्मिक और आध्यात्मिक ग्रन्थ थे जिनमें धर्म गाथा कही गई। ऐसे ही मुक्तक काव्य नीति–उपदेश भरे अथवा स्तोत्र और कीर्तन के रूपों में ही सीमित था। रीति–परम्परा ने एक नवीन मार्ग कवि–प्रतिभा के विकास के लिए खोल दिया जिसका अवलम्बन करके अपनी प्रवृति और अभिरूचि के अनुसार कुछ भी लिखा जा सकता था। लौकिक जीवन से अनुराग रखने वाले राज्याश्रित कवियों के लिए यह मार्ग विशेष रूप से सहायक हुआ, क्योंकि उन्हें चारण–कवियों के समान केवल यशोगान के स्थान में रीति–पद्धति पर लिख कर आश्रयदाता को चमत्कृत करने तथा रिझाने का अवसर मिला।''

इस काल में रचित काव्य का प्रधान वर्णय–विषय (कथ्य) शृंगार ही रहा है भले ही इस काल के कवियों ने लक्षण–ग्रन्थों के रूप में हिन्दी काव्य शास्त्र–परम्परा को पल्लवित किया हो। इन कवियों का मूल उद्देश्य काव्य के अंगों–उपांगों का विवेचन करना भी रहा था अलंकार, शब्द–शक्ति, रस, नायिका–भेद आदि का विवेचन करने में भी इनकी काव्य–प्रतिभा का प्रचुर उपयोग हुआ था। इस काल में लक्षण ग्रन्थों की ही रचना नहीं हुई बल्कि रीतियुक्त स्वतन्त्र काव्य का भी प्रणयन हुआ। इस रीति–परम्परा का अपने युग के लिए ऐतिहासिक महत्व है। हिन्दी के रीतिकाल का साहित्य जनपथ का साहित्य न होकर राजपथ का साहित्य है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश –भाषाओं के साहित्य में यह परम्परा पहले से ही विद्यमान थीं। रीतिकालीन साहित्य में पुरानी परम्परा से हटकर कुछ नवीनता का समावेश हुआ। संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं के साहित्य में कलात्मक विलासिता थी, किन्तु हिन्दी के रीति–साहित्य में क्रमशः विलासिता का प्राधान्य होने लगा। भक्ति युग के राधा–कृष्ण रीतिकाल में विलासी नायक और नायिका मात्र रह गये। रीतिकालीन कविता सामान्य जन से कट कर राजदरबारों में आ गई। परिणामतः वह अब साहित्य न रहकर गोष्ठी साहित्य हो गई। इस युग के राज दरबारों में विलासिता का वातावरण प्रधान था इसीलिए राजाओं की प्रसन्नता के लिए रचा जाने वाला साहित्य शृंगार एवं विलास से पूर्णतः अविष्ठित है, तथापि भक्ति, नीति, धर्म एवं सामान्य रूपों आदि में काव्य की एक क्षीण धारा भी शृंगार के साथ–साथ बहती रही।

स्व–मूल्यांकन : क

प्रिय विद्यार्थियों ! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप इस अध्याय का पुनः अध्ययन करें साथ ही उत्तर कुंजी भी देख सकते हैं।

1. **'रीति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किस आचार्य ने किया?**

   (क) भामह (ख) वामन (ग) दण्डी (घ) देव

2. **वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के साथ 'लटिया' नाम की रीति को मानने का आग्रह किस आचार्य ने किया?**

   (क) रुद्रट (ख) अभिनव गुप्त (ग) कुंतक (घ) विश्वनाथ

3. **'साहित्य–दर्पण' किसकी रचना है–**

   (क) दण्डी (ख) भोजराज (ग) विश्वनाथ (घ) शंकुक

4. **'रीति–काव्य की परम्परा ने शुद्ध –काव्य के लिए एक नया मार्ग खोल दिया' किस विद्वान की उक्ति है?**

   (क) डॉ. भगीरथ मिश्र (ख) सुमन राजे (ग) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (घ) मिश्रबन्धु

5. **आचार्य मम्मट ने 'रीति' को किस शब्द से व्यवहृत किया?**

   (क) पद–संघटना (ख) वृत्ति (ग) मार्ग (घ) कोमल

6. **आचार्य विश्वनाथ ने रीति को किस शब्द से व्यवहृत किया?**

   (क) मार्ग (ख) वृत्ति (ग) पद–संघटना (घ) कोमल

19.3.1 रीतिकालीन परिस्थितियाँ

किसी भी काल के भाषा साहित्य के निर्माण में युगीन वातावरण का विशेष योग हुआ करता है क्योंकि युगीन वातावरण राजनीति, समाज, संस्कृति, साहित्य और कला के मूल्यों द्वारा निर्मित होता है। वैसे भी किसी काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानने के लिए उस समय के साहित्य को तत्कालीन बाह्य परिस्थितियों अथवा पृष्ठभूमि यों के आलोक में देखना अनिवार्य सा हो जाता है। इस दृष्टि से रीतिकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, कलात्मक और साहित्यिक परिस्थितियों का अध्ययन इस प्रकार है–

राजनीतिक परिस्थिति :–

राजनीतिक दृष्टि से रीतिकाल को मुगलों के शासन के वैभव के चरमोत्कर्ष तथा उत्तरोत्तर ह्यस का युग कहा जा सकता है। हिन्दी साहित्य में रीतिकाल स. 1700 से 1900 तक स्वीकार किया जाता है। इस समूचे समय में व्यक्तिवादी, निरंकुश राजतन्त्र का बोलबाला रहा। रीतिकाल के पूर्व सम्राट अकबर ने अपनी सहिष्णुता की नीति के द्वारा हिन्दू तथा मुस्लिम, दोनों जातियों के पारस्परिक सांस्कृतिक समन्वय के द्वारा विशाल मुगल–साम्राज्य की प्रतिष्ठा की। अकबर

के पश्चात जहाँगीर जैसा विलासी शासक अपने राज्य के सम्बन्ध में कुछ भी योगदान नहीं दे सका। वह सुरा और सुन्दरी के सेवन में व्यस्त रहा। राज्य से उसका कुछ भी लेना–देना नहीं था फलताः उसकी बेगम नूरजहाँ ही राज्य का सम्पूर्ण कामकाज देखती थी। ऐसे राजा के राज्य में साहित्य सृजन मात्र महफिलों को रंगीन बनाने के लिए ही रचा जाता है। फलतः कुछ ऐसा ही साहित्य रचा जाने लगा। ऐसी राजनीति में बदलाव आया जब जहाँगीर के बाद शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। उसमें एक ओर तो धार्मिक सहिष्णुता थी तो दूसरी और सांस्कृतिक कला से प्रेम भी था। उसके काल में देश में कही क्रांति नहीं हुई, युद्ध नहीं हुआ अपितु लोगों की रूचि संगीत साहित्य और कला के प्रति अधिक बढ़ी। शाहजहाँ के शासनकाल में साहित्य के साथ–साथ संगीत और दूसरी कलाओं को भी उन्नत होने का अवसर मिला। यह समय प्रायः सुख–शांति तथा समृद्धि का काल था। उसके पश्चात उस के उत्तराधिकारियों में से औरंगजेब ने षडयंत्र रच कर शासन संभाला। उसने पिता को कैद करवाया तथा दूसरे भाईयों में से दारा को मरवा दिया तथा बाकियों को भागने के लिए विवश कर दिया। उसकी धर्मान्ध, पक्षपातपूर्ण नीति और साम्राज्य–विस्तार–लिप्सा ने देश की शांति को भंग कर विद्रोहों और निरन्तर चलने वाले युद्धों को जन्म दे दिया। उसकी अतीव धार्मिक कट्टरता की नीति तथा अमानुषिक व्यवहारों से अनेक देशी नरेश बौखला उठे तथा हिन्दू जनता विक्षुब्ध हो उठी। इसी नीति के परिणामस्वरूप उसे मराठों और सिक्खों से चिरकाल तक लोहा लेना पड़ा। औरंगजेब का व्यक्तित्व रागात्मक तत्वों से सर्वथा विहीन था। साहित्य, संगीत, कला, सौन्दर्य के प्रति उसे घोर चिढ़ थी। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विकट तथा शोचनीय हो गयी। राजनीति की दृष्टि से इस काल को घोर निराशा और अन्धकार का युग समझना चाहिए। औरंगजेब के उत्तराधिकारी एकदम अयोग्य, असमर्थ एवं विलासी सिद्ध हुए। केन्द्रीय शासन के जीर्ण हो जाने से अनेक प्रदेशों के शासक स्वतन्त्र हो गये। आगरा में जाटों, राजस्थान में राजपूतों तथा पंजाब में बन्दा बैरागी ने बहादुरशाह और फर्रूखसियर को बुरी तरह तंग कर रखा था। बहुत से प्रदेशों के शासक स्वतन्त्र हो कर स्वतः ही सत्ताधारी बन बैठे। ऐसे ही समय का लाभ उठा कर नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली ने आक्रमण करने आरम्भ कर दिए और मुगल साम्राज्य के नाश की रही–सही कसर भी पूरी कर डाली। एक और देश में ऐसी परिस्थिति थी दूसरी और व्यापार के लिए आई ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारी अंग्रेजों ने अपने पंजे फैलाने आरम्भ कर दिए थे और उन्हीं मुगल वंशज, सामन्तों, नवाबों से मित्रता गाँठ कर, उनमें एक दूसरे के प्रति घृणा और विद्वेष फैला कर कुछ रियासतों पर अपना अधिकार जमा लिया। अपनी चतुर व कुटिल नीति की योजना के अनुसार ही अंग्रेजों ने बक्सर के युद्ध में शाहआलम को पराजित करके मुगल साम्राज्य की इति श्री ही कर दी और मुगल वंश के नाम–शेष सम्राट अंग्रेजों के हाथों में कठपुतलियां बनकर रह गये। अंग्रेजी कंपनी सरकार ने जान–बूझकर अपनी योजना के अधीन सामंती नवाबों–अमीरों को खुलकर विलासपूर्ण जीवन बिताने के लिए उकसाया। औरंगजेब ने साहित्य, संगीत, कला और सौन्दर्य के उपयोग के प्रति जो–जो निषेधाज्ञाएँ प्रचलित की थीं, वे सभी एकदम स्वतन्त्र होकर अपने विकृत रूप में सामने आ गई। महलों में सुरा–सुंदरियों के साथ–साथ हिजड़ों की भी भरमार होने लगी। राज्य के शासकों के आश्रित कवियों और कलाकारों ने भी मनमाने ढंग से साहित्य सृजन आरम्भ कर दिया, जिसका उद्देश्य केवल अपने आश्रयदाता को ही प्रसन्न करना रह गया। इसीलिए इस युग को घोर नैतिक पतन की पराकाष्ठा का काल भी कहा जाता है।

सामाजिक परिस्थिति :–

मुगल साम्राज्य के राजनीतिक विघटन ने सामाजिक स्थिति को भी प्रभावित किया था। सामाजिक दृष्टि से यह युग आदि से अंत तक घोर अधः पतन का मानना चाहिए। ''यथा राजा तथा प्रजा'' की उक्ति इस काल पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। कुल मिलाकर इस युग को विलास–प्रधान युग कहा जा सकता है। यों तो मुगल वंश के ऐश्वर्य और वैभव में विलासिता की प्रधानता आरम्भ से ही चली आ रही थी फिर भी बाबर, हुमायुँ तथा अकबर ने अपने आपको

बहुत कुछ नियंत्रित रखा था। शराब के नशे में चूर रहने वाले तथा नूरजहाँ पर कुर्बान होने वाले जहाँगीर के व्यक्तित्व में विलासिता उग्र रूप में प्रकट हुई। शाहजहाँ की वैभवप्रियता, विलासलिप्सा और प्रदर्शन प्रवृति का तत्कालीन सामन्तीय जीवन पर प्रभाव पड़ा और सामन्तशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं, उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव जन सामान्य के जीवन पर पड़ा। अभिजात्य संस्कृति के नाम पर केवल विलास और प्रदर्शन की प्रवृत्ति शेष रह गई। मनोबल की कमी के साथ समाज का बौद्धिक और नैतिक स्तर पर नीचा हो गया। महलों में लगने वाले रूप–बाजारों का प्रभाव जन–सामान्य पर भी पड़ा। फलस्वरूप पौरुष का ह्रास हुआ। मुगल शासकों के साथ–साथ छोटे–मोटे सामन्तों के पास भी रखैलों की भरमार थी। एक पत्नी व्रत का अनादर पहले से ही मुगल शासकों द्वारा हो चुका था। अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ की अनेक पत्नियाँ थीं। उनके महलों में रखैलों और परिचारिकाओं की भी कमी नहीं थी। इस युग में नारी को केवल मनोरंजन और विलास की सामग्री समझा गया। इसीलिए इस युग के कवियों में भी नारी के शारीरिक सौन्दर्य और श्रृंगार भावना के चित्रण की प्रवृति पाई जाती है।

जन–सामान्य में अन्ध–विश्वास तथा रूढ़ियां घर कर गई थीं। ज्योतिषियों की वाणी, शकुन–शास्त्र पर लोगों का अगाध विश्वास था। जनता में विलास की प्रधानता के कारण भक्ति की भावना मन्द पड़ गयी थी। जनता प्रायः अशिक्षित थी। समाज में बाल–विवाह और बहु–विवाह की प्रथाएँ प्रचलित थीं। जनता में नागरिकता का पूर्ण अभाव था। स्वार्थान्ध होकर विलास के साधन इकट्ठे करने की प्रवृत्ति उसमें बढ़ रही थी। प्रशासनिक अव्यवस्थाओं तथा सामन्तों, मनसबदारों तथा जमींदारों के अत्याचारों से श्रमिक और कृषक वर्ग पीड़ित था। जन–साधारण की चिकित्सा, शिक्षा, सम्पित्त–रक्षा आदि का भी इस काल में कोई प्रबन्ध न था। कला–कौशल और व्यापार को भी शासकों की और से उपेक्षित होने पर हानि पहुँची। इस समय के युग को कई महामारियों का प्रकोप भी सहना पड़ा तथा आर्थिक संकट से भी गुजरना पड़ा। सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में एक तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि इस युग के काव्य में युग का सामाजिक जीवन प्रतिबिम्बित होता हुआ नहीं मिलता। इसका कारण था। दरबारी कवियों की काव्य साधना दरबारी जीवन, उसकी आशा–आकांक्षाओं और रुचियों तक ही सीमित हो कर रह गई थी। वीर रस के कवि अपने आश्रयदाता वीर नरेशों के प्रशस्ति–गायन में डूबे रहते थे। घनानन्द आदि स्वच्छन्द प्रेम–भावना वाले कवि अपनी एकान्त प्रेम साधना में मग्न रहते थे और इस युग के सगुण–निर्गुण ब्रह्म के दोनों रूपों के उपासक भक्त कवियों को अपने आराध्यों से ही फुर्सत नहीं मिलती थी। केवल नीति–काव्य की रचना करने वाले कुछ कवियों के नीति–वाक्यों में सामाजिक जीवन की थोड़ी– सी झलक मिल जाती है, मगर वह भी प्राचीन नीति–वाक्यों का अनुसरण मात्र है। इस प्रकार इस युग का काव्य सामाजिक अर्थ में लोक जीवन से कटा हुआ दिखाई पड़ता है।

साहित्यिक परिस्थिति :–

किसी भी काल का साहित्य तत्कालीन परिस्थितयों की उपज हुआ करता है इसलिए रीतिकालीन साहित्य के श्रृंगारिक अथवा रसिकता प्रधान होने का कारण मुगल शासन काल के विलासमयी तथा भोगमयी वातावरण को भी कहा जा सकता है। रीतिकाल का आरम्भ शाहजहाँ के शासन काल के उतरार्ध से होता है। उस युग में प्रदर्शन और अलंकरण की प्रवृतियों की प्रधानता थी। प्रदर्शन –प्रधान रीतिबद्ध काव्य–शैली तथा काव्य में रसिकता–प्रधान श्रृंगार की अभिव्यक्ति का बहुत कुछ श्रेय उस युग की उक्त प्रवृतियों को है। देश व्यापी समृद्धि एवं शांति शाहजहाँ की रंगीन–मिजाजी, साहित्य और कला की ओर उसकी रूचि, साहित्य के विकासप्रदायी है। प्रतिभावान कलावन्तों के लिए शाह का दरबार सदा खुला था। इस युग में कलाकारों में भी प्रतियोगिताएँ और प्रतिस्पर्धा की भावनाएँ चलती रहती थीं। सामन्तों की भी यही दशा थी। वह निज गुण–गाण के लिए उत्त म कलाकार की सदा ताक में रहता था।

मुगल दरबार की भाषा फारसी थी। उस समय फारसी में दो शैलियाँ प्रचलित थीं– एक भारतीय–ईरानी शैली और दूसरी शुद्ध ईरानी। प्रथम शैली के प्रतिनिधि लेखक अबुल फजल थे। उनकी शैली में अलंकरण की एकमात्र प्रधानता थी। उस समय फारसी शैली में लैला–मजनूं आदि की रोमानी कहानियाँ थी निबद्ध हो रही थीं, जिनका प्रभाव रीतिकालीन हिन्दी काव्य पर भी स्पष्ट देखा जा सकता है। शाहजहाँ आत्मप्रशंसा सुनने का अत्यन्त प्रेमी था। अतः उसके दरबार में कसीदे (प्रशस्ति–गान) बड़ी शानौशौकत के साथ पढ़े जाते थे। तत्कालीन नवाबों, सामन्तों और छोटे–छोटे नरेशों में भी यह प्रवृत्ति अत्यन्त जोरों पर थी। फलस्वरूप दरबारी कवि–प्रतिस्पर्धाओं में तत्कालीन कवियों द्वारा 'बख्त बुलन्द महाराज तेरे चाहिए' के नारे बुलन्द होने लगे।

शाहजहाँ के समय से ही कवियों ने राजाओं के दरबारों में आश्रय लेना आरम्भ कर दिया था। भले ही उसके द्वारा हिन्दी और संस्कृत को कुछ संरक्षण भी मिला परन्तु प्रभुत्व फारसी का ही रहा। औरंगजेब की कट्टर नीति से मुगल दरबार से हिन्दी का तो बहिष्कार हो ही गया अतः रीतिकालीन कविता को सामन्ती छत्रछाया में पोषण मिला। राजस्थान के नरेशों तथा सामन्तों की छत्रछाया में हिन्दी कविता का दरबारी रूप पनपा। रीतिकाव्य में नवीन उद्भावनाओं और मौलिकता के अभाव का मूल कारण कदाचित् उनका महलों के घेरे में बन्द रहना है। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्तीय रह गया। परन्तु ऐहिकता और सामन्तवाद की शक्ति अब उनमें नहीं रही थी, केवल भोगवाद ही शेष था। संरक्षण में पनपने के कारण उसमें गम्भीर प्रेरक तत्वों का अभाव रहा। प्रदर्शन – प्रधान और शृंगार–परक जीवन–दर्शन की अभिव्यक्ति में काव्यधारा चलती रही और उसका स्तर ऊपर नहीं उठ पाया। उस समय का सामन्ती जीवन अपेक्षाकृत कम जटिल और कम समस्यामय था, अतः रीति काव्य में जीवन–संघर्षों का स्वर उभर न सका, वह नायिका के शारीरिक सौन्दर्य की संकीर्ण परिधि में ही चलता रहा। शृंगार इस युग के काव्य का प्रधान स्वर माना जा सकता है। परन्तु शृंगार के चित्रण में अनुभूति की वह गहनता, विरह की वह हृदय–स्पर्शी तड़प और तन्मय कर देने वाली उस स्वस्थ मांसलता का रूप नहीं मिलता जो कृष्ण भक्ति काव्य की विशेषता रही थी। यह अन्तर केवल परिमाण का ही माना जा सकता है। इस युग के वीरता की भावना से सम्बन्धित साहित्य में भी हमें बाह्य–प्रदर्शन और अतिशयोक्ति पूर्ण कथनों की ही प्रधानता मिलती है। इस युग का भक्ति साहित्य भी आन्तरिक अनुभूतियों के स्थान पर बाह्य–प्रदर्शन का ही अधिक प्रेमी रहा। यह सब कुछ होते हुए भी इस युग का काव्य भाव और कला दोनों ही पक्षों की दृष्टि से समृद्धि की ओर अग्रसर होता रहा। काव्य और भाषा का नियमन और परिष्कार करने के लिए काव्य–शास्त्र का विवेचन किया गया। यह प्रवृति इस युग की एक प्रधान प्रवृत्ति थी। यह सिद्ध करती है कि इस युग के अनेक कवियों का ध्यान काव्य को एक सुव्यवस्थित, शुद्ध, कलात्मक रूप प्रदान करने की और गया था। जन–समुदाय में ऐसे कवि भी विद्यमान थे जो दरबारों पर आश्रित होने की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप से काव्य की रचना कर रहे थे। चूंकि वे राजकीय वातावरण से सर्वथा मुक्त और सर्जन–व्यापार में स्वतन्त्र थे, अतएव उनकी रचनाएँ काव्यशास्त्रीय उपकरणों के इस समावेश से सर्वथा अछूती रहीं। यही कारण है कि इनका काव्य उक्त कवियों के काव्य की तुलना में अधिक प्रभावी है। कुल मिलाकर इस युग में राजाश्रित कवियों और जन–कवियों द्वारा रचित साहित्य गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से इतना विषद है कि हिन्दी भाषा उस पर सहज ही गर्व कर सकती है। यह मानना भी न्यायसंगत है कि इस युग में कवियों, कलाकारों को यथोचित सम्मान भी प्राप्त हुआ तथा कला और साहित्य की दृष्टि से यह युग समृद्धि और विकास का ही रहा।

स्व–मूल्यांकन : ख

प्रिय विद्यार्थियों ! निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें। यह मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. राजनीतिक दृष्टि से रीतिकाल को मुगल–शासन के वैभवीय चरमोत्कर्ष तथा उत्तरोत्तर ह्रास का युग माना जाता है। ( )
2. अकबर के पश्चात जहाँगीर जैसे शासक ने अपने राज्य के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण योगदान दिया। ( )
3. शासकों के आश्रित कवियों और कलाकारों ने भी मनमाने ढंग से साहित्य सृजन आरम्भ कर दिया। ( )
4. ''यथा राजा तथा प्रजा'' की उक्ति इस काल पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। ( )
5. शाहजहाँ की वैभवप्रियता, विलासलिप्सा और प्रदर्शन प्रवृति का तत्कालीन सामन्तीय जीवन पर प्रभाव नहीं पड़ा। ( )
6. इस युग में नारी को केवल मनोरंजन और विलास की सामग्री समझा गया। ( )
7. इस युग के काव्य में युग का सामाजिक जीवन प्रतिबिम्बित होता हुआ मिलता। ( )
8. इस युग के कलाकारों में प्रतियोगिताएँ और प्रतिस्पर्धा की भावनाएँ चलती रहती थीं। ( )
9. मुगल दरबार की भाषा संस्कृत थी। ( )
10. कला और साहित्य की दृष्टि से यह युग समृद्धि और विकास का ही रहा। ( )

कलात्मक परिस्थिति :–

रीतिकालीन कविता जिस संस्कृति से उत्पन्न हुयी थी उसका पोषण दरबारों में हुआ था। अतः दरबारों में ही संगीत कला, चित्रकला और स्थापत्यकला का पोषण हो रहा था। दरबार चाहे मुगल बादशाहों, नवाबों का हो या राजा–महाराजाओं का, कलाकारों को वहीं प्रश्रय मिलता था। जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान कलाक्षेत्र में भी प्रदर्शन की प्रवृति की ही प्रधानता रही। सामन्ती वातावरण में फलने–फूलने वाली कला में वासनात्मकता का आ जाना नैसर्गिक था। रीतिकाल में परम्पराबद्ध दृष्टिकोण का निर्वाह होता रहा, उसमें मौलिक प्रतिभा और सप्राणता का नितान्त अभाव है। 'स्वामिनः सुखायः' उद्भूत कला में सात्विकता की अपेक्षा बाजारुपन अधिक होता है। उस समय की चित्रकला की नायक–नायिकाओं की बंधी–बधाई प्रतिकृतियाँ तैयार होती रहीं। पौराणिक कथाओं पर आधृत चित्र तथा राग–रागनियों के प्रतीक चित्रों का बाहुल्य है। इन चित्रों में कलाकार की आत्मा की निश्चल अभिव्यक्ति नहीं हो पाई। युग–रुचि के अनुसार उनमें रुग्ण श्रृंगारिकता का आधिक्य है। कृष्ण और राधा इत्यादि देवी–देवताओं के भी अश्लील चित्र बनाये गये। तत्कालीन कला में आत्म–प्रेरणा के तत्त्व के अभाव के कारण उसमें प्रशस्ति–तत्त्व ही अधिक विद्यमान रहा। रीतिकाल की मूर्ति–निर्माण कला की भी यही दशा रही। उसमें रीतियुगीन सभी प्रवृतियाँ परिलक्षित होती हैं। परम्परा–बद्ध–शैली अलंकरण की अतिशयता, चमत्कार–वृति रोमानी वातावरण की सृष्टि–दरबारी अदब कायदों की जकड़–बन्दी ये सभी प्रवृतियाँ साहित्य के समान कला–क्षेत्र में भी दृष्टि गोचर होती हैं। संगीत कला की स्थिति भी अन्य कलाओं के समान ही थी। भारतीय संगीत भी फारसी प्रभाव से सम्पन्न होकर विलासवृति प्रधान हो गया। वास्तव में रीतिकालीन में सभी कलाकारों की दशा एक जैसी ही थी। सभी आश्रयदाताओं की रुचि पर ही पल रहे थे, अतएव उनकी प्रसन्नता के लिए दोनों को ही श्रृंगारपरक प्रतिपाद्य और कला–प्रधान चमत्कारवादिता को अपनाना पड़ा।

धार्मिक परिस्थिति :–

धार्मिक स्थिति की दृष्टि से भी रीतिकाल को सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से पतन का काल माना जा सकता है। धर्म के किसी भी उदात्त स्वरूप की प्रवृति विद्यमान नहीं रह गयी थी। इस काल में रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और

बाह्यांडबरों ने धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया था। पंडित और मुल्ला इस क्षेत्र में सर्वेसर्वा समझे गये। उस समय की जनता के लिए उनके कथन तथा फरमान वेद वाक्य और कुरान के समान थे।

भक्तिकाल में सगुण भक्ति का विशेष प्रचार हुआ। राम लोक–रक्षक के रूप में पूजे गए और कृष्ण का लोकरंजक रूप सर्वाधिक प्रिय रहा। लोकरंजता के कारण कृष्ण –लीला भक्तों का आकर्षण केन्द्र बनी। राधा–कृष्ण तथा गोपियों के राग, विहार, क्रीड़ाएँ इत्यादि कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में आध्यात्मिक धरातल पर प्रकट हुए परन्तु रीतिकाल तक पहुंचते–पहुंचते राधा–कृष्ण और गोपियों ने अपना आध्यात्मिक अर्थ खो दिया और वे लौकिक अर्थों में नायक–नायिका, सखी, दूती आदि बन कर रह गए। सूरदास आदि के द्वारा प्रतिपादित राधा और कृष्ण की सात्विकता मधुर भक्ति में सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूल ऐन्द्रियता और पवित्रता के स्थान पर लोलुपता और कामुकता की भावनाएँ आ गईं। कृष्ण –भक्तों की रागात्मिका भक्ति के रहस्य को समझने की शक्ति न तो रीतिकाल के अनाधिकारी कवियों में थी और न ही उस समय की अपरिष्कृत–मस्तिष्क जनता में राम–भक्ति में विभिन्न सम्प्रदायों की भी यही गति थी। शक्ति के प्रतीक, लोक रक्षक, मर्यादा पुरूषोतम राम अब एक छैल–छबीले नायक के समान सरयू के किनारे काम–क्रीड़ा करने लगे। आदर्श की मूर्ति सती सीता अब एक विलासप्रिय सामान्य रमणी के रूप में चित्रित होने लगी। रामभक्ति वालों ने एक नया सम्प्रदाय बना डाला – रसिक सम्प्रदाय। इसके अनुयायी स्वयं को राम की सखी मानकर श्रीराम और सीता के संयोग शृंगार वाले रूप का आनंद लेने लगे। राम भक्ति में पौरुष के स्थान पर स्त्रैण भावना आ गई।

मन्दिरों और मठों के पुजारियों तथा महन्तों के जीवन में दिव्य पुण्य–प्रेम के स्थान पर वासना ने घर कर लिया चैतन्य और वल्लभ सम्प्रदाय की गद्दियां तक सस्ती रसिकता में निमग्न हो गई। इस युग में निर्गुण भक्ति–सम्प्रदायों में भी अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। इनका आचार–व्यवहार भक्ति के सगुण सम्प्रदायों की अपेक्षा उन्नत था, किन्तु इन पर भी युग की विलासपरक दृष्टि का प्रभाव अवश्य पड़ा। तत्कालीन सूफियों के अनेक सम्प्रदायों में स्थूल शृंगार, नख शिख वर्णन एवं नायिका–भेद का समावेश होने लगा।

सांस्कृतिक परिस्थिति :–

सामाजिक अवस्था के समान इस युग में देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारवादी नीति तथा सन्तों और सूफियों के उपदेशों के परिणामस्वरूप हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो प्रयास हुआ था, वह औरंगजेब की कट्टरता के कारण एक प्रकार से समाप्त हो चला था। किन्तु विलास वैभव के खुले प्रदर्शन के कारण अपनी–अपनी धार्मिक अवस्थाओं का दृढ़तापूर्वक पालन भी इनके लिए एक प्रकार से कठिन हो गया था हिन्दी–भाषी क्षेत्रों में जिन वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव था, उनके पीठाधीश लोभवश राजाओं और श्रामानों को गुरू–दीक्षा देने लगे थे। फलतः उनका सम्बन्ध तत्वचिन्तन से छूटकर भौतिकता के साथ हो गया था–मन्दिरों में भी अब ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। यह स्थिति यहाँ तक पहुंच गयी थी कि हिन्दू अपने आराध्य राम–कृष्ण का अतिशय शृंगार ही नहीं करने लगे थे, उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति भी खोजने लगे थे। अहिन्दी प्रान्तों में यद्यपि ऐसे सन्तों का प्रभाव था जो इस धारा से अब भी दूर थे, किन्तु इनका प्रभाव हिन्दी प्रान्तों तक न आ सका। दूसरी ओर इस्लाम धर्म पर इस विलास–वैभव का सीधा प्रभाव तो नहीं था य पर रूढिवादिता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण यह जीवन की वास्तविकता से हट गया था – कुरान को हिफ्ज करने अथवा नमाज–रोजा आदि के यथाविध पालन को ही धर्म समझने के कारण वह आध्यात्मिक प्रभाव नहीं पड़ रहा था, जिससे व्यक्ति के संस्कारों में उदारता आती है। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से दूर पड़ गये थे – केवल बाह्याचरण ही धर्म पालन रह गया था। ऐसी दशा में धर्म के साथ नैतिकता का जो सम्बन्ध जुड़ा हुआ था, उससे सम्पन्न वर्ग एकदम दूर हो गया था और विलासिता के लिए खुली छूट मिल

गयी थी। इधर विलास के साधनों से हीन वर्ग के बीच स्थिति यह हो चली थी कि कर्म और आचार के स्थान पर अन्धविश्वास ने उसके भीतर इतना घर कर लिया था कि हिन्दू मन्दिरों में तथा मुसलमान पीरों के तकियों पर जाकर मनोरथ सिद्ध करने लगे थे। जनता के इस अन्धविश्वास का अनुचित लाभ पुजारी और मुल्ला उठाते थे और ये धर्म–स्थान भ्रष्टाचार तथा पापाचार के केन्द्र बन गये थे। यह ठीक है कि इस युग में पुरानी परम्परा के सूफी तथा सन्त अब भी विद्यमान थे, परन्तु किसी में भी कबीर, नानक अथवा जायसी जैसा व्यक्तित्व और प्रतिभा नहीं थी, जो जन–जीवन को प्रभावित कर सकती है। ये लोग पूर्ववर्तियों की वाणी के मात्र प्रचारक थे और प्रचारकों का जैसा प्रभाव पड़ सकता है, वैसा ही इनका पड़ रहा था – कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में ये असमर्थ थे। उधर 'रामचरितमानस' तथा रामलीलाओं के अध्याय का प्रभाव भी मनोविनोद तक ही सीमित रह गया था। जिस कारण नैतिक प्रभाव के काव्य सृजन की सम्भावना नहीं की जा सकती थी।

स्व–मूल्यांकन : ग

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यदि आप रिक्त स्थान भरने में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की अवश्यकता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. रीतिकालीन कविता जिस संस्कृति से उत्पन्न हुयी थी उसका पोषण ....में हुआ था।
2. जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान ....में भी प्रदर्शन की प्रवृति की ही प्रधानता रही।
3. भारतीय संगीत भी ....प्रभाव से सम्पन्न होकर विलासवृति प्रधान हो गया।
4. इस काल में रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और बाह्यांडबरों ने ....का स्थान ग्रहण कर लिया था।
5. रामभक्ति वालों ने एक नया सम्प्रदाय ....बना डाला।
6. मन्दिरों और मठों के पुजारियों तथा महन्तों के जीवन में दिव्य पुण्य–प्रेम के स्थान पर .... ने घर कर लिया।
7. हिन्दी–भाषी क्षेत्रों में जिन वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव था, उनके पीठाधीश लोभवश राजाओं और श्रामानों को ....देने लगे थे।
8. हिन्दू अपने आराध्य राम–कृष्ण की लीलाओं में अपने ....की संगति भी खोजने लगे थे।
9. धर्म–स्थान .... तथा .... के केन्द्र बन गये थे।

19.4. सारांश :

इस अध्याय में हमने रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ उसकी तत्कालीन परिस्थितियों का भी विस्तृत अध्ययन किया।

19.5. कठिन शब्द :

1. कांति – चमक, आभा
2. व्यवहृत –व्यवहार या प्रयोग में लाया हुआ, आचरित

3. परिगणित – जिसका गणन किसी अनुसूची में हुआ हो
4. मन्तव्य – मत, प्रस्ताव
5. आविर्भाव – उदय, अवतरण
6. तिरोभाव – लोप
7. सहिष्णुता – क्षमाशीलता

19.6. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. रीतिकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

2. रीतिकालीन परिस्थितियों का परिचय दीजिए।

19.7 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1.वामन 2. रुद्रट 3.विश्वनाथ 4. डॉ. भगीरथ मिश्र 5. वृत्ति 6. पद–संघटना

स्व–मूल्यांकन (ख) 1.सही 2. गलत 3. सही 4. सही 5. गलत 6. सही 7. गलत 8. सही 9. गलत 10. सही

स्व–मूल्यांकन (ग) 1. दरबारों 2. कलाक्षेत्र 3. फारसी 4. धर्म 5. रसिक सम्प्रदाय 6. वासना 7. गुरू–दीक्षा 8. विलासी जीवन 9. भ्रष्टाचार, पापाचार

19.8. पठनीय पुस्तकें

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012

5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

रीतिकाल का नामकरण

रूपरेखा

20.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
20.2 प्रस्तावना
20.3 रीतिकाल का नामकरण
20.4 सारांश
20.5 कठिन शब्द
20.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
20.7 उत्तर कुंजी
20.8 पठनीय पुस्तकें

20.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम :

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य आपको रीतिकाल के नामकरण की पृष्ठभूमि से परिचित करवाना तथा कौन–कौन सी प्रवृत्तियाँ इस काल में प्रचलित थीं जिनके आधार पर इस काल का नामकरण निर्धारित हुआ, यह ज्ञान देना भी है।

इस अध्याय का पूर्ण अध्ययन करने के पश्चात आप रीतिकाल के नामकरण की पृष्ठभूमि से परिचित होने के साथ–साथ उन प्रवृत्तियाँ से भी अवगत हो सकेंगे जो इस काल में प्रचलित थीं और जिनके आधार पर इस काल का नामकरण निर्धारित हुआ।

20.2. प्रस्तावना :

प्रिय विद्यार्थियों! किसी भी काल की पहचान उसके नाम से होती है इसलिए इस काल का नामकरण भी वांछित हो गया। पिछले अध्याय में अपने रीतिकाल की पृष्ठभूमि का अध्ययन कर यह ज्ञान अर्जित किया है कि भक्तिकाल के पश्चात जो प्रवृतियाँ प्रकट हुई वे अधिकतर श्रृंगारिक थी इसलिए तो विभिन्न मतभेदों के बाद इस काल का मुख्य नामकरण रीतिकाल हुआ। जिसका विस्तृत परिचय इस अध्याय में दिया गया है।

20.3. रीतिकाल का नामकरण :

किसी भी काल के नामकरण का विषय विद्वानों के लिए विचारणीय हो जाता है। सामान्यतः स. 1700–1900 तक के काल को हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है जिसमें सामान्य रूप से श्रृंगारपरक लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई। परन्तु हिन्दी साहित्य के आदिकाल के समान रीतिकाल के नामकरण के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। विद्वानों ने अपने–अपने तर्कों के आधार पर इस काल को अलग–अलग नाम दिए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' से पूर्व 'मिश्र बन्धु विनोद' लिखा जा चुका था। जिसमें मिश्र–बंधुओं ने अपने 'मिश्र बन्धु विनोद' नामक ग्रन्थ में इस काल को 'अलंकृत काल' की संज्ञा दी है। अपने तर्क देते हुए उनका कथन है

कि क्योंकि इस काल में अधिकतर अलंकारों के सम्बन्ध में ही लक्षण–उदाहरण आदि प्रस्तुत किए गए, इसलिए इसे 'अलंकृत काल' कहना ही ठीक है। डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इस काल को 'कला काल' कहना ठीक समझते हैं इसमें उनका तर्क है कि क्योंकि इस काल में कला पक्ष की ही अधिक प्रधानता रही और काव्य के कला पक्ष का जितना उत्कर्ष इस काल में हुआ, उतना पहले कभी नहीं हुआ था। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल को 'शृंगार काल' के नाम से अभिहित करते हुए कहा है कि रीतिकाल के अधिकतर कवियों और आचार्यों ने चाहे वे रीतिबद्ध ही रहे या रीतिसिद्ध, उन्होंने शृंगार रस पर ही दृष्टि केन्द्रित रखी है, इसलिए 'शृंगार काल' नाम ही उचित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'रीतिकाल' कहा है। यह नाम युग की सार्थकता को लक्षित करता है अतः इसे ही अधिक मान्य माना जाता है क्योंकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के नामकरण के सिवाय अन्य नामकरणों के लिए जहाँ पर रचना–पद्धति का आधार ग्रहण किया गया है वहाँ पर रामचन्द्र शुक्ल के नामकरण के लिए उस युग की रचनाओं के आधार को ग्रहण किया गया है।

स्व–मूल्यांकन : क

प्रिय विद्यार्थियों ! निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिन्ह द्वारा देकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें। यह मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. रीतिकाल में सामान्य रूप से शृंगारपरक लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई। ( )
2. रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' के बाद 'मिश्र बन्धु विनोद' लिखा गया था। ( )
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'रीतिकाल' कहा है। यह नाम युग की सार्थकता को लक्षित करता है।( )
4. डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इस काल को 'कला काल' कहते हैं। उनका तर्क है कि इस काल में कला पक्ष की ही अधिक प्रधानता रही और काव्य के कला पक्ष का जितना उत्कर्ष इस काल में हुआ, उतना पहले कभी नहीं हुआ था। ( )

मिश्र बधुओं द्वारा संगृहीत 'अलंकृत काल' नाम को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि इस युग के लिए 'अलंकृत' विशेष ण अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता। मिश्र बन्धुओं ने अपने इस नामकरण के पक्ष में यह तर्क दिया है कि इस युग की कविता को अंलकृत करने की परिपाटी अधिक थी, वह इसलिए मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यह कविता केवल अंलकृत ही नहीं है, इतर काव्यांगों को भी इस में यथोचित स्थान प्राप्त रहा है, कवियों की प्रवृति भी केवल अलंकार युक्त रचनाएं करने की नहीं थी – उन्होंने इसकी अपेक्षा रस पर अधिक बल दिया है, यह ठीक है कि संस्कृत–काव्यशास्त्र में 'अलंकार' शब्द विविध काव्यांगों का बोधक अवश्य रहा है। अतः इस अर्थ में यदि 'अलंकार' विशेष ण इस युग की काव्यांग–निरूपण–प्रवृत्ति के लिए ग्रहण किया जाये, वो असंगत नहीं। पर चूंकि 'अलंकृत' शब्द (क्त प्रत्यय के कारण) इस युग की कविता का ही विशेषण हो सकता है – लक्षण–ग्रन्थों का नहीं, जो प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं, इसलिए इस युग को किसी सीमा तक 'अलंकार काल' कहना युक्त नहीं हो सकता है। इधर हिन्दी में 'अलंकार' शब्द काव्यांग विशेष के लिए ही रूढ है – काव्यशास्त्र के लिए गृहीत नहीं होता अतः व्यवहार–और इसलिए अव्याप्ति के कारण इसको स्वीकार करना भी संगत प्रतीत नहीं होता। विद्वानों ने इस नामकरण को अस्वीकार करने के पीछे यह मत भी दिया हैं कि यदि इसे उक्त नाम से अभिहित किया जाएगा, तो इस काल की जो प्रमुख प्रवृति रीति है, उसमें अंतर्विरोध होगा। अगर यह मान लें कि इस काल में अलंकारों के लक्षण–उदाहरण ही अधिक प्रस्तुत किए गए तो यह भी नहीं, क्योंकि काव्य के दूसरे अंगों–शब्द –शक्ति, रस, भाव, ध्वनि और वक्रोक्ति आदि के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा गया है। केवल केशवदास को छोड़कर मतिराम, बिहारी और देव का काव्य रस, भाव और ध्वनि की

दृष्टि से भी बहुत समृद्ध है। इसलिए यह 'अलंकृत काल' नाम सार्थक नहीं माना जा सकता क्योंकि पूरे युग की विशिष्ट प्रवृतियों का बोध इस नाम से नहीं हो पाता।

डॉ. रमा शंकर 'रसाल' द्वारा अभिहित 'कला काल' नाम भी इस युग के लिए स्वीकार नहीं किया गया। विद्वानों के अनुसार रीतिकालीन साहित्य में कला–पक्ष की प्रधानता को देखकर इसे कला–काल कहना भी असमीचीन है। तथ्य तो यह है कि साहित्य के भाव–पक्ष और कला–पक्ष परस्पर इस प्रकार संपृक्त होते हैं कि उसमें विभाजक रेखा खींच पाना अत्यन्त कठिन काम है। और इस काल में काव्य के केवल बाह्य पक्ष पर ही बल नहीं दिया गया अपितु उसका आंतरिक पक्ष भी बहुत अच्छी तरह से प्रस्तुत किया गया है। अगर केवल कला–पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित माना जाए, तब तो 'वीरगाथा काल' और 'भक्तिकाल' को भी उन–उन कालों से न मानकर 'कला–काल' के नाम से ही अभिहित करना पड़ेगा, क्योंकि, उन–उन कालों में भी तो काव्य के कला पक्ष को बहुलता मिलती है। इसलिए माना जा सकता है कि साहित्य में भाव–पक्ष और कला–पक्ष दोनों का ही महत्वपूर्ण योगदान होता है दोनों में विभाजन नहीं किया जा सकता, इसलिए इस काल का 'कला काल' नाम स्वीकार करने में एकांगिता आ जाएगी अतएव यह नाम भी उचित नहीं है।

इस काल के लिए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने श्रृंगार रस की प्रमुखता को लक्ष्य में रखकर ही इसे 'श्रृंगार काल' नाम प्रदान किया है परन्तु उनका यह नामकरण भी एकांगिता के दोष से मुक्त नहीं है क्योंकि न तो उस काल के कवियों ने श्रृंगार रस के सम्पूर्ण अंगों का विवेचन ही किया है और न ही उनके द्वारा श्रृंगार अपने वास्तविक एवं शुद्ध रूप को अक्षुण्ण बनाए रख सका है। कहीं–कहीं तो ऐसा लगता है कि यह श्रृंगार रस न होकर मात्र श्रृंगाराभास हो या उससे भी आगे बढ़कर कहीं–कहीं अश्लीलता को ग्रहण कर गया हो। यह ठीक है कि इस काल अर्थात रीतिकाल में श्रृंगार रस की प्रधानता है परन्तु वह स्वतन्त्र रूप में नहीं अपितु रीति पर आश्रित है। अर्थात चाहे रीतिबद्ध कवि हो या रीतिसिद्ध अथवा रीतिमुक्त, सभी पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रीति परम्परा का ही प्रभाव दृष्टि गोचर होता है। इसलिए श्रृंगारकाल उस काल की आंतरिक और प्रमुख प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इसके साथ ही यह कहना भी उचित है कि श्रृंगार के अतिरिक्त इस काल में वीर रस का काव्य और नीति काव्य भी लिखा गया, जिसके जीवंत प्रमाण भूषण, ग्वाल, सूदन, जोधराज और गुरू गोविदसिंह वीररस के तथा वृंद और गिरधर इत्यादि नीति के सूक्तिकार कहे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में श्रृंगार की प्रधानता और प्रमुखता का प्रश्न ही नहीं उठता और न ही 'श्रृंगार काल' नाम का क्योंकि 'श्रृंगार काल' नाम की संज्ञा रीतिकाल की आन्तरिक प्रवृति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करती। यही कारण है कि हिन्दी–साहित्य में 'श्रृंगार काल' के नाम का अनुकरण नहीं किया गया और न ही यह नाम उपयुक्त कहा जा सकता है क्योंकि इस प्रसंग में यह कहना कि प्रस्तुत काल में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त धारा के कवियों में श्रृंगार की प्रधानता रही है अतः इस काल का नाम 'श्रृंगार काल' उपयुक्त है उचित नहीं है। जहां तक दो विशेषणों रीति और श्रृंगार का प्रश्न है, श्रृंगार इस काल में रीति के परिवेष्टन के रूप में आया है परन्तु प्रमुखता रीति प्रवृत्ति की है इसलिए दोनों ही अपने–अपने स्थानों पर महत्वपूर्ण हैं। इस युग के लिए 'रीति' विशेषण का प्रयोग करने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यद्यपि इस काल को 'श्रृंगार काल' कहे जाने में अपित्त प्रकट नहीं की। इस विषय में उन्होंने स्वयं कहा है, "वास्तव में श्रृंगार और वीर इन दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार रस की ही रही, इससे इस काल को रस के विचार से कोई श्रृंगार काल कहे तो कह सकता है" किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस युग को 'श्रृंगार काल' कहना सर्वथा समीचीन है। इस नाम के पक्ष में जो यह तर्क दिया जाता है कि इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृत्ति श्रृंगार वर्णन की थी, उसके स्वीकार किये जाने में आपित्त की जा सकती है यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाये। इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृति श्रृंगारिक ही थी तो भी इसे 'श्रृंगार काल' कहने में अव्याप्ति दोष होगा क्योंकि इस दशा में वीर, भक्त आदि श्रृंगारत्तेर रसों में ही रचे गये तथा काव्यांग–विवेचन

की दृष्टि से लिखित अनेक महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध लक्षण ग्रन्थ इसकी परिसीमा में न आ सकेंगे। इस सम्बन्ध में यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि चूंकि इनके रचयितों ने थोड़े–बहुत श्रृंगाररिक छन्द लिखे हैं, इसलिए ये भी श्रृंगार काल की परिधि के भीतर आ ही जाते हैंय किन्तु इसे इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि विशिष्ट परिस्थितियों में लिखे गये कतिपय छन्द अथवा रचनाएं न तो उनकी श्रृंगारिक प्रवृति की ही द्योतक हो सकती है और न इन ग्रन्थों की विषय –भिन्नता के तथ्य से दृष्टि ही फेरी जा सकती है। अतः कह सकते हैं कि इस युग की मूल प्रवृत्ति श्रृंगारिक नहीं, और इसलिए इसे 'श्रृंगार काल' कहना भी अपने–आपमें युक्ति–युक्त नहीं।

स्व–मूल्यांकन : ख

प्रिय विद्यार्थियों ! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम देकर अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित रिक्त स्थानों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक करें।

1. .... द्वारा संगृहीत 'अलंकृत काल' नाम को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया।
2. इस काल में अलंकारों के ....ही अधिक प्रस्तुत किए गए तो यह भी नहीं।
3. हिन्दी में 'अलंकार' शब्द .... विशेष के लिए ही रूढ है।
4. रीतिकालीन साहित्य में कला–पक्ष की प्रधानता को देखकर इसे .... कहना भी असमीचीन है।
5. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ....की प्रमुखता को लक्ष्य में रखकर ही इसे 'श्रृंगार काल' नाम प्रदान किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल को 'रीतिकाल' कहना उचित माना है। इस नामकरण के सम्बन्ध में जो युक्तियां और जो तर्क दिए जा सकते हैं, वे सभी अपना ठोस धरातल रखते हैं। पहली बात तो यह है कि यह काल अपने नामकरण के लिए एक पद्धति विशेष को आधार बनाए हुए है, जो इस काल की धुरी है अर्थात रीति–पद्धति, क्योंकि इस काल के प्रत्येक कवि ने इसी पद्धति अर्थात परम्परा में अपनी रचनाएँ कीं। इसलिए आचार्य शुक्ल का पद्धति–विशेष पर किया गया इस युग का नामकरण नितान्त समीचीन है, क्योंकि इस काल में रीति–पद्धति पर लिखने की प्रवृत्ति का बोलबाला रहा। उस समय का वातावरण ही कुछ ऐसा था। उस युग के प्रत्येक कवि ने रीति–परम्परा के सांचे में ढलकर ही लिखा, क्योंकि तभी उसे समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती थी। डॉ. भगीरथ के शब्दों में, 'उसे रस, अलंकार, नायिका भेद, ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही अपनी कवित्व–प्रतिभा दिखाना आवश्यक था। इस युग में उदाहरणों पर विवाद होते थे। इस बात पर कि उसके भीतर कौन सा अलंकार है? कौन सी शब्द –शक्ति है? कौन सा रस या भाव है? उसमें वर्णित नायिका किस भेद के अन्तर्गत है। काव्यों की टीकाओं और व्याख्याओं से काव्य–सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए भी उसके भीतर अलंकार, रस, नायिका भेद को भी स्पष्ट किया जाता था। काव्य–गोष्ठियों में भी यही प्रवृति थी। अतः यह युग रीति–पद्धति का ही युग था। और इसमें इससे संबंधित असंख्य ग्रन्थ लिखे गये''। इस सन्दर्भ में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि रीतिकालीन साहित्य के रसास्वादन के लिए रस, अलंकार, नायिका भेद आदि के ज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता। रीतिबद्ध कवियों के साहित्य को समझने का रहस्य तो नायिका आदि भेद में निहित है ही साथ–साथ रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों के ग्रन्थों की पार्श्वभूमि में भी नायिका भेद, रस और अलंकारादि का प्रौढ ज्ञान काम करता हुआ सा दिखाई देता है। इस दृष्टि से इनका मूल वर्णय–विषय काव्यशास्त्र माना जा सकता है। और तब 'रीतिकाल' नामकरण को स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए, क्योंकि 'रीति' शब्द काव्यशास्त्र का ही पर्याय माना जाता है। दूसरी बात यह भी है कि इस युग को रीतिकाल कहने से इसकी सीमा बहुत विस्तृत हो जाती है जिसमें वीर रस अथवा सूक्ति काव्य की गणना भी हो सकती है।

तीसरी बात यह भी है कि यह नाम स्वीकार कर लेने से उस काल की बाह्य और आंतरिक प्रवृति अर्थात भाव और कला पक्ष का सम्बन्ध नहीं टूटता और न ही किसी महत्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता की उपेक्षा होती है। इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम रीतिकाल अपने नामकरण की दृष्टि से सार्थक उचित और तर्क संगत है। डॉ. महेंद्र कुमार ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकालः रीतिकाल' में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत सभी नामों की सविस्तार चर्चा करते हुए इस काल को रीतिकाल मानना युक्तिसंगत कहा है।

जहां तक इस युग को 'रीति' विशेषण—सहित प्रयोग में लाने का प्रश्न है, उसके विषय में यह सहज ही कहा जा सकता है कि 'शृंगारकाल' की अपेक्षा यह अधिक वैज्ञानिक और संगत है कारण, इनमें रीति सम्बन्धी ग्रन्थ ही अधिकांशतः नहीं लिखे गये अपितु इस युग के कवियों की प्रवृत्ति भी ऐसे ही ग्रन्थ रचने की थी। इन कवियों ने यदि शृंगारिक छन्द रचे भी तो वे सामान्यतः स्वतन्त्र रूप से रचित न होकर शृंगार रस की सामग्री के लक्षणों के उदाहरण होने के कारण रीतिबद्ध ही थे। इतना ही नहीं, रीति—निरूपण की यह प्रवृत्ति अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि और परम्परा के साथ आयी थी। भक्तिकाल में ही काव्यशास्त्र लोगों की चर्चा का विषय बन चुका था। नन्ददास द्वारा 'रसमंजरी' जैसा नायिका भेद सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा जाना तथा तुलसी द्वारा 'धुनि अवरेष कवित गुन जाती, मीन मनोहर ते बहु भांती' आदि कहा जाना इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इसके साथ—ही—साथ केशव, रहीम, सुन्दर आदि अनेक कवियों ने कवि—चर्चा के इस विषय को अग्रसर किया जो आगे चलकर साधारण कवियों तक का वर्णय विषय होने के कारण इस युग की प्रवृत्ति का द्योतक हो गया। दूसरे, इस अभिधान को स्वीकार कर लेने में सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसकी परिधि के भीतर केवल वे लक्षण और लक्ष्य ग्रन्थ ही नहीं आ जाते जो 'शृंगारिक रचनाओं से युक्त हैं, अपितु वे ग्रन्थ भी इसकी परिसीमा के बाहर नहीं पड़ते जो अन्य रसों में काव्यांग—विवेचन के निमित्त रचे गये।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'रीतिकाल' संज्ञा भी अपने—आपमें व्यापक नहीं, क्योंकि घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर, सूदन आदि वे कवि भी तो इसके अन्तर्गत नहीं आ पाते जिन्होंने अपने काव्य—ग्रन्थों की रचना न तो काव्यांगों के विवेचन के लिए की और न उन पर काव्यशास्त्र का प्रभाव ही रहाय किन्तु इसके उत्तर में यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि इन कवियों में सूदन, जोधराज प्रभृति गिने—चुने वीर—कवि वीरगाथा काल (आदिकाल) की परम्परा में भी रखे जाने चाहिए कारण इनकी रचना—शैली उस युग के ग्रन्थों की शैली से दूर नहीं है। वर्तमान युग में ब्रजभाषा—काव्य तथा काव्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है और अब भी हो रहा है, तो उनके सन्निविष्ट न हो सकने का कारण क्या 'आधुनिक काल' अथवा 'गद्यकाल' अभिधान को अमान्य ठहराया जा सकता है? पुरानी परम्परा के ग्रन्थ तो प्रत्येक युग में मिल ही जाते हैं। इसी प्रकार इस युग में वृन्द आदि नीति—कवियों की रचनाएं भी भक्तिकाल की मर्यादावादी विचारधारा की परम्परा की द्योतक हैं। उनसे भी 'रीतिकाल' संज्ञा पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ना चाहिए। ऐसे ही घनानन्द, बोधा आदि कतिपय उत्कृष्ट कोटि के कवियों के विषय में भी कहा जा सकता है कि इन इने—गिने कवियों की पृथक् प्रवृत्ति को 'रीतिमुक्त' नाम दे देने में कोई हर्ज न होगा। यदि इनके वर्णय विषय को शृंगार कहते हुए इन्हें फुटकल खाते में न डाले जाने की दुहाई देकर इनको उचित स्थान दिलाने के लिए ही 'शृंगारकाल' संज्ञा पर बल दिया जाता है, तो इनके विषय में भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि इन कवियों का काव्य संस्कृत—काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशुद्ध शृंगार की कोटि में नहीं रखा जा सकता कारण, यह फारसी की प्रेमाभिव्यक्ति की पद्धति का एक प्रकार से भारतीय रूप है जिसे पृथक् स्थान ही मिलना चाहिए—न इसे 'शृंगारकाल' की परिसीमा में लिया जा सकता है और न 'रीतिकाल' की ही में। इनका अपना पृथक् वर्ग था और चूंकि इनकी काव्य—पद्धति का अधिक प्रचलन नहीं हो सका, इसलिए इस काल का नामकरण करने के लिए इन्हें फुटकल खाते में डाल देने से कोई हानि न होगी। यदि किसी आग्रह के कारण इन्हें सम्मिलित करने के लिए इस युग को 'शृंगारकाल' संज्ञा दे भी दें, तो भी भूषण—जैसे राजप्रशस्तियों के रचयिता उत्कृष्ट कवि तथा जसवन्तसिंह—जैसे प्रसिद्ध कवि—शिक्षक आचार्य

फुटकल खाते में डालने पड़ेंगे और यह उतना ही बड़ा अन्याय होगा, जितना कि घनानन्द आदि को फुटकल खाते में डाले जाने की दुहाई देकर कहा जाता है।

विषय –चयन के आधार पर भी इस काल को 'रीतिकाल' कहने में किसी प्रकार का अव्याप्ति–दोष न होगा, क्योंकि प्रत्येक कवि द्वारा इसमें श्रृंगार को न्यूनाधिक रूप से ग्रहण किया जाना भी तो एक विशेष प्रकार की 'रीति' (पद्धति) ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दबे स्वर में इसको 'श्रृंगारकाल' कहे जाने में जो आपित्त प्रकट नहीं की, उसका कारण यही हो सकता है कि उनके समय तक सामान्य रूप से इस युग का श्रृंगारपरक साहित्य ही अधिक प्रकाश में आया था। इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि अनेक रीति–आचार्यों ने ऐसे भी ग्रन्थ लिखे हैं, जो रीति–निरूपण सम्बन्धी नहीं हैं। पर क्योंकि काव्यांग–निरूपण में उनका मनोयोग परिलक्षित होता है तथा लक्ष्य ग्रन्थों में उनके काव्यशास्त्रीय संस्कार मुखर होकर आये हैं, इसलिए उनकी सभी विषयों की रचनाएं इसी कोटि की मानी जायेंगी एवं उनको भी 'रीतिकवि' कहना ही अधिक युक्ति–युक्त होगा–भले ही वे एक या एक से अधिक ग्रन्थ ऐसे लिख गये हों, जिन पर काव्यशास्त्र की छाप स्पष्टतः परिलक्षित नहीं होती।

स्व–मूल्यांकन : ग

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में आपने रीतिकाल के नामकरण का अध्ययन किया है। इस अध्ययन के उपरांत प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं। आप इस अध्याय का पुनः अध्ययन करें साथ ही उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. **1700–1900 तक के काल को किस नाम से जाना जाता है?**

   (क) रीतिकाल (ख) श्रृंगार काल (ग) आदिकाल (घ) भक्तिकाल

2. **मिश्र बधुओं द्वारा रीतिकाल का क्या नाम रखा गया?**

   (क) अलंकृत काल (ख) श्रृंगार काल (ग) कला काल (घ) प्रेमकथा भाष्यधारा

3. **आर्चाय रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल को किस नाम से अभिहित किया है।**

   (क) अलंकृत काल (ख) श्रृंगार काल (ग) रीतिकाल (घ) कलाकाल

4. **पं. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने रीतिकाल को किया नाम दिया है?**

   (क) बाल्यावस्था (ख) रीतिकाल (ग) युवावस्था (घ) मध्यकाल

5. **आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकाल को किया नाम दिया है?**

   (क) श्रृंगार काल (ख) रीतिकाल (ग) युवावस्था (घ) मध्यकाल

6. **श्रृंगार के अतिरिक्त इस काल में कौन से रस का काव्य लिखा गया?**

   (क) हास्य (ख) वात्सल्य (ग) वीर और नीति (घ) शांत

20.4. सारांश :

इस प्रकार रीतिकालीन काव्य के सभी पक्षों, और गतिविधियों का अध्ययन–निरीक्षण करने के उपरांत निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उस काल की व्यापक और प्रमुख प्रवृत्ति 'रीति' है। अतः हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को 'रीतिकाल' के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त है। अलंकृत काल, कला काल अथवा श्रृंगार काल नाम उसकी आन्तरिक प्रवृति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस विषय में डॉ. भागीरथ मिश्र के निष्कर्ष को उपन्यस्त करना अधिक संगत प्रतीत होता है, ''कला काल कहने से कवियों की रसिकता की उपेक्षा होती है, श्रृंगार काल कहने से वीर रस और राज–प्रशंसा की। रीतिकाल कहने से प्रायः कोई भी महत्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता उपेक्षित नहीं होती और प्रमुख प्रवृति सामने आ जाती है। यह युग रीति–पद्धति का युग था। यह धारणा वास्तविक रूप से सही है।'' जिसके आधार पर आचार्य शुक्ल का 'रीतिकाल' नामकरण तर्क सम्मत तथा स्वीकरणीय है।

20.5. कठिन शब्द

1. वांछित – इच्छित
2. अभिहित – उल्लिखित
3. यथोचित – समुचित, जितना उचित हो उतना
4. गृहीत – स्वीकृत
5. एकांगिता – एक पक्षता
6. प्रिवेष्टन – आवरण, परिधि
7. परिधि – वृत
8. अव्याप्ति – लक्षणों का लक्ष्य पर पूरी तरह घटित न होना
9. मनोयोग – ध्यान, साधना
10. उपन्यस्त – उल्लिखित, कथित

20.6. प्रश्नावली :

1. रीतिकाल के नामकरण पर प्रकाश डालिए।

2. रीतिकाल का नामकरण किन आधारों पर किया गया।

20.7. उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. सही 2.गलत 3. सही 4. सही

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. मिश्र बधुओं 2. लक्षण–उदाहरण 3. काव्यांग 4. कला–काल 5. शृंगार रस

स्व–मूल्यांकन (ग) 1.रीतिकाल 2. अलंकृत काल 3. रीतिकाल 4. बाल्यावस्था 5. शृंगार काल 6. वीर और नीति

20.8. पठनीय पुस्तकें

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल,हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018

रीतिकालीन प्रमुख कवि तथा रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ

रूपरेखा

21.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम
21.2. प्रस्तावना
21.3. रीतिकालीन प्रमुख कवि तथा रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ
21.3.1. स्व–मूल्यांकन : क
21.4. रीतिकाल के प्रमुख कवि
21.4.1. स्व–मूल्यांकन : ख
21.5. रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ
21.5.1. स्व–मूल्यांकन : ग
21.6. सारांश
21.7 कठिन शब्द
21.8. अभ्यासार्थ प्रश्न
21.9 उत्तर कुंजी
21.10. पठनीय पुस्तकें

21.1. उद्देश्य एवं अपेक्षित परिणाम :

प्रिय विद्यार्थियों! इस अध्याय का उद्देश्य अपको रीतिकालीन प्रमुख कवियों तथा प्रवृत्तियों से परिचित करवाना तथा रीतिकालीन विभिन्न धाराओं – रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त का पूर्ण ज्ञान देना है।

इस अध्याय का विस्तृत अध्ययन करने के उपरांत आप रीतिकालीन प्रमुख कवियों तथा प्रवृत्तियों से परिचित होने के साथ ही इस तथ्य से अवगत हो सकेंगे कि रीतिकाल में जो साहित्य रचा गया वह विभिन्न धाराओं में बटा हुआ था जो इस प्रकार थी– रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को अपनाता और नकारता हुआ यह साहित्य प्राचीन साहित्य की परिपाटी को तोड़ता हुआ प्रकट हुआ इसका सम्पूर्ण ज्ञान भी आप प्राप्त कर सकेंगे।

21.2. प्रस्तावना :

हिन्दी साहित्य के इतिहास के महत्त्वपूर्ण काल रीतिकाल के साहित्य का अपना विशिष्ट महत्व है। यह साहित्य इस काल के कवियों की अपनी निजी शैली के आधार पर सामने आया। इसलिए इसे रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध व रीतिमुक्त धाराओं में बाँटा गया और कवियों को भी इनके साथ जोड़ दिया गया जिस पर इस अध्याय में सम्पूर्ण प्रकाश डाला जाएगा।

21.3. रीतिकालीन प्रमुख कवि तथा रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ :

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल एक कालखण्ड है। इस काल में रचित साहित्य पारम्परिक धारा से हटकर एक नवीन दृष्टिकोण को लेकर सामने आया। रीतिकालीन साहित्य का प्रमुख आधार काव्यशास्त्रीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी प्रवृत्ति के आधार पर उत्तर मध्ययुग को रीतिकाल की संज्ञा प्रदान की है। रीतिकालीन साहित्य का अपना महत्त्व है। सम्पूर्ण रीतिकालीन साहित्य को मुख्य रूप से तीन भागों में बांटा गया है रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। संक्षेप में जिनका परिचय इस प्रकार है

रीतिबद्ध – रीतिबद्ध काव्य मुख्यतः काव्यशास्त्रीय स्वरूप के आधार पर टिका हुआ है। रीतिबद्ध काव्य के रचयिताओं ने प्रायः संस्कृत में लिखे हुए काव्य–शास्त्र अथवा रीति–शास्त्र के ग्रन्थों के अनुसार काव्य रचना की। उन्होंने मुख्यतः चार विषयों का वर्णन किया–एक तो उन्होंने कविता की परिभाषा और लक्षणों की चर्चा करते हुए काव्य के पुराने सिद्धान्तों–रस, अलंकार, ध्वनि आदि का विवेचन किया। दूसरे, उन्होंने श्रृंगार–रस की व्याख्या करते हुए नारी (नायिका के नख–शिख, रूप सौन्दर्य, हाव–भाव और उसके भेदों का वर्णन किया। तीसरे, उन्होंने षड्ऋतु–वर्णन (छह ऋतुओं का वर्णन) करते हुए उसके प्रभाव की व्यंजना की। चौथे, उन्होंने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा के लिए उनका गुण–गान भी किया। वस्तुतः रीतिबद्ध कविता में शास्त्रीयता और श्रृंगारिकता का अद्‌भुत संयोग देखने को मिलता है यद्यपि मुख्य रूप से इस काव्य की प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में दरबारी मानसिकता कार्यरत थी जिसकी रुचि श्रृंगार रस से पूर्णछन्द में तथा सामान्य शास्त्रीय जानकारी तक सीमित थी। इसलिए रीतिबद्ध काव्य में चमत्कार की प्रमुखता हो गई जिससे आश्रयदाताओं को चौंकाया जा सके। इस चमत्कार के फलस्वरूप रीतिबद्ध काव्य में वाग्वैदग्धता, सघनता, लघुता और श्रृंगारिक उत्तेजना का प्रसार मिलता है।

रीतिबद्ध साहित्य के लेखकों ने शास्त्र स्थित–सम्पादन किया है। इन्होंने संस्कृत के काव्य–शास्त्र के आधार पर काव्यांगों के लक्षण देते हुए उनके सुन्दर उदाहरण जुटाये हैं। इन्हें शास्त्र कवि भी कह सकते हैं। इन आचार्य कवियों ने अपने आपको कवि 'शिक्षक' के पद से भी अभिहित किया है। इन्होंने तत्कालीन नवाबों, सामन्तों, राजाओं तथा रसिक जनों के लिए काव्यांगों का निरूपण किया है। इनका उद्देश्य था संस्कृत साहित्यशास्त्र का हिन्दी में अनुवाद भर प्रस्तुत कर देना, किसी काव्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना नहीं। अतः हिन्दी के लक्षण–ग्रन्थों में कोई विशेष गहराई नहीं आ पाई जैसी कि संस्कृत के काव्य शास्त्र में इन कवियों पर संस्कृत साहित्य के रस, अलंकार तथा ध्वनि सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा है। ये एक बंधी–बधाई परिपाटी पर चलते रहे, किसी नवीन मौलिक उदभावना को जन्म नहीं दे सके। इन्होंने विषय –सामग्री में भी सरल मार्ग को अपनाया। प्रायः ये नायक–नायिका भेद तथा अलंकार निरूपण में लगे रहे। काव्यशास्त्र की किसी जटिल विषय वस्तु के साथ नहीं उलझे और जहां कहीं ऐसा प्रयास किया भी वहां असफल रहे। इन आचार्य कवियों ने काव्यांग–निरूपण में पद्यात्मक शैली को अपनाया और इसीलिए उनमें यत्र–तत्र अस्पष्ट ता आ गई।

रीतिबद्ध आचार्यकवियों में कवित्व और आचार्यत्व का एक अद्‌भुत एकीकरण मिलता है। एक और तो इन्होंने विशुद्ध लक्षण ग्रन्थ लिखे जिनमें पद्यात्मक लक्षण के उपरान्त सरस उदाहरण जुटाये, पर दूसरी और इन्होंने लक्षणों के भार से मुक्त श्रृंगार–रस संवलित काव्य–ग्रन्थ भी लिखे। इन ग्रन्थों में भी राज दरबारी आचार्य कवि का उद्देश्य पांडित्य और काव्य–कौशल का प्रदर्शन रहा है। सर्वत्र उसके अहं की प्रधानता है और उसने आलंकारिक शैली में पहेलियां बुझाई है। इस वर्ग में दो प्रकार के कलाकार हुए। एक तो वे जिन्होंने लक्षण–ग्रन्थ भी लिखे और साथ में लक्ष्य ग्रन्थ भी। इस श्रेणी में मतिराम, चिन्तामणि, केशव, पदमाकर आदि आते हैं। इनके दोनों प्रकार के काव्यों में रूढ़िबद्धता लक्षित होती है। दूसरे वर्ग में वे कवि आते हैं। जिन्होंने केवल लक्ष्य–ग्रन्थ लिखे। वे काव्यशास्त्राभ्यासी पंडित थे, जैसे श्रीपति आदि।

रीतिसिद्ध – रीतिसिद्ध साहित्य में काव्य शास्त्रीयता इतनी अधिक है कि लगता है कवि रस, अलंकार, ध्वनि, नायक–नायिका भेद आदि के उदाहरण स्वरूप काव्य–रचना कर रहा हो। इस वर्ग के कवि 'शास्त्रों काव्यों य कवि' माने गए जो रीति से बन्धे भी थे और उससे कुछ स्वच्छन्द होकर भी चलते थे। वास्तव में रीतिसिद्ध कवियों को आचार्य या कवि–शिक्षक बनने की अभिलाषा नहीं थी। इन्होंने अपने काव्य–कौशल के प्रदर्शन पर विशेष ध्यान दिया। इन काव्य–कवियों की एक और विशेषता है कि वे कवित्व के लोभ में चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ बाँधने में लीन रहते थे। उन्हें अपनी कविता को लक्षण– विशेष के सांचे में ढालने के लिए विशेष चिन्ता नहीं रहती थी। इन्होंने स्वानुभूति के आधार पर मौलिक काव्य की रचना की। स्वतन्त्र उद्‌भावना के लिए जितनी पर्याप्त पृष्ठभूमि इन कवियों के पास थी उतनी रीतिबद्ध आचार्य कवि के पास नहीं थी। यही कारण है कि इन कवियों की वैयक्तिकता अपेक्षाकृत अधिक उभरी है। इस साहित्य में भावपक्ष और कलापक्ष को समान रूप में महत्त्व दिया गया है। इस साहित्य के प्रेणताओं की आत्मा 'रीति' के भार से अधिक आक्रान्त नहीं हुई क्योंकि इन्होंने स्वतन्त्र रूप से लक्षण ग्रन्थों की रचना नहीं की, भले ही कविता की पृष्ठभूमि में कहीं–कहीं रीति परम्परा काम कर रही थी। भावाभिव्यक्ति के लिए इन्होंने भी आलंकारिक शैली का अवलम्बन लिया। बिहारी–रीति–कवियों के इसी वर्ग मे आते हैं। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों में स्पष्ट रूप से विभाजक–रेखा नहीं खींची जा सकी है क्योंकि इन दोनों के उद्देश्य में पर्याप्त अन्तर है।

यों तो सम्पूर्ण रीतिकाव्य मुक्तक शैली में निर्मित हुआ है किन्तु रीतिसिद्ध कवियों ने संस्कृत, प्राकृतादि की मुक्तक परम्परा से भी सीधे प्रभाव ग्रहण किया है। ये कवि विद्यापति, चंड़ीदास, सूरदास, रहीम, तुलसीदास आदि भाषा कवियों से भी प्रेरित हुए हैं। इनकी काव्य–दृष्टि तत्कालीन सामंती परिवेश से ही निर्मित है। इसलिए इन पर फारसी काव्य का भी प्रभाव पाया जाता है। रीतिसिद्ध काव्य यद्यपि विलास प्रधान है, उसके केन्द्र में नारी का रूपाकर्षण प्रमुख है फिर भी उसका क्षेत्र रीतिबद्ध की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इनमें श्रृंगार के साथ–साथ भक्ति, प्रशस्ति, रीति ज्ञान–वैराग्य और प्रकृति के आलम्बन–उद्दीपन रूपों का वर्णन भी प्राप्त होता है।

रीतिमुक्त – रीतिकाल में एक ऐसा वर्ग भी मिलता है जिसे 'रीतिमुक्त' कह सकते हैं। इन कवियों ने काव्यशास्त्र को पढ़कर कविता नहीं लिखी बल्कि अपने हृदय की प्रेरणा से कविता लिखी। इसीलिए ये रीति के बन्धन में नहीं बन्धे। रीतिमुक्त या स्वच्छन्द धारा के ये कवि अपने समकालीन रीतिबद्ध अथवा रीतिसिद्ध कवियों से वर्ण्य विषय और वर्णन प्रणाली में भी भिन्न थे। रीतिबद्ध कवि शास्त्रीय बन्धनों में बन्ध कर कविता रचते थे। उन्होंने प्राचीन काव्य प्रणाली को अपना प्रेरणास्रोत माना था जबकि रीति मुक्त साहित्य काव्य शास्त्र को पढ़कर नहीं रचा गया। इन कवियों ने अपने हृदय की प्रेरणा से कविता लिखी। रीतिमुक्त कवि कभी भी किसी प्रकार के बन्धन में नहीं बन्धे। इनकी रचनाओं में वैयक्तिकता की प्रधानता थी जबकि अन्य कवि निर्वैयक्तिक अथवा काव्य शास्त्रीय लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत किया करते थे। रीतिमुक्त कवियों ने सामाजिक या दरबारी मर्यादा में बन्ध कर काव्य रचना नहीं की। रीतिकाल में कुछ ऐसे कवि हुए जिन्होंने केशव, मतिराम और चिन्तामणि के समान न तो कोई लक्षण ग्रन्थ लिखा और न ही बिहारी की भांति कोई रीतिबद्ध रचना लिखी। ऐसे कवियों की संख्या पचास के लगभग है। इनमें कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने लक्षणबद्ध रचना नहीं की और अपनी प्रेम–भावना की व्यंजना स्वच्छन्द, रूप में की है। इनमें घनानन्द, बोधा आलम और ठाकुर इत्यादि कवि आते हैं। दूसरा वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने कथा प्रबन्ध–काव्य लिखे, जैसे लाल कवि का 'प्रकाश', सूदन का 'सुजान चरित्र' इत्यादि। तीसरे वर्ग में दान लीला, मान लीला आदि पर वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य लिखने वाले कवि आते हैं चौथे वर्ग में रीति सम्बन्धी पद्य और सूक्तियाँ लिखने वाले कवि आते हैं जैसे वृन्द, गिरिधरदास इत्यादि। पांचवें वर्ग में ब्रह्मज्ञान, वैराग्य और भक्ति पर लिखने वाले कवि आते हैं छठे वर्ग में वीररस के फुटकर पद्य लिखने वाले कवि आते हैं इनमें भूषण का नाम सर्वापरि है। इन कवियों की विशेषता यही रही कि इन्होंने न तो कोई लक्षण ग्रन्थ लिखा और न लक्षण–ग्रन्थों से प्रभावित होकर अथवा बन्धकर काव्य–रचना की। इनके काव्यों

में भावपक्ष की प्रधानता है। इनकी शैली अनावश्यक आलंकारिकता में नहीं उलझी। इन कवियों ने सामाजिक पक्ष का भी ध्यान रखा है तथा अश्लील शृंगारिक वर्णन भी नहीं किया है। इन कवियों ने शृंगार के संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष का अत्यधिक चित्रण किया है।

21.3.1. स्व–मूल्यांकन : क

प्रिय विद्यार्थियों ! आगे बढ़ने से पहले अपने अध्ययन को थोड़ा विश्राम दें और अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों द्वारा स्वयं का मूल्यांकन कर अपने अध्ययन को सार्थक करें। यदि आप इस मूल्यांकन में असमर्थ हैं तो यह निराशा का विषय नहीं। आप इस अध्याय का पुनः अध्ययन करें साथ ही उत्तर कुंजी भी देख सकते हैं।

1. **रीतिकाल की कितनी धाराएँ हैं?**

   (क) तीन (ख) चार (ग) पाँच (घ) दो

2. **इनमें से कौन रीतिबद्ध धारा के कौन हैं?**

   (क) केशव (ख) वृन्द (ग) घ्नानंद (घ) बिहारी

3. रीतिकालीन तीन धाराएँ कौन सी है?

   (क) रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त

   (ख) सूफी धारा, प्रेममार्गी धारा, सगुण धारा

   (ग) कृष्ण काव्य, राम काव्य, नीति काव्य

   (घ) सन्त काव्य धारा, सगुण काव्य धारा, निगुर्ण काव्य धारा

4. रीतिमुक्त धारा के कवि कौन हैं?

   (क) घनानन्द (ख) मतिराम (ग) केशव (घ) चिन्तामणि

5. रीतिबद्ध धारा के कवि कौन हैं ?

   (क) मतिराम (ख) बोधा (ग) घनानन्द (घ) ठाकुर

21.4. रीतिकाल के प्रमुख कवि :

केशवदास – केशवदास रीतिकाल के प्रवर्त्तक थे यद्यपि भक्तिकाल में भी इनको स्थान दिया जाता है परन्तु इनमें रीतिकालीन कवि की सारी प्रवृत्ति यां पाई जाती हैं अतः इन्हें इसी काल का कवि माना जाता है। केशवदास का परिचय भक्तिकाल के कवियों में दिया जा चुका है।

बिहारी – बिहारी रीतिकाल के बहुत लोकप्रिय कवि हैं इनका जन्म भी ग्वालियर में हुआ था। बचपन बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ था तथा इनके पिता का नाम केशव था। इन सब बातों को देखते हुए इन्हें प्रसिद्ध कवि केशवदास का पुत्र भी माना जाता है। बिहारी की एक ही रचना 'बिहारी–सतसई' मिलती है। सतसई का अर्थ है–सात सौ। बिहारी सतसई में लगभग सात सौ दोहे मिलते हैं इसीलिए इसका नाम सतसई रखा गया। बिहारी ने अपनी सतसई में प्रकृति और नारी के सौन्दर्य, प्रेम, विरह, भक्ति भाव, दर्शन आदि का प्रतिपादन किया है। सौन्दर्य और प्रेम के निरूपण

में बिहारी को सफलता मिली है। श्रृंगार के संयोग पक्ष का उन्होंने बड़ा सुन्दर और सजीव चित्रण किया है। संयोग पक्ष में वे जितने रमे हैं उतने वियोग पक्ष में नहीं। वियोग पक्ष में उन्होंने इतना बढ़ा–चढ़ा कर और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है कि वहां पर भावों की प्रेषणीयता के स्थान पर हास्यास्पदता आ जाती है। बिहारी का एक ही काव्यग्रन्थ उपलब्ध है किन्तु उसके द्वारा इन्होंने जो कीर्ति अर्जित की वह किसी अन्य हिन्दी कवि को नहीं मिली। इनकी 'बिहारी सतसई' मुक्तक काव्य परम्परा की एक प्रतिनिधि रचना है। बिहारी ने मुक्तक काव्य की प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए अपने दोहों में श्रृंगार, भक्ति, नीति–वैराग्य, प्रशस्ति, हास्य–व्यंग्य सबका समावेश किया है परन्तु उसमें युगानुकूल श्रृंगार के विविध रूपों, नायक–नायिका भेद, नखशिख, षड्ऋतु और बारहमासे का वर्णन अधिक है। उनके दोहों में दार्शनिक विचार भी प्राप्त होते हैं किन्तु वे किसी दार्शनिक मतवाद से कोसों दूर थे। बिहारी मुख्यतः श्रृंगार के कवि हैं परन्तु उनके काव्य में रीति और भक्तिपरक दोहों का भी स्थान है।

पद्माकर – इनका जन्म 1810 में बांदा में हुआ था। ये रीतिकाल के लोकप्रिय कवि हैं। इनका काव्य रमणीयता की दृष्टि से अधिक प्रसिद्ध है। ये रीतिकाल के विशिष्टांग निरूपक आचार्य के रूप में जाने जाते हैं। ये पंडित और महाकवि भी कहलाये जाते थे। इनका अनेक जगहों पर बहुत सम्मान हुआ था। जयपुर नरेश जगतसिंह के आश्रय में इन्होंने 'जगद्विनोद' नामक नवरस–निरूपक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों शैलियों में रचना की। इनकी भाषा में प्रवाहमयता है तथा वह सरस एवं व्याकरण सम्मत है। इनका अलंकार ग्रन्थ 'पद्मा रण' लक्षणों की स्पष्ट ता और उदाहरणों की सरसता के कारण अधिक प्रसिद्ध हुआ। 'गंगालहरी' और 'प्रबोध पचासा' काव्य सौष्ठव की दृष्टि से सामान्य है। 'गंगालहरी' में गंगा का अलंकारों से अद्वितीय अलंकरण किया। अन्य रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा पद्माकर में चमत्कार उत्पन्न करने की अपेक्षा ज्ञान–वैराग्य की भावना प्रमुख है।

पद्माकर की सात रचनाएं उपलब्ध होती हैं–हिम्मत बहादुर विरुदावली, पद्मारण, जगद्विनोद, प्रबोध पचासा, गंगा लहरी, प्रतापसिंह विरूदावली और कलि पच्चीसी। इनके अतिरिक्त पद्माकर द्वारा रचित स्फुट छन्द भी मिलते हैं। उपर्युक्त सात रचनाओं में पदमाभरण और जगद्विनोद ही रीतिग्रन्थ हैं, शेष राजप्रशस्ति अथवा भक्ति सम्बन्धी रचनाएं हैं।

घनानन्द – रीतिमुक्त अथवा स्वच्छन्द काव्यधारा के अग्रणी कवियों में घनानन्द का नाम सर्वापरि है इनका जन्म संवत् 1746 के लगभग तथा देहावसान सवत् 1796 माना जाता है। इनकी रचनाओं का परिचय इस प्रकार है–सुजान सागर, विरह लीला, कोकसार, रसकेलि वल्ली और कृपा कांड। घनानन्द की रचनाओं में 'सुजान' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। इसमें कवि की विशेष आसक्ति का उल्लेख इतिहासकारों ने किया है। इस सन्दर्भ से इस कवि की पहचान भी सही रूप से की जा सकती है। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के पास पीर मुन्शी थे कहते हैं एक बार ईर्ष्यावश दरबारियों द्वारा की गई शिकायत पर इन्होंने बादशाह द्वारा कहने पर नहीं गाया। परन्तु अपनी प्रेमिका सुजान वेश्या के कहने पर गा दिया। गाना न जानने पर भी इन्होंने सुजान की तरफ मुंह करके और बादशाह की तरफ पीठ करके बहुत सुन्दर गाया। बादशाह और सभाजन प्रसन्न हुए परन्तु बादशाह ने अपनी तरफ पीठ करके इनका गाना अपना अपमान समझा और इन्हें शहर से निकल जाने की आज्ञा दे डाली। चलते समय इन्होंने अपनी प्रेयसी सुजान से अपने साथ चलने का आग्रह किया परन्तु उसने इन्कार कर दिया। निराश होकर मृत्युपर्यन्त यह वृन्दावन में रहे और 'सुजान' छाप देकर निरन्तर प्रेम और भक्ति के गीत गाते रहे। 'सुजान' के रूप में इन्होंने कहीं सीधे अपनी प्रेमिका को भी 'सुजान' कहा है तथा कहीं पर अपने आराध्य श्रीकृष्ण को भी 'सुजान' कहा है।

घनानन्द – मुख्य रूप से श्रृंगार के कवि रहे हैं, फिर भी संयोग की अपेक्षा वियोग श्रृंगार में उनकी प्रस्तुति उत्तम रही है। इनकी विरह–वेदना की व्यंजना अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। कवि की अधिकांश उक्तियों में प्रणय की सच्ची अनुभूति,

वेदना की आकुलता तथा तीव्र भावात्मकता विशेष दृष्टव्य है। इनके 400 के लगभग फुटकल कवित्त और सवैये भी मिलते हैं। वस्तुतः अपनी काव्य–सरसता तथा प्रेम के उच्च आदर्श के लिए ये बहुत प्रसिद्ध रहे हैं।

चिन्तामणि – इनका जन्म 1610 ई. में हुआ था। ये कानपुर के निकट तिकवापुर के रहने वाले थे। कहा जाता है कि मतिराम तथा वीररस के कवि भूषण इनके ही भाई थे। ये शाहजी भोंसला, शाहजहां और दारा शिकोह के आश्रय में रहे। चिंतामणि की प्रसिद्ध रचनाएं इस प्रकार हैं–काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरू, काव्य प्रकाश, रसविलास, छन्द विचार पिंगल और रामायण इत्यादि।

'कवि कुल कल्पतरु' में इन्होंने काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। काव्य का स्वरूप, शब्द उक्तियाँ, रस, ध्वनि, गुण और दोष आदि सबकी चर्चा की है। आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश और विश्वनाथ के साहित्य दर्पण का प्रभाव इन पर अधिक पड़ा। जहां तक अलंकारों का सम्बन्ध है, रसवादी कवि होने के कारण इन्होंने अलंकारों का प्रयोग रसोत्कर्श के लिए किया है। नायिका भेद की चर्चा में 'साहित्य दर्पण' और भानु दत्त की 'रस मंजरी' और 'रस तरंगिणी' से प्रभाव ग्रहण किया है। इस प्रकार चिंतामणि ने एक प्रकार से समन्वयवाद दृष्टिकोण अपनाकर ग्रन्थों की रचना की है चिंतामणि के काव्य और दूसरे अंगों के लक्षण छंदोबद्ध रूप में दिए हैं। लक्षणों के लिए दोहा या सोरठा छंद लिया है, परन्तु उदाहरण देते समय सवैया और कवित्त छन्दों को अपनाया है। चिंतामणि ने परिष्कृत ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इनकी छन्द योजना अत्यन्त सुन्दर कही जाती है।

भूषण – रीतिकालीन कवियों में कविवर भूषण स्वच्छन्द काव्यधारा में वीररस के चर्चित कवि हैं। इनके जीवनवृत्त, विशेष रूप से जन्म–मरण तिथियों के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि इनका जन्म स. 1670 ई. में स्वीकार किया जाता है। इनके पिता रत्नाकर थे और यमुना किनारे स्थित तिकवांपुर के वासी थे। चित्रकूट के राजा रुद्रराज ने इन्हें कवि भूषण की उपाधि से सम्मानित किया था, तब से ये इसी नाम से जाने जाते है।

भूषण कवि के विषय मे कुछ बातें विशेष रूप से प्रचलित हैं। ये स्वभाव से स्वाभिमानी और उग्र थे और युवावस्था से वृद्धावस्था तक किसी एक स्थान और व्यक्ति से बंधकर नहीं रहे। केवल शिवाजी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अधिक समय तक उन्हीं के पास रुके थे। बाद में अनेक राजाओं के यहां रहकर पुनः साहू के पास पहुंच गए थे। इनका मृत्युकाल अनुमानतः स. 1772 माना जाता है।

भूषण की तीन रचनाएं उपलब्ध हैं–शिवराज भूषण, षिवा बावनी और छत्रसाल दशक। इनमें से पहले दो काव्य उन्होंने मराठा वीर छत्रपति शिवाजी और तीसरा काव्य बुंदेला नरेश छत्रसाल, जो कि रानी सारंधा व महाराजा चंपतराय के सुपुत्र थे, उनकी प्रशंसा में लिखे है। भूषण ने अपने काव्यों में वीर के जीवन और कार्यों का आख्यान किया है। अतः स्वभावतः उनमें वीर रस प्रधान है। वीर रस के सहायक रौद्र, भयानक और वीभत्स रस शिवाजी के प्रसंग में शृंगार और करुण रस के सन्दर्भ में आए हैं। शिवाजी की वीरता का रूपांकन करने वाले अनेक उदाहरण भूषण ने अपने काव्य में प्रस्तुत किए हैं। घोर शृंगारिकता के युग में इस कवि ने वीर रस को अपनी सृजनधर्मिता का आधार बनाया यही कारण है कि इनके काव्य नायक की तरह काव्य रचना का उद्देश्य भी महान् है। अपने काव्य वाचक के साथ–साथ उन्होंने उसके सहायकों और उसकी सेवाओं का वर्णन भी किया है। यही कारण है कि इस कवि को राष्ट्रीय पक्षधरता का कवि भी स्वीकार किया जाता है। भाषा प्रस्तुति के धरातल पर भी इस कवि का महत्त्व निर्विवाद है। इन्होंने अपनी कविताएं ब्रजभाषा में लिखी हैं। वीररस के समान ही उनकी भाषा भी ओजस्वी है। अतः रीतिकालीन कवियों में निष्पक्ष रूप से भूषण को राष्ट्रीय चेतना का सशक्त कवि स्वीकार किया जाना न्यायसंगत ही है।

21.4.1. स्व–मूल्यांकन : ख

प्रिय विद्यार्थियों ! अभी तक प्राप्त ज्ञान के मूल्यांकन हेतु आप निम्नलिखित रिक्त स्थान भरें। यदि आप रिक्त स्थान भरने में असमर्थ हैं तो आपको निराश होने की अवश्य कता नहीं। आप अभी तक के अध्याय को पुनः पढ़ सकते हैं तथा उत्तर कुंजी की सहायता भी ले सकते हैं।

1. रीतिकाल की प्रमुख प्रवृति .... है।
2. भूषण की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं .... ।
3. रीतिकालीन कवियों ने .... के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।
4. रीतिकालीन कवियों की भक्ति–सम्बन्धी उक्तियों के साथ–साथ .... उक्तियाँ भी शतक ग्रन्थों में प्राप्त हो जाती है।
5. बिहारी सतसई में ....दोहे हैं।

21.5. रीतिकालीन प्रवृत्तियां :

रीतिकाल में मुख्य रूप से संस्कृत काव्य शास्त्र को हिन्दी में रूपान्तरित करने की प्रवृत्ति विशेष थी। प्रायः सभी कवियों ने अपने स्तर के अनुरूप अपने काव्य शास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है। यह भी सत्य है कि रीतिकालीन साहित्य की रचना अधिकतर सामन्तीय वातावरण में हुई। परन्तु यह तथ्य भी विचारणीय है कि रीतिकाव्य को किसी एक विषय में आबद्ध नहीं किया जा सकता। यह काव्य विषय विविधता का है। जिसके कारण इसकी काव्यगत विशेषताएँ अथवा प्रवृत्ति यां भी विभिन्न प्रकार से उभर कर सामने आती हैं। रीतिकाल की मुख्य प्रवृत्ति यों का परिचय इस प्रकार है –

1. राज्याश्रय की प्रवृत्ति – रीतिकाल की पृष्ठभूमि का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह काल सामन्तों का काल था और उस काल का अधिकांश साहित्य सामंतों के संरक्षण में तथा सामंतों की प्रसन्नता और आत्मतुष्टि के लिए लिखा गया था। अपनी जीविका का साधन काव्य सृजन को बनाने वाले तथा साहित्य सृजन से पुरस्कार पाने की अभिलाषा से प्रेरित कविगण कभी तो एक ही राजा के आश्रय में सारा जीवन बिता देते थे और कभी मनोनुकूल पुरस्कार न प्राप्त होने की स्थिति में आश्रयदाता बदलते रहते थे। यह प्रवृत्ति प्रायः इस युग के सभी कवियों में रही। पहले प्रकार के कवियों ने जो मिला उसी से संतोष प्राप्त कर काव्य रचना की तो दूसरे प्रकार के कवि जीवन भर एक राजा के आश्रय से दूसरे राजा के आश्रय में भटकते रहे। इन कवियों को पुरस्कार और सम्मान का मोह था। इस कारण उन्हें स्वतन्त्र रूप से काव्य सृजन का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि इन्हें वही सृजन करना पड़ा जो इनके आश्रयदाताओं को रुचिकर था। उदाहरण स्वरूप केशवदास इतने प्रतिभाशाली पंडित व्यक्ति थे परन्तु फिर भी उन्हें रतनसिंह और जहांगीर जैसे राजद्रोहियों की प्रशंसा में काव्य लिखने पड़े ताकि उनके आश्रयदाता का राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध हो सके। कवि देव ने भी आश्रयदाता बदले। मनोवांछित पुरस्कार प्राप्त करने के लिए सब कुछ किया। परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन रीतिकालीन आचार्य कवियों ने हिन्दी काव्यशास्त्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यदि राज्याश्रय का उचित और निश्चित वातावरण न मिलता तो ये आचार्य कवि केवल शृंगारिक और वीर रसात्मक छन्द लिखकर रह जाते। आश्रयदाताओं की कृपा से इनमें से अधिकांश कवि निश्चित हो लेखन कार्य में व्यस्त रहे और कुछ उल्लेख्य ग्रन्थ प्रकाश में आ सके। अतः राज्याश्रय को वृत्त मानना उचित है–शेष सभी प्रवृत्तियों के मूल में भी यह प्रवृत्ति अवश्य रही है।

2. शृंगारिकता की प्रमुखता – शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकाल में सर्वत्र प्रचुरता के साथ दृष्टि गोचर होती है। जिसके फलस्वरूप कई विद्वानों ने इसे 'शृंगार काल' के नाम से भी अभिहित करना चाहा है। वस्तुतः भक्ति काव्य परम्परा से ही रीतिकालीन कवियों को कुछ ऐसी सामग्री प्राप्त हो गई थी। जिससे शृंगारिक और कभी–कभी घोर शृंगारिक कविता लिखने के लिए उस काल के कवि का द्वार खुल गया। रीतिकालीन कवियों पर अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है, उन्हें अमर्यादित तक मानते हैं। ऐसा सभी कवियों के विषय में नहीं कहा जा सकता। यह काल विषय –विविधता का होते हुए भी शृंगारिकता प्रधान है। इसलिए रसों में शृंगार रस, उसके दोनों रूप संयोग–वियोग और इसी रस के अंतर्गत नायिका भेद वर्णन में इन कवियों की रूचि विशेष रही जिसे सभी ने अपने–अपने ढंग से समझाने का प्रयास किया है। यह भी मान्यता है कि शृंगार वर्णन के लिए रीति ग्रन्थकारों को प्रेम या रति भाव की स्वीकृति निर्गुण संतों की वाणी, सूफियों के प्रेम की पीर और कृष्ण भक्ति काव्य से प्राप्त हो चुकी थी निर्गुण उपासक सन्त कवि 'रति इक तन में संचरे' कहकर प्रेम को जीवन का सार कह चुके थे। प्रेम–पीर के साधक सूफी कवि लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना कर चुके थे, कृष्ण भक्ति में जीवन के मृदुल अंश प्रेम–भाव का व्यापक वर्णन हो चुका था, साथ–साथ राम भक्ति काव्य में भी रसिक भाव की प्रतिष्ठा हो चुकी थी अतः रति को या प्रेम भाव को प्रधान मानकर शृंगार की रसराज के रूप में प्रतिष्ठा उस युग के लिए स्वाभाविक सी बात थी। यद्यपि संतों या सूफियों की वाणी और राम या कृष्ण भक्ति में प्रेम–भावना का रीतिकालीन अर्थ या रूप ग्रहण नहीं किया गया था परन्तु रीतिग्रन्थकारों का उद्देश्य ही दूसरा था। इस सन्दर्भ में भिखारीदास का निम्न दोहा उल्लेखनीय है –

आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई न तो,
राधिका कन्हाई सुमरिन के बहानो है।।

अभिप्राय यह है कि सांचा चाहे कोई भी अपनाया गया हो मगर उसमें शृंगारिकता ही ढाली गई। शृंगारिकता भी ऐसी, जिसमें आध्यात्मिकता और प्रेम की सूक्ष्मता की जरूरत ही नहीं समझी गई, बल्कि एकदम मुक्त स्वच्छंद और लौकिक शृंगार का महत्त्व स्वीकार किया गया। इस काल का भौतिक वातावरण भी रीतिकालीन शृंगारिक मनोवृत्त के सर्वथा अनुकूल था। इसको शास्त्रीय आधार–भूमि संस्कृत काव्य शास्त्र के रस–नायिका भेद और अलंकार ग्रन्थों से प्राप्त हो चुकी थी। अपभ्रंश और प्राकृत के लोक शृंगार परक काव्यों से भी इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रेरणा मिली। राजनैतिक अनुमति उसे काव्य–शास्त्रीय ग्रन्थों से प्राप्त हो चुकी थी। भक्तिकाल में राजनैतिक दासता के शिकार होकर भी जन–सामान्य की आध्यात्मिक ज्योति मलिन नहीं पड़ी थी, जीवन के प्रति उनकी आस्था का दीप नहीं बुझा था किन्तु रीतिकाल के वैभव–विलास के उन्मादक वातावरण में उस समय के कवि की समूची वृत्तियां छिछले शृंगार के चित्रण में रम गई। किन्तु इस बात का सारा दोष रीतिकालीन कवि पर नहीं मढ़ा जा सकता, इसका बहुत कुछ दायित्व इस युग के सामन्तों की मनोवृत्त को है।

शृंगार–वर्णन रीति–काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य है यद्यपि रीतिकालीन कवियों का प्रमुख वर्णय–विषय नायिका–भेद, नख–शिख, अलंकार आदि का लक्षण प्रस्तुत करना है, फिर भी उनके माध्यम से शृंगार का प्रतिपादन किया गया है। शृंगार–रस के अन्तर्गत नायिका–भेद प्रमुखता रखता है। कवियों ने नायिका वर्णन में तो अपनी इतनी अधिक रुचि दिखाई है कि देश भेद से, वातावरण भेद से और इसी प्रकार जाति, गुण, कर्म, स्वभाव और अवस्था भेद से जाने कितने प्रकार की नायिका मानी गई हैं और उनमें प्रत्येक में क्या–क्या विशेषताएँ या न्यूनताएं हो सकती हैं, यह भी ध्यान रखा गया है। संयोग पक्ष के अंतर्गत नख–शिख वर्णन का उदाहरण दृष्टव्य है –

झलके अति सुन्दर आनन और, छके दृग राजत काननि छवै।
हसि बोलन में छवि, फूलन की बरषा उर ऊपर बावति है।

अथवा

लट लाल कपोल कलोल करै कलंक ठनि बनी जलजावली है।
अंग–अंग तरंग उठे दुति की परिहे मनो रूप अबै घर च्चै।

श्रृंगार को संयोग पक्ष में जहां नख–शिख तक का वर्णन किया गया है वहां श्रृंगार के दूसरे पक्ष वियोग के अंतर्गत दसों दशाएँ पूर्वराग मान, प्रवास, करुण आदि के भी अच्छे चित्र प्रस्तुत किए गये हैं। बिहारी का एक उदाहरण इस प्रकार है–

लाल तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै वरसै नीर हूं, झरहूं मिठे न झार।

वियोग की दसों दशाओं में स्मृति गुणकथन और प्रलाप के द्वारा प्रियतम के हृदय का विश्लेषण भी किया गया है। देव ने नायक और नायिका के स्मृति–चित्रों का अच्छा वर्णन किया है। पदमाकर की नायिका अपने नायक के गुण का कथन करती हुई कहती हैः–

छलिया छबोलो छैल छाती छूवै चलो गयो

प्रलाप दशा में प्रिय के मिलन, परिम्ण आदि के सुख का बखान किया जाता है। इन दशाओं का वर्णन करते समय इन्होंने खंडित, मानवती आदि नायिकाओं का उपयोग किया है। बिहारी, देव, मतिराम, पदमाकर इत्यादि सभी ने ऐसी नायिकाओं के वियोग श्रृंगार का वर्णन किया है। इस सन्दर्भ में देव ने नायिका के मानसिक अवसाद का अत्यन्त बारीकी से चित्रण किया है –

साथ में राखिये नाथ उन्हें,
हम हाथ में चाहती चार चुरी है।

इस दोहे में कितना दैन्य, विषाद और विवशता भरी हुई है इन कवियों ने वियोग वर्णन में परम्परागत रूप में ऋतु वर्णन भी किया है। वस्तुतः इन सौन्दर्यापासक प्रेमी कवियों का श्रृंगार वर्णन अत्यन्त मनोरम है जिसके लिए आलोचना का शिकार बनते हुए भी रीतिकाल में इन कवियों का स्थान अमर है।

3. आलंकारिकता – रीतिकाल काव्यशास्त्रियों ने अपने अलंकार शास्त्रों में हिन्दी कविता में प्रयुक्त सभी अलंकारों का विवेचन किया है और उनके उदाहरण भी दिए हैं किन्तु प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों में उन सब अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है। सामान्यतः अनुप्रास, यमक, श्लेष, रूपक, उपमा आदि अलंकारों से अपनी कविता को सजाने की प्रवृत्ति मिलती है। वीर और श्रृंगार के प्रसंगों में अतिशयोक्ति अलंकार भी प्रयुक्त हुआ है।

प्रदर्शन, चमत्कार और रसिकता–प्रधान युग में इस प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक भी था। वैसे तो साहित्य में जनव्यवहृत भाषा की अपेक्षा प्रभावाष्णुता तथा ग्रहणशील ता की मात्रा अधिक होती है, किन्तु, उक्ति चमत्कार के द्वारा पाठक और श्रोता के मन को आकृष्ट कर लेना इस युग के कवियों का लक्ष्य और सफलता का मापदंड बन गया था। एक तो उस समय का विलासी राजदरबारी वातावरण था, दूसरा जन–सामान्य की मनोवृत्त भी कुछ इस प्रकार की बन चुकी थी कि राजदरबारी कवि को अपने काव्य को कृत्रिम भड़कीले रंगों में रंगना पड़ा। इस आलंकारिता का एक अन्य कारण था अलंकार शास्त्र के अनुसार अपनी कविता–कामिनी को सांचों में ढालना। बहुत सारे कवियों ने अलंकारों के लक्षण और उदाहरण रचे। परन्तु जिन्होंने केवल उदाहरण रचे, उनके मन में भी अलंकारों के लक्षण और स्वरूप काम कर रहे थे। अलंकारशास्त्र के ज्ञान के बिना उस समय के कवि को सम्मान मिलना कठिन था, इसलिए आलंकारिकता

इस युग में खूब फलीफूली और यहां तक कि अलंकार साधन से साध्य बन गए और कविता–कामिनी की शोभा बढ़ाने की अपेक्षा उसके सौन्दर्य के विघातक बन गए। उसके फलस्वरूप काव्य का आंतरिक पक्ष निर्बल पड़ गया।

काव्य में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का विधान, भावप्रेषणीयता और गहनता तथा तरलता लाने के लिए जरूरी हुआ करता है, किन्तु इन दोनों का रम्यविधान वही कवि कर सकता है, जिसे जीवन और जगत् का विस्तृत अनुभव हो। किन्तु सीमित कठघरे में बन्द रीतिकालीन कवि के पास यह वस्तु थी ही कब। वह तो पिटी राह का राही था। वह संस्कृत के अलंकार शास्त्र के रूढ़िगत उपमानों को लेकर उनका ही पिष्ट–पेषण करता रहा। इस सम्बन्ध में उसने किसी नवीन मौलिक उद्भावना से काम नहीं लिया। परिणामतः उसके नख–शिख वर्णन रूढ़िबद्ध और अवैयक्तिक ही बने रहे। रूप–सादृश्य–मूलक अप्रस्तुत विधान की अपेक्षा धर्म–सादृश्य विधान सूक्ष्मतर होता है। रीतिबद्ध कवियों में इस प्रकार के अप्रस्तुतों के विधान की कमी है। घनानन्द में भले ही इस विधान की प्रचुरता है। रीतिबद्ध कवियों में देव ने धर्म–सादृश्य मूलक विधान का अधिक प्रयोग किया है। प्रभाव सादृश्य का प्रयोग रीति साहित्य में अत्यन्त विरल है क्योंकि इसमें धर्म सादृश्य की अपेक्षा और भी अधिक सूक्ष्मता वांछनीय होती है। संभावनामूलक उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग इस काल के कवि ने खूब किया है। इसका कारण यह है कि इसमें कल्पना की उड़ान और चमत्कार–प्रदर्शन की काफी छूट रहती है। चमत्कार प्रिय होने के नाते यह अलंकार रीति कवि को खूब रचा। चमत्कारमूलक अलंकारों में से श्लेष, यमक और अनुप्रास का अधिक प्रयोग हुआ। बिहारी ने ऐसे चमत्कारमूलक अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है, जिन्हें देखकर पाठक आश्चर्यचकित होकर दाद देने पर भी कभी–कभी बाध्य हो जाता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि कोरे शाब्दिक चमत्कार प्रदर्शन में रसोद्रेक की क्षमता बहुत कुछ समाप्त सी हो जाती है। प्रभावउत्पादन के लिए यदि सीमा के अन्तर्गत अतिशयमूलक अलंकारों का प्रयोग किया जाए तो निश्चित रूप से काव्य सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है, किन्तु जब कवि सीमा का अतिक्रमण करके दूर की कौड़ी पकड़ने लगता है तो वहां हास्यास्पदता आ जाती है। बिहारी और केशव ने चमत्कार की अतिस्पृहा से ऐसे ऊहात्मक प्रयोग किए है कि शोभासृष्टि के स्थान पर अशोभनता आने लगी है। शुक्ल जी ने कदाचित् बिहारी की इसी अतिरंजना को देखकर उसकी सांसों के हिंडोले में झूलने वाली नायिका को घड़ी के पैंडुलम की उपमा दे दी। केशव तो अलंकारों के मोह में इतने ग्रस्त थे कि उन्होंने रामचन्द्र को उल्लू की उपमा दे डाली और ग्रामीण बालाओं से श्लेष अलंकार में वार्तालाप कराने लगे। इस रीतिकालीन अलंकारिकता के विवेचन के पश्चात हम कह सकते हैं कि प्रायः उन कवियों ने परम्परा–मुक्त अलंकारों का प्रयोग किया है। इससे काव्य–सौन्दर्य में कोई विशेष अभिवृद्धि नहीं हुई। निःसंदेह कहीं–कहीं तो अलंकारों से बोझिल पंक्तियां भी मिलती हैं, परन्तु कहीं–कहीं अलंकारों के रूप में सुन्दर अप्रस्तुत–विधान की योजना भी की गई है। जहां कवि एकमात्र अलंकार के चमत्कार के पीछे दौड़ा है वहां तो काव्य–रूप की विकृति हो गई है। अन्ततः अधिकांश प्रसंगों में अलंकार अनुभूति को तीव्र करने के लिए आये हैं। प्रतिनिधि रीति काव्यों में बिहारी सतसई को छोड़कर शेष में चमत्कार–प्रदर्शन की प्रवृत्ति की बहुलता नहीं मिलेगी।

4. भक्ति भावना – रीतिकाल का अधिकांश काव्य शृंगारिक है। प्रमुख प्रवृत्ति शृंगारिकता रहते हुए भी इस काल के कवियों ने अपने–अपने इष्ट देव के प्रति भक्ति भावना को व्यक्त किया है। इसके साथ ही रीतिकाल का भक्ति काव्य विविधतामय है। श्री कृष्ण की बाल और किशोर लीलाओं से अधिकांश रीतिकालीन भक्त कवि मुग्ध हैं। गुजरात से लेकर असम तक और पंजाब से लेकर हैदराबाद तक कृष्ण कथा काव्य की प्रेरक रही। इसका मुख्य केन्द्र वृंदावन रहा। वैष्णव धर्म की दो पीठ रही – कृष्ण भक्ति के लिए वृंदावन और रामभक्ति के लिए अयोध्या। वृंदावन में नागरीदास और घनानंद जैसे भक्त कवियों ने काव्य रचे। इसके अतिरिक्त रीतिकाल में अन्य भक्ति सम्बन्धी सूक्तियां भी यत्र–तत्र बिखरी हुई मिल जाती हैं। परन्तु इनके आधार पर रीति कवि को न तो अनन्य भक्त कह सकते हैं और न उसे राजनीति

निष्णात। भक्ति के बारे में उसने सुकविताई के प्रख्यापन की बात सोची थी इस बात का निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट संकेत है–

रीझि है सुकवि जो तो जानो कविताई,
न तो राधिका–सुमिरन को बहानो है।।

राम–सीता अथवा राधा–कृष्ण के नामोल्लेख से रीति कवि को भक्त परम्परा में बिठाना नितांत भ्रांत होगा। रीतिकालीन कवि का मुख्य प्रयोजन था किसी न किसी आश्रयदाता या रसिक को रिझाना। उनके रीझने पर ही कवि अपनी रचना को सफल काव्य मानने को तैयार है नहीं तो अगर वह न रीझे तो बाद में वह सन्तोष कर लेगा कि कविता न सही परन्तु इस बहाने से राधा–कृष्ण का सुमिरन तो हो गया। इसी कारण कृष्ण भक्त सखी संप्रदाय की नकल में तथा अयोध्या के राम रसिकों द्वारा लिखे गये कुछ काव्य लोकप्रिय नहीं हो पाये क्योंकि इनमें कृष्ण और राम का मर्यादित और पारम्परिक रूप छिछोरे और अश्लील चित्रण पर उतर आया। इसके बावजूद इस काल के भी कवियों ने श्रीराम से लेकर कृष्ण, शिव, गंगा, दुर्गा और गणेश इत्यादि देवी–देवताओं की स्तुति में कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। बिहारी यद्यपि शृंगारी कवि हैं परन्तु उनके कुछ दोहे निश्चित रूप से भक्ति–भावना के ही है यथा–

कोऊ कोटिक संग्रहो कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा विपति विदारनहार।।

भूषण तथा गुरु गोविंद सिंह ने यद्यपि रीतिकाल में वीर रस की रचनाएं रची परन्तु भक्ति भावना के प्रति भी वे सजग रहे। भूषण ने गणपति गणेश के प्रति अपनी भावना व्यंजित की तो गुरु गोविन्द सिंह ने भगवान के भजन की महिमा का वर्णन करते हुए कहा कि तीर्थ स्थान, संयम का पालन और शास्त्र आदि पढ़ना तब तक व्यर्थ है जब तक सच्चे मन से भगवान की भक्ति नहीं की जाती–

श्री भगवान भजे बिनु भूपति एक रत्त बिनु एक न लेखे।

रीतिकालीन भक्ति के संबन्ध में डॉ. नगेन्द्र के विचार विशेष दृष्टव्य हैं–''यह भक्ति भी उनकी शृंगारकिता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा–कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मधीरू मन को आश्वासन देता होगा। इसी प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक और सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण–भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी तरह उसका आंचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति भावना से हीन नहीं है–हो भी नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यक ता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए उसके विलासजर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेद करते। इसलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक–नायिका के लिए बार–बार हरि–हरि और राधिका शब्दों का प्रयोग किया है।

सच तो यह है कि नीति और भक्ति उनके जीवन के अवसान और थकान की द्योतक है, राग की अतिषयता से ऊबकर मनुष्य भक्ति और वैराग्य की साधना करता है। रीतिकाव्यों के रचयिता इस बात के अपवाद नहीं थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रीतिकाल में रचित रीति–आश्रित काव्यों में यत्र–तत्र उपलब्ध भक्ति के कविता खंडों में उसके किसी उदात्त रूप की कल्पना नहीं की गई है किन्तु आधुनिक अनुसंधानों से प्रकाश में आये उत्तर मध्य काल में रचित शुद्ध भक्ति संवलित असंख्य ग्रन्थओं से यह स्पष्ट प्रकट है कि उक्त काल में भक्ति की धारा इतनी क्षीण नहीं थी जितनी कि प्रायः उसे समझा जाता है। निःसंदेह देव, मतिराम तथा बिहारी आदि रीति कवियों के भक्ति

संबन्धी छन्दों पर ''राधा कन्हाई सुमिरन को बहानो है'' की उक्ति चरितार्थ होती है किन्तु इसी समय में गुजरात, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा मिथिला आदि में सैंकड़ों भक्त, संत, सूफी तथा जैन कवियों ने शताधिक भक्ति सबन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया जो कि अद्यावधि उपेक्षित रहा है। राम और कृष्ण भक्ति से संबद्ध रचनाओं की प्रक्रिया भक्ति काल तक ही सीमित अथवा अवरुद्ध नहीं हो गई बल्कि यह परम्परा रीतिकाल में भी अखंड रूप से गतिशील रही। इस काल में विशुद्ध रूप से ब्रज भाषा में प्रणीत तथा गुरुमुखी लिपि में लिखित ब्रज भाषा संबन्धी राम–भक्ति काव्यों की संख्या बहुत अधिक है। कृष्ण–भक्ति से सम्बद्ध नाना संप्रदायों–राधा वल्लभ, सखी, निम्बार्क चौतन्य, वल्लभ तथा ललित संप्रदाय के कवियों तथा पंजाब और हरियाणा में गुरुमुखी लिपि में निबद्ध कृष्ण –भक्ति काव्यों की संख्या सौ से भी ऊपर है। इस युग में रचित जैन और सन्त कवियों की रचनाएँ अध्यात्म और भक्ति की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। इनकी संख्या हजार से भी ऊपर चली जाती है। इनमें प्रतिपादित धर्म, नीति, भक्ति और आध्यात्मिकता से जनता के नैतिक स्तर को काफी ऊंचा उठाया गया है। रीतिकाल में उपलब्ध भक्ति काव्य परिमाण और साहित्यकता की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

5. नीति और मनोवैज्ञानिकता – रीतिकालीन काव्य में भक्ति–सम्बन्धी उक्तियों के साथ–साथ नीति सम्बन्धी उक्तियां भी शतक ग्रन्थों में प्राप्त हो जाती हैं। नीति सम्बन्धी उक्तियों के चित्रण में गिरिधर कविराय, वृंद वैताल, घाघ इत्यादि कवि उल्लेखनीय हैं।

रीतिकालीन कवियों के काव्य में जहां तक मनोविज्ञान का अंश है, वे उस पर पूर्ण रूप से खरे उतरे हैं। उन्होंने तत्कालीन वातावरण तथा अपने आश्रयदाताओं की रुचि को मनोवैज्ञानिक ढंग से पहचाना और अधिकांशत उसी के अनुरूप अपना काव्य–वर्णन किया। यह वर्णन कहीं गहरे उतर कर पाठक तथा श्रोता के समक्ष एक साकार चित्र प्रस्तुत कर देने की क्षमता रखता था। ऐसी ही मनोवृति और ऐसे चित्र प्रस्तुत करने में कवियों को अच्छी सफलता मिली है। इसी प्रकार नीतिपरक सूक्तियों और व्यंग्यात्मक अन्योक्तियों के माध्यम से जो कुछ कहने का प्रयास किया गया है, उसमें भी मनोवैज्ञानिकता का अच्छा प्रभाव दृष्टि गोचर होता है।

6. काव्य रूप – रीति कवि के काव्य की सृष्टि का उद्देश्य उस युग के राजाओं और रईसों की रसिकता की वृत्त को संतुष्ट करना था। वह सर्वतः राजदरबारी वातावरण से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में चमत्कार उत्पादनार्थ तथा वाहवाही–प्राप्ति के लिए मुक्तक काव्य शैली उसके अधिक अनुकूल पड़ी। यह समय प्रबन्ध काव्य निर्माण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त था। जिन राजदरबारों में कविपुंगवों के दंगल लगते हों और जहां पर एक–दूसरे से बाजी मार जाने की होड़ चलती हो, वहां प्रबन्ध काव्य का प्रश्न कहीं नहीं उठता और फिर इस दिशा में जो थोड़ा बहुत साहस किया भी गया हो तो वह विशेष फलीभूत भी नहीं हुआ। प्रबन्ध काव्यों के लिए निरन्तर एकरसता और धैर्य की आवश्यक ता होती है, ये दोनों वस्तुएं न तो उस समय के कवि के पास थी और न ही श्रोता के पास।

हिन्दी–साहित्य के इतिहास में मुक्तक के संबन्ध में आचार्य शुक्ल लिखते हैं – ''मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने आपको भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें रस के छींटें पड़ते हैं जिनसे हृदयकलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा–समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, कोई एक रमणीय खण्ड दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्र–मुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं या व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।'' उपर्युक्त कथन से स्पष्ट ध्वनित है कि आचार्य

शुक्ल ने रसमग्नता की दिशा में मुक्तकों को उपेक्षणीय दृष्टि से देखा है। परन्तु स्मरण रखना होगा कि भले ही मुक्तकों में अविच्छिन्न रसधारा के दर्शन नहीं होते किन्तु उनमें गहराई अवश्य पाई जाती है। संस्कृत साहित्य में कवि अमरूक के एक–एक मुक्तक पद्य को शत–शत प्रबन्ध काव्यों की क्षमता रखने वाला कहा गया है। हिन्दी के विद्यापति, सूरदास, घनानन्द के मुक्तक पद्यों के संबन्ध में भी उक्त तथ्य पूर्णतः चरितार्थ होता है। बिहारी के कुछ दोहों में पूरी गहराई और रसोद्रेक क्षमता के दर्शन होते हैं। देव में भी रसोद्‌बोधन पर्याप्त मात्रा में है। रीतिकाव्य के संबन्ध में समष्टि रूप से यह कहा जा सकता है कि उनकी मुख्य विशेषता रसोद्रेक में न होकर चमत्कार–प्रदर्शन में है।

रीति काव्य में, अधिकांशतः कवित्त, सवैया और दोहा जैसे छन्दों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि बीच–बीच में छप्पय, बरवै, हरिपद आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है किन्तु रीति–कवियों की प्रवृत्ति अधिकतर दोहा, सवैया और कवित्त में ही रमी है। कारण कि ये छन्द ब्रजभाषा की प्रकृति के विशेष अनुकूल पड़ते थे और जिन भावों का वर्णन इनमें किया उनमें भी ये उपयुक्त पड़ते थे। अवधी भाषा का बरवै छन्द भी लालित्य में इनके समान बैठता है अतः उसका प्रयोग भी इस काल में किया गया। रीतिकालीन कवि चमत्कारप्रिय थे। इस चमत्कार प्रदर्शन के लिए जिन शब्दालंकारों – यमक, अनुप्रास आदि का आश्रय लिया है तथा अर्थालंकारों को ग्रहण किया है, उनके द्योतन के लिए भी उपर्युक्त छन्द अनुकूल पड़ते थे। दूसरे रीति कवि को ये छन्द अपने पूर्ववर्ती साहित्य से परम्परारूप में भी प्राप्त हुए थे फिर इन्हें निज युगानुकूल पाकर उन लोगों का सारा ध्यान इन्हीं छन्दों पर ही केन्द्रित हो गया। रीतिकाल में शृंगार रस का अधिक उपयोग हुआ है। ये छन्द उसकी प्रकृति के भी सर्वथा अनुकूल थे। नीति और सूक्तियों को भी दोहा जैसे छोटे छन्द से सफलतापूर्वक लिखा जा सकता है। कवित्त और सैवया, वीर रस की अभिव्यक्ति के लिए बड़े सफल सिद्ध हुए।

वैसे तो इस युग में कुछ प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये परन्तु वे मुक्तक काव्यों की अजस्रधारा के सामने विशेष प्रसिद्धि को प्राप्त नहीं हो सके।

7. ब्रजभाषा की प्रधानता – ब्रजभाषा इस युग की प्रमुख साहित्यिक भाषा है। आलंकारिता–प्रधान युग में भाषा की सजीवता और शृंगार के संबन्ध में कवि को विशेष सतर्कता और जागरूकता से काम लेना पड़ता है। भारतीय–साहित्य में लालित्य के क्षेत्र में संस्कृत भाषा के पश्चात ब्रजभाषा का स्थान आता है। एक तो यह मध्यदेशीय भाषा थी, दूसरी यह प्रकृति से मधुर थी और साथ ही कोमल रसों की सुन्दर अभिव्यक्ति की इसमें अपार क्षमता थी। यही कारण है कि रामचरित मानस तथा पद्‌मावत जैसे अवधी में लिखे हुए काव्यों के होने पर भी रीति–कवि ब्रजभाषा के प्रति आकर्षित हुआ, उसे सजाया, संवारा और निखारा। डॉ. नगेन्द्र इस काल के कवि की भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं। ''भाषा के प्रयोग में इन कवियों ने एक खास नाजुक मिजाजी बरती है। इनके काव्य में किसी भी ऐसे शब्द की गुंजाइश नहीं, जिसमें माधुर्य नहीं है, जो माधुर्य गुण के अनुकूल न हो। अक्षरों के गुम्फन में इन्होंने कभी भी त्रुटि नहीं की। संगीत के रेशमी तारों में इनके शब्द मणिक्य मोती की तरह गुंथे हुए हैं। नागरिकता और मसृणता इस काल की भाषा के मुख्य तत्त्व हैं। ऐसी रंगाज्जवल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है।''

वर्ण–मैत्री, अनुप्रासत्व, ध्वन्यात्मकता, शब्द गति, शब्द–शोध न, अनेकार्थता, व्यंग्य आदि की विशेषता इस काव्य में प्रचुर मात्रा में मिलती है। यह काल ब्रजभाषा की चरमोन्नति का काल है। इस समय ब्रजभाषा में विशेष निखार, माधुर्य और प्रांजलता का समावेश हुआ और भाषा में इतनी प्रौढ़ता आई कि भारतेन्दु–काल तक कविता–क्षेत्र में इनका एकमात्र आधिपत्य रहा और आगे के समय में भी इसके प्रति मोह बना रहा। यह ब्रजभाषा के माधुर्य का परिणाम था कि हिन्दी में मुसलमान कवियों ने भी इसी भाषा का प्रयोग किया और बंगाल के कुछ वैष्णव भक्त–कवियों ने भी इसका प्रयोग किया। दास ने तो ब्रजभाषा की सीमा ही बढ़ा दी। वे केवल ब्रजमंडल में बोली जाने वाली भाषा को ही ब्रजभाषा

कहने को तैयार नहीं वरन् ब्रजभाषा तो मधुर रूप में कवियों की रचनाओं में ही मिलती है परिणामतः उसमें अवधी, राजस्थानी और बुन्देलखंडी के शब्दों का भी समावेश हुआ। पूर्वी और छत्तसगढी आदि अनेक बोलियां के कोमल तथा व्यंजक शब्द इनमें समाविष्ट हुए। अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण इसने अरबी और फारसी जैसी विदेशी भाषाओं ओं से शब्दों का चयन किया। एक ओर तो ब्रजभाषा में बोलियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया चलती रही दूसरी ओर कवियों ने उनके शुद्ध व्याकरण—सम्मत रूप के प्रयोग पर विशेष ध्यान नहीं दिया बल्कि स्वेच्छानुसार उसे तोड़ा—मरोड़ा भी। ऐसे कवियों में भूषण और देव का नाम खास तौर पर बदनाम है। भूषण ने ब्रजभाषा के शब्दों के साथ—साथ अरबी, फारसी के शब्दों की तोड़—मरोड़ की है। देव ने तुक, अनुप्रास तथा यमक के आग्रह से शब्दों की तोड़—मरोड़ में मनमाना व्यवहार किया है। पद्माकर की भाषा भी उक्त दोष से रहित नहीं है। बिहारी की भाषा में अवधी, बुन्देलखण्डी, राजस्थानी आदि प्रादेशिक भाषा ओं की गहरी छाप है। रीतिबद्ध कवियों की भाषा में कारक चिन्हों की गड़बड़, लिंग—सम्बन्धी दोष, क्रिया रूपों की अनेकरूपता, पद—विन्यासगत शिथिलता आदि के दोष देखे जा सकते हैं। हां इन कवियों में बिहारी की कविता भाषा अपने कतिपय दोषों के बावजूद भी टकसाली भाषा का नमूना है। हालांकि रीतिकाल तक पहुंचते—पहुंचते ब्रजभाषा में च्युत संस्कृति आदि दोशों का सर्वथा परिहार हो जाना चाहिए था पर वह हुआ नहीं, यह एक आश्चर्य की बात है और कदाचित् यही कारण है कि ब्रजभाषा में गद्य—लेखन की क्षमता नहीं आ सकी। इस काल की भाषा की इस त्रुटि को लक्ष्य रखकर आचार्य हजारी प्रसाद ने ठीक ही कहा—''भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणों का इस काल में खूब मार्जन हुआ परन्तु उसे योग्य बनाने का यत्न किसी ने नहीं किया कि वह गम्भीर विचार—प्रणाली का उपयुक्त वाहन बन सके।''

परन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं कि इस काल में परिनिष्ठित भाषा लिखने वाले थे ही नहीं। रसखान और घनानन्द की भाषा को सब लोगों ने परिनिष्ठित ब्रजभाषा माना है। बिहारी की भाषा अपनी त्रुटियों के बावजूद भी टकसाली कही जाएगी। भाषा के प्रयोग के क्षेत्र में कहीं—कहीं तो इन्होंने तुलसीदास को भी पीछे छोड़ दिया है। कोमल—कांत पद्मावली की दृष्टि से देव और पद्माकर ने तुलसी को पीछे छोड दिया है। भाषा की जो मसृणता और लचकीलापन देव और पद्माकर में दिखाई देता है वह तुलसी में नहीं। तुलसी का कवित्व बहुत कुछ वर्णनात्मक होकर रह गया है। जबकि देव और पद्माकर में वातावरण—निर्माण और मूर्ति—योजना की गहरी क्षमता दिखाई देती है।

रीति मुक्त कवियों—बोधा और घनानन्द आदि की भाषा के विषय में पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के विचार अवलोकनीय हैं—''घनानन्द और ठाकुर ने ब्रजभाषा को बहुत शक्ति दी है। वागयोग का ऐसा विधान शब्दों का मनमाना और निरर्थक प्रयोग करने वालों में कही लोकोक्तियों का जैसा विनियोग ठाकुर ने किया है हिन्दी के किसी दूसरे कवि ने नहीं। घनानन्द की रचना में तो भाषा स्थान—स्थान पर अर्थ की संपित्त से समृद्ध होकर सामने आती है। वाक्य ध्वनि और पदध्वनि तो दूर रही पद्यांष—ध्वनि से भी जगह—जगह काम लिया है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

''मेरी मनोरथ हु वहिये अरु है मो मनोरथ पूरनकारी''

तात्पर्य यह है कि रीतिमुक्त कवि भाषा के प्रयोग में पूर्णतः सक्षम थे किन्तु अधिकांश रीति—काव्यों की भाषा ने शुद्धता की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया।

8. लक्षण ग्रन्थों का निर्माण — रीतिकाल में कवि—कर्म और आचार्य कर्म एक साथ चलते रहे। रीतिमुक्त कवियों को छोड़कर प्रायः इस काल के सभी कवियों ने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया है। रीतिबद्ध कवियों ने तो सीधे रूप में लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया। रीतिसिद्ध कवियों ने केवल उदाहरण जुटाये, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से काव्यांग—संबन्धी किसी लक्षण को नहीं लिखा पर उनके सभी उदाहरणों की पृष्ठभूमि में रीति शास्त्र काम कर रहा है। इस प्रसंग में इतना स्मरण रखना होगा कि ये दोनों कार्य—कवि—कर्म और आचार्य—कर्म—परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। कवि के लिए

माता का सा भावप्रवण हृदय अपेक्षित होता है। आचार्य–कर्म की सफलता के लिए प्रौढ़ मस्तिष्क और सर्वांग–पूर्ण संतुलित विवेचन–शक्ति की अपेक्षा हुआ करती है। रीतियुगीन साहित्यकार सर्वप्रथम भावुक हृदय वाला एक कोमल भावनाओं का चितेरा है, आचार्य–कर्म को तो उसे परम्परावश निभाना पड़ा, उस युग में कुछ ऐसी परिपाटी चल रही थी कि कोई भी कवि रीतिशास्त्र के ज्ञान के बिना राजदरबार में आदर का पात्र नहीं बन सकता था। फलतः सभी कवियों ने पांडित्य प्रदर्शन किया परन्तु लक्षण–ग्रन्थों के निर्माण में इन लोगों की सफलता संदिग्ध है। आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करके ठीक ही कहा है कि इन रीतिकारों के रीति–ग्रन्थों पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों का ज्ञान अधूरा समझना होगा क्योंकि इन्हें स्वयं भी रीतिशास्त्र का परिपक्व ज्ञान नहीं था। निःसंदेह इन रीति ग्रन्थों में काव्यांगों का कोई विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया बल्कि कई स्थलों पर तो भद्दी भूलें भी की हैं। प्रौढ़ विवेचन तो दूर रहा, कुछ ने तो संस्कृत के आधारभूत शास्त्रीय ग्रन्थों का अनुवाद भी सम्यक् रूप से नहीं किया। वस्तुतः प्रौढ़ विवेचन तभी संभव होता है जबकि काव्य के विभिन्न संप्रदायों की उस क्षेत्र में स्थापना हो चुकी हो। हिन्दी के रीति कवियों के निर्माण के समय हिन्दी में ऐसा नहीं बन पड़ा था। दूसरे, रीतियुग के आचार्य ने या तो ह्रासोन्मुख संस्कृत साहित्य के उस समय के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों का आश्रय लिया जबकि काव्य के अंग और अंगों का भेद भी स्पष्ट नहीं हो पाया था। उन्होंने मम्मट या ध्वनिकार के ग्रन्थों को अपने आश्रय रूप में ग्रहण नहीं किया। यदि ग्रहण किया भी तो बहुत थोड़े आचार्यों ने। दूसरे उस रसिक प्रधान युग के व्यक्ति की काव्य संबंधी प्रौढ़ ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अभिरुचि भी कहाँ थी? उन्हें तो रीतिशास्त्र का प्राम्भिक ज्ञान अपेक्षित था और उसकी पूर्ति इन लक्षणग्रन्थों से निश्चित रूप में हुई। डॉ. भगीरथ के शब्दों में, ''वास्तविक तथ्य तो यह है कि इन हिन्दी लक्षणकारों या रीति–ग्रन्थकारों के सामने कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण नहीं था, वरन कवियों और साहित्य रसिकों को काव्यशास्त्र के विषयों से परिचित करना था। संस्कृत के आचार्यों की परिपाटी यह नहीं बन पाई थी कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खण्डन या मण्डन करके किसी सिद्धान्त या काव्यादर्ष को आगे बढ़ाते। अतः यह तथ्य है कि हिन्दी काव्यशास्त्र या रीति–ग्रन्थों के द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र का कोई महत्त्व पूर्ण विकास नहीं हो पाया। फिर भी काव्य–क्षेत्र में और हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति यों के अध्ययन में इस प्रकार के काव्य का महत्त्व पूर्ण स्थान है। इस परम्परा को लेकर लिखे गये ग्रन्थों की संख्या भी बहुत बड़ी है।''

9. वीररस की कविता – वैसे रीति युग प्रायः शांति और समृद्धि का समय है किन्तु औरंगजेब के क्रूर आतंकमय शासन ने भारतीय प्रशांत वातावरण को विक्षुब्ध कर दिया। अब पूर्ववर्ती सम्राटों की उदारता की नीति का स्थान औरंगजेब की कट्टर असहिष्णुता की नीति ने लिया। उसने हिन्दू–जनता पर अकथनीय अत्याचार किये। फलतः चिरकाल से प्रसुप्त वीरात्मक प्रवृत्ति यां पुनः जाग उठीं। दक्षिण में महाराज शिवाजी, पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह, राजस्थान में महाराणा राजसिंह और जसवंत सिंह का सेनापति दुर्गादास तथा मध्य प्रदेश में छत्रसाल आदि वीर स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए औरंगजेब के साथ लोहा लेने को उठ खड़े हुए। अपने आश्रयदाताओं की धमनियों में अपने आततायी के विरुद्ध खड़े होकर सबल टक्कर लेने के लिए नवीन रक्त का संचार करने के लिए कवियों ने भी वीर रसात्मक कविताओं की रचना की। इस प्रकार श्रृंगार की प्रधान धारा के साथ क्षीण रूप में वीररस की धारा भी इस काल में बहती रही। यह इन दो विरोधी रसों का एक विलक्षण सम्मिश्रण है। भूषण, सूदन, पद्माकर आदि कवियों ने बड़ी ओजस्विनी भाषा में वीररसात्मक काव्य की सृष्टि की। इन वीर रस के कवियों में राष्ट्रीय ता का स्वर प्रधान है। कुछ लोग इन कवियों की राष्ट्रीय ता पर आपित्त उठाया करते हैं। उनका कहना है कि इनमें जातीयता है। अस्तु, इस संबन्ध में हमें कहना है कि प्रत्येक युग के राष्ट्रीय ता के मापदण्ड भिन्न–भिन्न हुआ करते हैं। किसी युग की राष्ट्रीय ता का निर्धारण करते

समय उस युग की परिस्थितियों को भुला देना ज्यादा संगत है।

आधुनिक अनुसंधानों के फलस्वरूप वीर रस से ओत प्रोत शताधिक रचनायें प्रकाश में आई हैं। ये रचनायें राजस्थान, पंजाब, हरियाणा तथा अन्य कई प्रदेशों में निर्मित हुई हैं। इस रचना बाहुल्य को देखते हुए लगता है कि उत्तर मध्यवर्ती काल रीतिकाल में जहां श्रृंगार रस का चित्रण प्रधान विषय बना रहा वहां वीर रस का निरूपण भी उससे गौण नहीं था। डॉ. टीकमसिंह तोमर ने अपने शोध प्रबन्ध 'हिन्दी वीर–काव्य' (1700–1900) में 90 वीर काव्यों की सूची प्रस्तुत की है। जिनका रचना–काल रीतिकाल में पड़ता है। इन रचनाओं में वीर रस के सभी भेदों–युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर का सफलतापूर्वक अंकन किया गया है। इसके अतिरिक्त रासो रयस अथवा रास नामधारी ग्रन्थ तथा बात, बेल और वचनिका नामधारी रचनाओं का पता चला है जिनमें वीररस का कलात्मक चित्रण उपलब्ध होता है। ये रचनायें प्रायः राजाश्रय में लिखी गई हैं। इनमें आश्रयदाता के वंश, उन देशों में वीरता तथा दानशीलता की गौरव गाथाओं के अतिरंजनापूर्ण वर्णन हैं। हरियाणा और पंजाब में उपलब्ध वीर काव्य गुरुमुखी लिपि में निबद्ध थे अतः बहुत समय तक विद्वानों का ध्यान इन महत्त्व पूर्ण वीर–गाथाओं की ओर नहीं गया। डॉ. जय भगवान गोयल ने ऐसे 25 वीर काव्यों की सूचना दी है। उनका विश्वास है कि विश्य के अनुसंधानों द्वारा ऐसे अनेक ग्रन्थों की प्रकाश में आने की संभावना है। इन रचनाओं की भाषा ब्रज है। इनमें से गुरू गोविन्दसिंह, सन्तोश सिंह, संतरेण तथा सुक्खा सिंह की–वीर रचनायें वीररस निरूपण की दृष्टि से उत्त म निदर्शन कही जा सकती है। इनमें तत्कालीन राजनीतिक चेतना का युगबोध पर्याप्त मात्रा में है। ये वीर काव्य रीतिकालीन परम्परागत श्रृंगारिकता के प्रभाव से मुक्त है। रीतिकालीन वीर–काव्यों का अध्ययन एक विशेष दृष्टिकोण से अपेक्षित है।

10. सूफी काव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्य – रीति काल में दो प्रकार के प्रेम काव्यों की रचना हुई। कुछ काव्य आध्यात्मिक प्रेम सिद्धान्त निरूपक हैं और कुछ लौकिक प्रेम परक। पहले प्रकार के सूफी काव्यों का निर्माण मुसलमान सूफी कवियों तथा हिन्दू सन्त कवियों ने किया। मुसलमान सूफी कवियों में कासिम शाह, नूर मुहम्मद और शेख निसार विशेष उल्लेखनीय हैं। हिन्दू कवियों में सूरदास और दुखहरनदास अधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि सूफी काव्यों का पूर्ण उत्कर्ष भक्ति काल में दृष्टि गोचर होता है किन्तु यह काव्यधारा उन्नीसवीं शती तक निरन्तर प्रवाहित होती रही।

लौकिक प्रेम काव्यों के लेखकों में बोधा, चतुर्भुजदास, आलम आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

11. आलम्बन रूप में प्रकृति–चित्रण – रीति काव्य में प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप में हुआ। प्रकृति का आश्रय रूप अथवा स्वतंत्र रूप में कम चित्रण हुआ है और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि रीति–कवि दरबारी कवि या उसके पास प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में विचरने का अवकाष भी कब था अतः उसके काव्य में वाल्मीकी, कालिदास का–सा प्रकृति का बिम्बग्राही रूप नहीं मिलता है। प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण भी परम्परा–मुक्त है। प्रकृति का चित्रण नायक और नायिका की मानसिक दशा के अनुकूल ही किया गया है। संयोग में उसका मनोमुग्धकारी उत्फुल्ल रूप है और वियोग में विदग्धकारी रूप। प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण षट्ऋतु और बारहमासे की चित्रण–पद्धति पर हुआ है। संयोग–पक्ष में पावस का उतना प्रभावोत्पादक वर्णन नहीं, जितना इससे संबद्ध हिंडोले और तीजत्यौहार का। पावस में प्रेमी–प्रेमिका के मिलन–अवसर पर कवि का मन खूब रमता हुआ–सा दिखाई देता है। रीति–कवि की नायिका को वियोगकाल में षुभ्र चन्द्रमा कसाई का काम करता दिखाई देता है। पपीहे की पी–पी प्राण लेने लगती है। उसके लिए चन्दन और चाँदनी आग बरसाते हैं। इन रीति कवियों में सेनापति को प्रकृति चित्रण में काफी सफलता मिली है। वैसे रीतिकालीन कवि प्रायः प्रकृति के प्रति तटस्थ थे। जहाँ संस्कृति में प्रकृति की एक–एक अदा पर संस्कृ त कवि का मन थिरकने लगता है, जहां आषाढ़ का प्रथम दिन उसे पूरा काव्य निर्माण की प्रेरणा देता है, वहां हिन्दी में रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी ने एक–एक दोहे में एक–एक वस्तु का वर्णन करके छुट्टी पा ली। रीतिकाव्य

में प्रकृति के संष्लिश्ट चित्र नहीं मिलते हैं। कहीं–कहीं तो इन लोगों ने इस प्रसंग में अपने अज्ञान का भी परिचय दिया है। प्रकृति चित्रण संबन्धी इनके दृष्टिकोण का परिचय केवल निम्न शब्दों में भली भांति मिल जाता है :–

''ताते मुख मुखै सखि कमलौ न चन्द री।''

12. अभिव्यजंना–पद्धति – किसी भी युग के साहित्यकार की अभिव्यंजना पद्धति या प्रणाली उसकी वैयक्तिता का प्रतीक होती है जो कि उसके साहित्य में सहज रूप में समाविष्ट हो जाती है। कवि अनुभूतियों को मूर्त रूप देने के लिए विशिष्ट शब्दों, मुहावरों, विशेष णों तथा लोकोक्तियों का चयन अपनी वैयक्तिक अभिरुचियों के अनुसार किया करता है। अतः रीति–काव्यों की शैली गत विशेषताओं के उद्घाटन के लिए हम उनके द्वारा गृहीत शब्दों, विशेष णों, मुहावरों तथा लोकोक्तियों का भी विश्लेषण करेंगे।

मानवजीवन के समान शब्दों का जीवन भी नाना विलक्षणताओं से परिपूर्ण होता है। कुछ शब्द किसी विशिष्ट युग में नवीन अर्थवत्त ग्रहण कर लेते हैं। भक्तिकाल में राधा और कृष्ण शब्दों में जो सात्विकता लिपटी हुई थी उसका रीतिकाल में सर्वथा परिहार हो गया और वे साधारण नायक–नायिका नत्थू और कल्लू के अर्थों में प्रयुक्त होने लगे। यही नहीं, रीतिकाल के अन्तिम चरण में कन्हैया और सांवलिया में नई अर्थवेत्त ही नहीं भरी गई वरन् व्यावहारिक जीवन में भी लोग कन्हैया और सांवलियां का नाटक खेलने लगे। रीतिकाल में प्रयुक्त लाल और लला शब्दों का भी हाल समझना चाहिए। कविता में वातावरण–निर्माण के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों का विशेष महत्त्व है। इस अभिप्राय की पूर्ति के लिए रीति कवि ने तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, रणनात्मक, अुकरणात्मक तथा लक्षणात्मक। बिहारी, देव, दास तथा पद्माकर आदि ने इन शब्दों का बहुधा प्रयोग किया है। जैसे–'झांझरिया झनकेंगी खरी'', ''रणत भृंग घंटावली'', ''फहर फहर होत पीतम को पीत तट'' इन शब्दों से उपस्थित किया गया ऐन्द्रिय वातावरण उस काल के उपभोगात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है। रीति कवि द्वारा प्रयुक्त विशेष णों में चित्रोपम सौन्दर्य निहित है।

यह बात हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि रीतिकाल में सामन्ती वातावरण चतुर्दिक् फैला हुआ था। बेषक मुगल शासकों के दरबार में हिन्दी को भी थोड़ा–बहुत संरक्षण मिला हुआ था परन्तु जो प्रश्रय फारसी और उर्दू तथा उनके कवि को मिल रहा था वह हिन्दी कवि को नहीं। फलतः रीति–कवि को उनसे होड़ लेनी थी। कदाचित् यही कारण है कि उसने फारसी कवि जैसी ऊहात्मक पद्धति को अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए अपनाया।

13. नारी चित्रण – हम पहले बता चुके हैं कि मुगल शासन की निरंकुश सत्ता के सम्मुख देशी रजवाड़ों के नरेशों का तेज आहत हो चुका था। मुगल दरबार के प्रचुर विलास का अनुकरण करना ही उनके जीवन का उद्देश्य बन गया था। मानो यह एक मनोवैज्ञानिक रूप से क्षतिपूर्ति थी। राज्याश्रित कवि नारी के कुच–कटाक्ष के महीन से महीन विलासात्मक रंगीले और भड़कीले चित्र उतारकर अपने स्वामी के गहरे मानसिक विशाद को दूर करने में प्रयत्नशील थे। उनके सामने नारी का एक ही रूप था और वह था विलासिनी प्रेमिका का। नारी उनके लिए एकमात्र भोगविलास का उपकरण मात्र थी। नारी के अनेक रूपों गृहिणी, जननी, देवी, भगिनी आदि पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ी। वे नारी शरीर के सौन्दर्य सरोवर में सतह पर ही गोते खाते रह गये। एक साहसी मरजीवा के समान उनकी आत्मा के सौन्दर्य के तल पर नहीं पहुंच सके और यह उनसे सम्भव ही नहीं था, क्योंकि वे कुछ ऐसे वातावरण में चारों और से आबद्ध थे कि वे जीवन को व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देख सके और न वे नारी–जीवन की अनेकरूपता को अवगत कर सके। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में–''रीति काव्य आध्यात्मिक तो है ही नहीं, परन्तु वस्तु रूप में भौतिक भी नहीं–अर्थात् न उसमें आत्मा की अतल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ़ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम स्थल है। जहां सभी प्रकार की दौड़–धूप से श्रान्त होकर मानव नारी की मधुर अंचल–छाया में बैठकर अपने दुःखों और प्रभावों को भूल जाता है। उसका आधारफलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए उसमें स्थान ही नहीं है, उस पर

अंकित जीवन–चित्र भी स्वभावतः एकांगी है।''

इस एकांगी दृष्टिकोण के कारण यह नारीजीवन के सामाजिक महत्त्व, उसके श्रद्धामय रूप और उसकी मातृ–शक्ति को देख नहीं सका। वह केवल तनद्युति का अनुरागी था। और उसका वह अनुराग यहां तक बढ़ चुका था कि वह अपनी आराध्य देवी के भी शारीरिक लावण्य पर ही रीझता रहा है –'तीज तीरथ हरि राधिका तन दुति करु अनुराग'। रीतिकालीन कवि की नारी अपने प्रांगण में लाल के द्वारा उड़ाये हुए पतंग की छाया को चूमती फिरती है और कदाचित् पुत्र की हथेली को इसलिए चूमती है कि उसमें अपने प्रियतम का प्रतिबिम्ब मिलता है, जैसे कि वात्सल्य नाम की वस्तु उसमें रह ही नहीं गई। कभी–कभी वह जारजयोग का स्मरण करती हुई मुस्करा रही है। ऐसे लगता है कि मानो वासना ही उसके जीवन का खाना–पीना, ओढ़ना–बिछौना सब कुछ हो। आचार्य हजारी प्रसाद का रीतिकालीन श्रृंगार भावना में रुग्णभावना बतलाना उपयुक्त ही है।

रीतिबद्ध कवियों के द्वारा तो नारी के सामाजिक जीवन के महत्त्व का उद्घाटन हो ही नहीं पाया, रीतिमुक्त कवियों में भी उसका यह महत्त्व व्यक्त नहीं हो पाया। सभी बंधी–बंधाई लकीर पर उसके अंग–प्रत्यंग की शोभा, हाव–भाव और विलास चेष्टा ओं का वर्णन करते रहे। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद के शब्द विशिष्ट रूप से अवलोकनीय हैं–''यहां नारी कोई व्यक्ति या समाज के संगठन की इकाई नहीं है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बन्धन से यथासम्भव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है। देव ने कहा है

कौन गनै पुर बन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक को चित्त हरै करि प्रीति।।

इससे इतना स्पष्ट है कि नारी की विशेषता इनकी दृष्टि में कुछ नहीं है, यह केवल पुरुष के आकर्षण का केन्द्र भर है। नारी–जीवन के प्रति रीति कवि के इस संकुचित दृष्टिकोण का दायित्व एक तो उस समय के वातावरण पर है और दूसरा है कामशास्त्रीय ग्रन्थों के अभाव पर। नायिका–भेद पर दृष्टि पात करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रीति–कवि ने सर्वत्र रूप के प्रति गहरी आसक्ति प्रदर्शित की है। नायिका होने के लिए किसी स्त्री का सुन्दर होना पहली शर्त है –

मानों रची छवि मूरति मोहिनी,
श्रीधर ऐसी बखानत नायिका।

14. प्रतियोगिता की भावना – रीतिकालीन कवियों में आचार्यत्व और कवित्व की प्रवृत्तियों के साथ–साथ प्रतियोगिता की भावना भी प्रबल रूप से विद्यमान है। वह अपने काव्य–भाषा और सिद्धान्तों के प्रतिपादन से अपने समान धर्मी कवियों से निज उत्कृष्टता की स्थापना के कार्य में व्याकुल हैं। यद्यपि उक्त भावना संस्कृत के कवियों में भी मिलती है किन्तु उसमें अपेक्षाकृत गम्भीरता बनी रही। रीतिकाल में इसका क्रमागत ह्रास होने लगा। इसका कारण कदाचित् बादशाहों के महलों में लगने वाले उर्दू और फारसी के कवियों के दंगल हैं। राज–दरबार में अपनी सर्वात्कृ श्टता की सिद्धि की तीव्र लालसा ने रीतिकाल के आचार्य और कवियों में इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया।

15. पराश्रयिता की भावना – रीतिकालीन कवि और समाज अपेक्षाकृत अधिक पराश्रित हैं। रीति–कवि एवं आचार्य का व्यक्तित्व, आजीविका और भावाभिव्यक्ति के लिए आश्रयदाता की कृपा दृष्टि पर अवलम्बित है। उसके द्वारा किये गये नायिका–भेद तथा उसके विस्तार–प्रसार में उसके निजी स्फुरण की न्यूनता है। उसके नायिका भेद विस्तार के पीछे संस्कृत कवि से बाजी मारने की भावना काम कर रही है। वह अपने साहित्य और काव्यशास्त्रीय ज्ञान के लिए संस्कृत कवियों तथा आचार्यों पर अधिकतर निर्भर रहा है। इस प्रकार रीतिकालीन कवि द्वारा वर्णित समाज तथा

उसके काव्य साहित्य ज्ञान पर पराश्रयिता की स्पष्ट छाप है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि रीतिकाल के कवि ने सब कुछ उधार किया हुआ है या उसका साहित्य विशिष्ट व्यक्तित्व से शून्य है। हां, इस विषय में रीतिकालीन कवि की संस्कृत साहित्य पर अत्यधिक अवलम्बिता अवश्य चिन्त्य है। रीतिकालीन कवि में स्वतन्त्र चिन्तन के प्रति अवज्ञा का यह भाव खटकता अवश्य है।

16. वर्णन शैली तथा रीति कवि का व्यक्तित्व – प्रायः रीति कवि ने अपने काव्य में मध्यकालीन साहित्य की वर्णन शैली का आश्रय लिया है। यह शैली संस्कृत कवि बाण के समय में प्रचलित थी और उसका प्रयोग रीतिकाल तक निरन्तर होता रहा है। संस्कृत के 'अलंकार शेखर' तथा 'श्रृंगार–तिलक' ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' तथा केशव की 'कवि–प्रिया' आदि ग्रन्थ वर्णक शैली के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में कवि के प्रतिपाद्य विषयों का निर्धारण कर दिया गया है। बाद में परिवर्तित परिस्थितियों और आवश्यक तानुसार उक्त शैली के अन्तर्गत नवीन विषयों का भी समावेश कर लिया गया। इस शैली में जंगल, बांग–बगीचों के वर्णन, वृक्षों, पक्षियों की घिसी–पिटी रुचियों, उद्यान, क्रीड़ा, सलिल क्रीड़ा, हाथियों घोड़ों के भेद–प्रभेद तथा उनकी चालों की वर्णन करने की परम्परा थी। बाद में इसमें ज्योतिष, कामशास्त्र पौराणिक विषय तथा पकवानों का भी शनैःशनैः समावेश होता गया। कहने का तात्पर्य यह है कि जो 2 विषय जन रुचि के अधिक निकट पहुंचते गये उन सबका समावेश कवियों ने उक्त शैली के अन्तर्गत कर लिया। हमारा दृढ़ विश्वास है कि अब्दुर्रहमान का 'संदेश रासक', विद्यापति की 'कीर्तिलता', जायसी का 'पद्मावत', केशव की कविप्रिया तथा बिहारी की सतसई वर्णन शैली के अन्तर्गत है। बिहारी सतसई में अनेक स्वादों के भरने की प्रवृत्ति (करी–बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद) उक्त शैली की ज्ञापक है। बिहारी–सतसई में ज्योतिष, पुराण तथा गणित सम्बन्धी उक्तियों के आधार पर बिहारी की उपर्युक्त विषयों में विशेषज्ञा अथवा अपार–पांडित्य की दुहाई देना निरर्थक है। मध्य युग में अनेक विषयों के वर्णन की परम्परा परिनिश्ठत हो चुकी थी और बिहारी आदि ने भी उसी का अनुसरण किया है।

व्यक्तित्व और शैली परस्पर अपरिच्छिन्न वस्तुएं हैं। रीतिकवि के सामन्ती वातावरण में राज–सभा में प्रवेश पाने और राजसम्मान प्राप्त करने के लिए अनेक विषयों की जानकारी का प्रमाण प्रस्तुत करना होता था। निम्नस्थ कथनों में उपर्युक्त तथ्य की सम्यक् परिपुष्टि हो जाती है।

(क) जानत हौ ज्योतिष पुराण और बैद्यक को,
जोरि जोरि आखर कवित्तम को उच्चरौ।
बैठि जानी सभा मांझ राजा को रिझाय जानौ,
अस्त्र बांधि खेत मांझ सत्रु न सौ हौ लरौ।
राग धरि गाऊं और कुदाऊं घोड़ें बाग धरि,
कूप ताल बाबरीन नारन में हौ तरौ।

(ख) विद्या पढ़ेऊ करू संगीता, सामुद्रिक जोतिष गुण गीता।
काव्य कोक आगम हूं बखानहूं घट् राग रागिनि संग गाऊं।

छन्द :– रीतिकालीन मुक्त काव्य में तीन छन्द विशेष रूप से अपनाए गये हैं, दोहा, कवित्त और सवैया। प्रेम, भक्ति, वीर भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग हुआ है। कहीं–कहीं छप्पय, बरवा और हरिपद छंद भी प्रयुक्त हैं। प्रबन्ध काव्यों में इन छन्दों के अतिरिक्त चौपाई छंद का विशेष प्रयोग मिलता है। छंदों सम्बन्धी कुछ लक्षण ग्रन्थ भी इस युग की देन हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रीतिकाल को कथ्य एवं शिल्प के धरातल पर सीमित नहीं माना जा सकता। रीतिकालीन प्रवृतियों की सविस्तार प्रस्तुति से यह स्पष्ट हो चुका है कि शायद ही कोई विषय हो जिसके प्रति इस काल के कवि सचेत न रहे हों। निसन्देह इस काल में प्रमुखता शृंगारिक प्रवृत्ति की थी पर अन्य प्रवृत्तियों का महत्व भी समान रूप से रहा है।

21.5.1. स्व–मूल्यांकन : ग

प्रिय विद्यार्थियों ! इस अध्याय में रीतिकालीन प्रवृतियों का अध्ययन करने के उपरांत निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर सही या गलत चिह्न द्वारा देकर अभी तक प्राप्त ज्ञान का स्व–मूल्यांकन करें। यह मूल्यांकन आपके अध्ययन को सार्थक करेगा।

1. रीतिकाल का अधिकांश साहित्य सामंतों के संरक्षण में तथा सामंतों की प्रसन्नता और आत्मतुष्टि के लिए लिखा गया था। ( )
2. शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकाल में सर्वत्र प्रचुरता के साथ दृष्टि गोचर होती है। ( )
3. श्री कृष्ण की बाल और किशोर लीलाओं से अधिकांश रीतिकालीन भक्त कवि मुग्ध हैं। ( )
4. रीतिकालीन कवियों के काव्य में जहां तक मनोविज्ञान का अंश है, वे उस पर पूर्ण रूप से खरे नहीं उतरे हैं। ( )
5. ब्रजभाषा इस युग की प्रमुख साहित्यिक भाषा है। ( )
6. रीतिकाल में कवि–कर्म और आचार्य कर्म एक साथ चलते रहे। ( )
7. डॉ. टीकमसिंह तोमर ने अपने शोध प्रबन्ध 'हिन्दी वीर–काव्य' (1700–1900) में 80 वीर काव्यों की सूची प्रस्तुत की है। ( )
8. रीतिकालीन कवि प्रायः प्रकृति के प्रति तटस्थ नहीं थे। ( )
9. रीतिकालीन कवि द्वारा वर्णित समाज तथा उसके काव्य साहित्य ज्ञान पर पराश्रयिता की छाप नहीं है। ( )
10. प्रायः रीति कवि ने अपने काव्य में मध्यकालीन साहित्य की वर्णन शैली का आश्रय लिया है। ( )
11. रीतिकालीन मुक्त काव्य में दोहा, कवित्त और सवैया तीन छन्द विशेष रूप से अपनाए गये हैं, । ( )

21.6. सारांश :

इस अध्याय में हमने रीतिकालीन प्रमुख धाराओं का क्रमबद्ध परिचय प्राप्त किया तथा रीतिकालीन प्रमुख कवियों के साथ रीतिकालीन प्रमुख प्रवृत्तियों का भी विस्तारपूर्वक अध्ययन किया।

21.7. कठिन शब्द :

1. उत्तेजना – एक प्रकार का भावावेग
2. अभिहित – संबोधित
3. एकीकरण – दो या दो से अधिक व्यक्तियों या दलों आदि में मतैक्य स्थापित करने की क्रिया

4. आक्रान्त – ग्रस्त
5. प्रशस्ति – प्रशंसा
6. निर्वैयक्तिक –जो निज का न हो
7. प्रांजलता – सरलता

21.8. अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराओं पर प्रकाश डालिए।

2. रीतिकालीन रीतिबद्ध धारा का परिचय दीजिए।

3. रीतिकालीन प्रमुख कवियों के योगदान पर प्रकाश डालिए।

4. रीतिकालीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण कीजिए।

21.9 उत्तर कुंजी

स्व–मूल्यांकन (क) 1. तीन 2. केशव 3. रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त 4. घनानन्द 5. मतिराम।

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. शृंगारिकता 2. शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रछाल 3. हिन्दी काव्यशास्त्र 4. नीति सम्बन्धी 5. 713

स्व–मूल्यांकन (ख) 1. सही 2. सही 3. सही 4. गलत 5. सही 6. सही 7. गलत 8. गलत 9. गलत 10. सही 11. सही

21.10. पठनीय पुस्तकें

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 1929
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य संवेदना और विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1978
3. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाणी प्रकाशन, 1985
4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, 2012
5. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 6 – 2012
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, Generic, संस्करण 11वां – 2013
7. सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, सह सम्पादक डॉ. हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, Mayur Books, प्रथम संस्करण – 2018